एकाभ्यर्थना

श्रीमद्भगवद्गीताया इदं श्रीभगवद्भाष्य परमविवेकैकमहाधनानां तत्त्वनिरूपणसमादरप्रणयिनां मत्सरमत्स्यदुर्गन्धगन्धविरहितानां परमसमर्हणीयानामपश्चिमविपश्चितां करकमलयोः सबहुमानं निधानं तत्त्वचिन्तामणेः समर्प्यते परमादरेण निर्दरेण मया । अत्र स्वातन्त्र्येण मया श्रीभगवद्वचननिर्वचनाय महतो देवस्य सत्यस्य परिगवेषणाय च यथाशक्यं प्रयासो व्यधायि । यद्यपि बहूनामनुदाराणां परमोदारकोपाणां केषांचित्कोपभाजनमहं भवेयमिति तु निश्चप्रचं तथापि मन्ये सर्वशास्त्रमहोदधिविलोडनचतुरचणानामवश्यमत्र पीयूषनिर्झरिणी दृष्टिर्मया निरूपितं सत्त्वतत्त्वनिचयं विधास्यत्येव निर्जरसं निर्भरं चेति । सन्त्येवात्र बह्वोक्षरत्रुटयः परमवकाशाभावेन नापारि मया शुद्धाशुद्धनिदर्शनपत्रं निवेशयितुमिति सप्रश्रयं विदुषः क्षमां याचमान उपतिष्ठेहम् ।

अत्र ग्रन्थे श्रीगीतायाः प्रथममेव षट्कं विवृतं भवति । यथावकाशं यथावसरं चावशिष्टे अपि द्वे षट्के अनयैव रीत्या विवृत्योपहरिष्यामि सपर्ययिष्यामि च विदुषां मनोदेवम् ।

विदुषामाश्रवः

भगवदाचार्यः

राजनगर सोसाइटी
अहमदाबाद ७
२५–११–१९५६ ई०

किञ्चिदावश्यकम्

स्खलनं मनुष्याणां दूषणमपि भूषणं चापि । दूषणं मत्वा प्रार्थये भगवद्भाष्ये प्रमादतो जातास्त्रुटीरुद्दिश्य किञ्चित् । पत्रपरिवर्तनं कुर्वतो मे दृष्टिर्गृहीतवती कांश्चनात्र त्रुटीः । यथा १०७ पृष्ठे प्रकृतेः क्रियमाणा- नीत्यस्य भाष्ये द्वितीयस्यां पङ्क्तौ '''स्थूलदेहानां चेहेत्यस्याग्रे जनकस्येति- पदस्यानुपस्थितेः । तत्रैवं पठितव्यं—'किन्त्वपञ्चीकृतभूतोद्भूतेन्द्रियाणां पञ्चीकृतभूतोद्भूतस्थूलदेहानां चेह जनकस्य प्रकृतिग्रहणेन ग्रहणम् ।' एवं १५ पृष्ठे 'निमित्तानि च पश्यामी' त्यस्य भाष्येऽन्तिमायां पङ्क्तौ...मधि- तिष्ठितामित्यस्य स्थाने मधितिष्ठतामितिपठितव्यम् । एवमन्यत्रापि विद्वद्भिर्महानुभावैः परिशोध्य विविच्य च पठनीयमिति भूयो भूयो विनिवेद- यामीति ।

विदुषामाश्रवः

भगवदाचार्यः



प्रस्थानत्रयीभाष्यकार—सामसंस्कारभाष्यकार

परमहंसपरिव्राजक स्वामी भगवदाचार्यजी महाराज प्रणीत

श्रीभगवद्गीता-तत्त्व-विमर्श

पारुष्यं चापि वैमत्यं निबद्धं दृश्यतेत्र चेत्।
क्षाम्यन्त्वादिममुद्दिश्य द्वितीयं भगवान् महान् ॥१॥

जयत्येव सदा सत्यमिति विश्वस्य सर्वथा।
सहिष्येहं तिरस्कारं पुरस्कारं च सद्धियाम् ॥२॥

महाकारुण्यरत्नाब्धे भगवन् भगवानसि।
अहं भगवदाचार्यः कस्ततः कलहोस्तु नौ ॥ ३ ॥

सत्यं मनसि मे वाचि सत्यमेव प्रतिष्ठते।
ततः सत्येन त्वां सत्यं पूजयामि पुनः पुनः ॥४ ॥

मयि प्रसीद भगवन् निषीद हृदये मम।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तमेतत्परमपूरुष ॥ ५ ॥

गीताके सम्बन्धमें दो ही बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि महभारतयुद्ध वास्तविक घटना है, उसके पात्र वास्तविक

हैं और महाभारतमें लिखी गयी हुईं छोटी बड़ी सभी घटनाएं सत्य हैं और तब श्रीकृष्ण भी सत्य हैं। दूसरी बात यह कही जा सकती है कि महाभारत ग्रन्थ कल्पित घटनाओं तथा तत्कालीन दन्तकथाओं-का एक संग्रहमात्र है। तब श्रीकृष्ण भी कल्पित पात्र हैं। महाभारत-के लिये कोई तीसरी बात नहीं कही जा सकती है। हां यह भी कह सकते हैं कि सत्यघटनाओंमें असत्य और काल्पनिक घटनाओं का भी संमिश्रण है।

भगवद्गीता महाभारतका ही एक अङ्ग है। अतः जो कुछ महाभारतके लिये कहा और माना जायगा, वह श्रीगीताको भी लागू होगा। यदि पहली बात मान ली जाय तो गीताका विचार निम्नलिखित प्रकारसे किया जा सकेगा।

भगवद्गीताका उत्थान अर्जुनके व्यामोहसे होता है। उसके व्यामोहमें जो स्पष्ट कारण देखे जाते हैं वे निम्नलिखित हैं—

अर्जुन प्राचीनतन्त्रवादी हृदयका स्वामी है। उसमें भक्ति है, श्रद्धा है, प्रेम है, विवेक भी है। सबसे अधिक वह श्रद्धालु है। इसी लिये जब धृतराष्ट्रने संजयको पाण्डवोंके पास भेजा था तब संजयके प्रवचनका अर्जुनपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। पश्चात् युद्धकालमें श्रीकृष्ण भी अपने प्रवचनोंसे उसे अपनी ओर आकृष्ट कर सके थे। उसकी श्रद्धाने ही उसके व्यामोहको जन्म दिया था। उसे कुलस्त्रियोंमें पापप्रवेशका महान् भय था। वर्णसङ्कर सन्तानके उत्पन्न होनेसे उसे पितरोंके भूखे-प्यासे पतित हो जानेकी चिन्ता थी। किसी भी कारणसे गुरुजनोंके वधमें उसे महापातकका आभास होता था। उसके व्यामोहके ये ही तीन कारण हैं। पाण्डवसेना न्यून है या निर्बल है, इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं है। यद्यपि

हम जीतेंगे या कौरव जीतेंगे उसे यह विचार आया था; परन्तु निर्बलताकी दृष्टिसे यह विचार नहीं ही उत्पन्न हुआ था। यदि निर्बलता ही इस विचारमें कारण होती तो वह **'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः** (२।६) ऐसा कभी न कहता। वह तो इतना ही कहता कि हमारी सेना कम है, हमारा पक्ष निर्बल है, हम पराजित हो जायंगे। परन्तु वह यह जानता हुआ भी कि हमारी सेना न्यून है, अतिन्यून है—और कौरवसेना बहुसंख्य है तो भी वह यही कहता है कि—पता नहीं, वह जीतेंगे या हम जीतेंगे। अतः सेनाके बलाबलके विचारसे वह कभी भी व्याकुल नहीं हुआ है यह तो अत्यन्त स्पष्ट है।

अब स्पष्ट यह हुआ कि श्रीकृष्णको विचार करनेकेलिये केवल तीन ही विषय हैं—चौथा नहीं। उन्हें फिरसे स्मृत कर लें—

(१) गुरुजनों, स्वजनोंके वधसे पाप होगा।

(२) क्षत्रियोंके वधसे स्त्रियां वैधव्यभारको दूर करनेकेलिये अनुचित मार्गमें प्रयाण करेंगी।

(३) वर्णसंकर सन्तानोंकी उत्पत्तिसे पितर पिण्डोदकके अभावमें पतित हो जायंगे।

इन तीन विषयोंपर ही कृष्णार्जुन-संवाद आश्रित है। श्रीकृष्णने संख्या २ और संख्या ३ का तो स्पर्श ही नहीं किया है। प्रथम संख्यापर ही उनका बहुत दीर्घकाय प्रवचन हुआ है। जिसका विचार मैं आगे चलकर करूँगा।

यहां पर यह अवान्तर विचार कर लेना बहुत आवश्यक है कि श्रीकृष्णने संख्या दो और संख्या तीनके विषयपर एक भी शब्दोच्चारण क्यों नहीं किया? इसका उत्तर इतना ही है कि पितरोंके सम्बन्धमें श्रीकृष्णके विचार अर्जुनके विचारसे टकराते थे। वह यह

हैं और महाभारतमें लिखी गयी हुई छोटी बड़ी सभी घटनाएं सत्य हैं और तब श्रीकृष्ण भी सत्य हैं। दूसरी बात यह कही जा सकती है कि महाभारत ग्रन्थ कल्पित घटनाओं तथा तत्कालीन दन्तकथाओं-का एक संग्रहमात्र है। तब श्रीकृष्ण भी कल्पित पात्र हैं। महाभारत-के लिये कोई तीसरी बात नहीं कही जा सकती है। हां यह भी कह सकते हैं कि सत्यघटनाओंमें असत्य और काल्पनिक घटनाओं का भी संमिश्रण है।

भगवद्गीता महाभारतका ही एक अङ्ग है। अतः जो कुछ महाभारतके लिये कहा और माना जायगा, वह श्रीगीताको भी लागू होगा। यदि पहली बात मान ली जाय तो गीताका विचार निम्नलिखित प्रकारसे किया जा सकेगा।

भगवद्गीताका उत्थान अर्जुनके व्यामोहसे होता है। उसके व्यामोहमें जो स्पष्ट कारण देखे जाते हैं वे निम्नलिखित हैं—

अर्जुन प्राचीनतन्त्रवादी हृदयका स्वामी है। उसमें भक्ति है, श्रद्धा है, प्रेम है, विवेक भी है। सबसे अधिक वह श्रद्धालु है। इसी लिये जब धृतराष्ट्रने संजयको पाण्डवोंके पास भेजा था तब संजयके प्रवचनका अर्जुनपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। पश्चात् युद्धकालमें श्रीकृष्ण भी अपने प्रवचनोंसे उसे अपनी ओर आकृष्ट कर सके थे। उसकी श्रद्धाने ही उसके व्यामोहको जन्म दिया था। उसे कुलस्त्रियोंमें पापप्रवेशका महान् भय था। वर्णसङ्कर सन्तानके उत्पन्न होनेसे उसे पितरोंके भूखे-प्यासे पतित हो जानेकी चिन्ता थी। किसी भी कारणसे गुरुजनोंके वधमें उसे महापातकका आभास होता था। उसके व्यामोहके ये ही तीन कारण हैं। पाण्डवसेना न्यून है या निर्बल है, इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं है। यद्यपि

हम जीतेंगे या कौरव जीतेंगे उसे यह विचार आया था; परन्तु निर्बलताकी दृष्टिसे यह विचार नहीं ही उत्पन्न हुआ था। यदि निर्बलता ही इस विचारमें कारण होती तो वह **'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः** (२।६) ऐसा कभी न कहता। वह तो इतना ही कहता कि हमारी सेना कम है, हमारा पक्ष निर्बल है, हम पराजित हो जायंगे। परन्तु वह यह जानता हुआ भी कि हमारी सेना न्यून है, अतिन्यून है—और कौरवसेना बहुसंख्य है तो भी वह यही कहता है कि—पता नहीं, वह जीतेंगे या हम जीतेंगे। अतः सेनाके बलाबलके विचारसे वह कभी भी व्याकुल नहीं हुआ है यह तो अत्यन्त स्पष्ट है।

अब स्पष्ट यह हुआ कि श्रीकृष्णको विचार करनेकेलिये केवल तीन ही विषय हैं—चौथा नहीं। उन्हें फिरसे स्मृत कर लें—

(१) गुरुजनों, स्वजनोंके वधसे पाप होगा।

(२) क्षत्रियोंके वधसे स्त्रियां वैधव्यभारको दूर करनेकेलिये अनुचित मार्गमें प्रयाण करेंगी।

(३) वर्णसंकर सन्तानोंकी उत्पत्तिसे पितर पिण्डोदकके अभावमें पतित हो जायंगे।

इन तीन विषयोंपर ही कृष्णार्जुन-संवाद आश्रित है। श्रीकृष्णने संख्या २ और संख्या ३ का तो स्पर्श ही नहीं किया है। प्रथम संख्यापर ही उनका बहुत दीर्घकाय प्रवचन हुआ है। जिसका विचार मैं आगे चलकर करूँगा।

यहां पर यह अवान्तर विचार कर लेना बहुत आवश्यक है कि श्रीकृष्णने संख्या दो और संख्या तीनके विषयपर एक भी शब्दोच्चारण क्यों नहीं किया? इसका उत्तर इतना ही है कि पितरोंके सम्बन्धमें श्रीकृष्णके विचार अर्जुनके विचारसे टकराते थे। वह यह

मानते हुए नहीं प्रतीत हो रहे हैं कि किसी भी मृत पूर्वजकेलिये पिण्डो दक आवश्यक है। श्रीकृष्ण सिद्धान्तके रूपमें पुनर्जन्म मान ही नह रहे हैं। वह या तो स्वर्ग-प्राप्ति मानते हैं। या नरकप्राप्ति मानते है **'शुचीनां श्रीमतां गेहे'**(६।४१)**'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्"** (६।४२)इन दो श्लोकोंसे आपाततः यह प्रतीत हो जाता कि भगवान् कृष्ण पुनर्जन्म मानते थे। परन्तु इस प्रतीतिका खण्डन **'एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्'** (६।४२) से ही हो जात है। योगभ्रष्ट शुचि, श्रीमान्‌के गृहमें अथवा बुद्धियोगसम्पन्न योगीके कुलमें ही जन्म लेता है, यह दुर्लभतर वस्तु है, ऐसा कृष्णजीने कह है। इसका अर्थ यही है कि कर्मयोगी केवल स्वर्गाधिकारी है या तो केवल मोक्षाधिकारी है। उसका पुनर्जन्म दुर्लभ है। इसी लिये तो द्वितीया-ध्यायमें यह पहले ही कह दिया गया है कि—

नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥२।४०॥

भगवान्‌के इस स्थिर सिद्धान्तको सामने रखने पर अर्जुनकी इस शङ्काके लिये कोई अवसर ही नहीं रह जाता कि—

'अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति'।६।३७॥

अतः संख्या दो और संख्या तीन पर विचार करना उन्हें बहुत अनावश्यक प्रतीत हुआ है। यह अनावश्यकता अर्जुनके मनमें भी स्थिरता पा चुकी थी अत एव उसने पुनः कहीं भी गीतामें संख्या दो और तीनके विषयको विचारकेलिये उठाया ही नहीं है।

तब यह निश्चित हुआ कि कृष्ण और अर्जुनका मुख्य विचारणीय विषय यही था कि "गुरुजनों और स्वजनोंके वधसे पाप होगा या नहीं?" इस विचारकेलिये गीताका द्वितीयाध्याय ही

पर्याप्त है। अर्जुनके समस्त विचारोंपर श्रीकृष्णने अपनी बुद्धि और विचारके अनुसार प्रकाश डालनेका पूर्ण प्रयत्न किया है। द्वितीय अध्यायके अतिरिक्त किसी भी अध्यायसे अर्जुनके उपर्युक्त प्रश्नका कोई सम्बन्ध नहीं हो रहा है। यदि ग्रन्थकी कायवृद्धि ही अभीष्ट हो तो षष्ठाध्यायसे आगे बढ़नेमें तनिक भी औचित्य नहीं है। ग्रन्थ बढ़ानेकेलिये ही तो कृष्णके उत्तरस्वरूप पांच अध्यायोंमें अनेक श्लोक या तो निरर्थक हैं और या तो द्विरावृत्त हैं।

अब दूसरे पक्ष पर आ जायँ। यदि यह मान लिया जाय कि महाभारत ग्रन्थ कल्पित घटनाओं तथा तत्कालीन दन्तकथाओंका संग्रहमात्र है तो गीताका समस्त माहात्म्य धराशायी बन जाता है। परन्तु इस पक्षमें गीताके अठारहों अध्यायोंकेलिये अवकाश प्राप्त हो जाता है। क्योंकि चाहे जितनी भी कल्पनाओंकी भित्ति खड़ी करनेमें अथवा दन्तकथाओंको जीवित रखनेके प्रयासमें कोई मनुष्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता। मैं इस द्वितीय पक्षको न मानकर प्रथम पक्षमें ही स्थिर रहना अच्छा समझता हूँ। इसी प्रथम मतके आश्रयसे अब मैं गीतापर दूसरी दृष्टिसे विचार करता हूं।

भगवान् कृष्ण क्या थे ?

(१) भगवान् कृष्ण एक महान् आत्मा थे। वह अपनेसे भिन्न किसी ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानते थे। अर्थात् वह स्वयम् अनीश्वरवादी थे। परन्तु उन्होंने एक सिद्धान्त बना लिया था कि गूढ़ और अगम्य तत्त्व सामान्यजनतामें प्रचरित नहीं होना चाहिये। अतः वह अर्जुन जैसे श्रद्धालुओंको ईश्वरकी भक्तिकी भी बात किया करते थे। परन्तु अपनेसे भिन्न किसी भी ईश्वरकी ओर अर्जुनको वह जाने देना नहीं चाहते थे। इसीलिये जगत् की सृष्टि और प्रलयका

मानते हुए नहीं प्रतीत हो रहे हैं कि किसी भी मृत पूर्वजकेलिये पिण्डोदक आवश्यक है। श्रीकृष्ण सिद्धान्तके रूपमें पुनर्जन्म मान ही नहीं रहे हैं। वह या तो स्वर्ग-प्राप्ति मानते हैं। या नरकप्राप्ति मानते है। **'शुचीनां श्रीमतां गेहे'**(६।४१)**'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्"** (६।४२)इन दो श्लोकोंसे आपाततः यह प्रतीत हो जाता है कि भगवान् कृष्ण पुनर्जन्म मानते थे। परन्तु इस प्रतीतिका खण्डन **'एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्'** (६।४२) से ही हो जाता है। योगभ्रष्ट शुचि, श्रीमान्के गृहमें अथवा बुद्धियोगसम्पन्न योगीके कुलमें ही जन्म लेता है, यह दुर्लभतर वस्तु है, ऐसा कृष्णजीने कहा है। इसका अर्थ यही है कि कर्मयोगी केवल स्वर्गाधिकारी है या तो केवल मोक्षाधिकारी है। उसका पुनर्जन्म दुर्लभ है। इसी लिये तो द्वितीयाध्यायमें यह पहले ही कह दिया गया है कि—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥२।४०॥

भगवान्के इस स्थिर सिद्धान्तको सामने रखने पर अर्जुनकी इस शङ्काके लिये कोई अवसर ही नहीं रह जाता कि—

'अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति'।६।३७॥

अतः संख्या दो और संख्या तीन पर विचार करना उन्हें बहुत अनावश्यक प्रतीत हुआ है। यह अनावश्यकता अर्जुनके मनमें भी स्थिरता पा चुकी थी अत एव उसने पुनः कहीं भी गीतामें संख्या दो और तीनके विषयको विचारकेलिये उठाया ही नहीं है।

तब यह निश्चित हुआ कि कृष्ण और अर्जुनका मुख्य विचारणीय विषय यही था कि "गुरुजनों और स्वजनोंके वधसे पाप होगा या नहीं?" इस विचारकेलिये गीताका द्वितीयाध्याय ही

पर्याप्त है। अर्जुनके समस्त विचारोंपर श्रीकृष्णने अपनी बुद्धि और विचारके अनुसार प्रकाश डालनेका पूर्ण प्रयत्न किया है। द्वितीय अध्यायके अतिरिक्त किसी भी अध्यायसे अर्जुनके उपर्युक्त प्रश्नका कोई सम्बन्ध नहीं हो रहा है। यदि ग्रन्थकी कायवृद्धि ही अभीष्ट हो तो षष्ठाध्यायसे आगे बढ़नेमें तनिक भी औचित्य नहीं है। ग्रन्थ बढ़ानेकेलिये ही तो कृष्णके उत्तरस्वरूप पांच अध्यायोंमें अनेक श्लोक या तो निरर्थक हैं और या तो द्विरावृत्त हैं।

अब दूसरे पक्ष पर आ जायँ। यदि यह मान लिया जाय कि महाभारत ग्रन्थ कल्पित घटनाओं तथा तत्कालीन दन्तकथाओंका संग्रहमात्र है तो गीताका समस्त माहात्म्य धराशायी बन जाता है। परन्तु इस पक्षमें गीताके अठारहों अध्यायोंकेलिये अवकाश प्राप्त हो जाता है। क्योंकि चाहे जितनी भी कल्पनाओंकी भित्ति खड़ी करनेमें अथवा दन्तकथाओंको जीवित रखनेके प्रयासमें कोई मनुष्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता। मैं इस द्वितीय पक्षको न मानकर प्रथम पक्षमें ही स्थिर रहना अच्छा समझता हूँ। इसी प्रथम मतके आश्रयसे अब मैं गीतापर दूसरी दृष्टिसे विचार करता हूं।

भगवान् कृष्ण क्या थे ?

(१) भगवान् कृष्ण एक महान् आत्मा थे। वह अपनेसे भिन्न किसी ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानते थे। अर्थात् वह स्वयम् अनीश्वरवादी थे। परन्तु उन्होंने एक सिद्धान्त बना लिया था कि गूढ़ और अगम्य तत्त्व सामान्यजनतामें प्रचरित नहीं होना चाहिये। अतः वह अर्जुन जैसे श्रद्धालुओंको ईश्वरकी भक्तिकी भी बात किया करते थे। परन्तु अपनेसे भिन्न किसी भी ईश्वरकी ओर अर्जुनको वह जाने देना नहीं चाहते थे। इसीलिये जगत् की सृष्टि और प्रलयका

समस्त भार उन्होंने अपने सिर पर ले लिया था। चातुवर्ण्यका स्रष्टा भी वह अपनेको ही मानते थे। धर्मका संस्थापक अधर्मियोंका विनाशक भी अपनेको ही मानते थे। गीताके तृतीयाध्यायसे उन्होंने अपने ब्रह्मत्वका-ईश्वरत्वका पटह-प्रणाद प्रारब्ध किया है, वह अष्टादशाध्यायके अन्त तक पहुँचा है। बहुत बड़ा आश्चर्य तो यह है कि जैसे अर्जुनने पूछा लिया कि "आपका जन्म तो अभी हुआ है तब आप यह कैसे कहते है कि मैंने इस कर्मयोगका उपदेश विवस्वान् को किया था?" ऐसे ही वह कहीं पर भी नहीं पूछ सका कि "आप तो हमारे जैसे ही मनुष्य हैं, दो दो हाथ पैर वाले हैं, आपके भी माता-पिता हैं, आपका भी जन्म हुआ है, तब आप अपनेको स्वतन्त्र ईश्वर और जगत्का कर्ता—भर्ता—धर्ता आदि कैसे मानते हैं?" अर्जुनकी यह अपृच्छा विवेकी और विचारकको इस सिद्धान्तपर जानेकेलिये विवश बनाती है कि युद्धभूमिकी गायी गयी गीता केवल द्वितीयाध्यायात्मिका ही है। अन्य अध्याय पीछेके किसी या किन्हीं' विद्वानोंकी कृति है। परन्तु इन अध्यायोंकी भी प्राचीनता है, कुछ संगति है, कुछ प्रणालिका है।

"आप अपनेको जगन्नाथ कैसे मानते हैं?" अर्जुनका यह प्रश्नाभाव ही कृष्णकी ईश्वरताको केवल सन्दिग्ध नहीं बनाता है प्रत्युत समूल विनाशकी ओर फेंक देता है। यदि यह कहें कि वह प्रथमसे ही जानता था कि श्रीकृष्ण ईश्वर या ईश्वरावतार हैं तो यह कथन सर्वथा निर्मूल सिद्ध होगा। यदि अर्जुनको विश्वास होता—ज्ञान होता कि यह कृष्ण साक्षात् परमात्मा ही हैं तो न तो भगवान्को आवश्यकता होती अर्जुनको दिव्यदृष्टि देनेकी (११।८) और न अर्जुनको आवश्यकता होती कृष्णसे अपने अविनयोंके लिये क्षमा-प्रार्थना करने की।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं,
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं,
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोसि,
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोथवाप्यच्युत तत्समक्षं,
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥
(११।४१–४२)

अतः गीताके दशम अध्यायकी कृष्णविभूतियां और एकादश अध्यायका विराट्स्वरूपदर्शन सर्वथा काल्पनिक है ।

वह जैसे अपने को ही ईश्वर मानते थे, वैसे ही उनकी इच्छा यह भी थी कि सभी लोग अपनेको ईश्वर मानें । इसका तात्पर्य इतना ही था कि ईश्वरके झंझटसे प्रजा अलग हो जाय । इसीलिये उन्होंने अर्जुनसे कहा कि—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥२।५२॥

(२) भगवान् कृष्णका वेदोंमें विश्वास नहीं था । इसका कारण यह था कि वेदोंका निर्माण कृष्णके कालसे कुछ ही पूर्वकालमें हुआ था । वेदोंका पूर्णतया प्रचार उस समय तक नहीं हो पाया था । महाभारतमें जहां जहां प्रमाणचर्चा आती है प्रायः सर्वत्र सांख्यका नाम प्रथम आता है । यही सिद्ध करता है कि उस

समयतक वेद सार्वभौम ग्रन्थ या ज्ञान नहीं बन सके थे। यदि व्यासने अपने वेदान्तदर्शनमें सांख्यके खण्डनमें सर्वाधिक प्रयास किया है तो केवल वेदप्रतिष्ठास्थापनकेलिये ही। जब तक एक प्रतिष्ठित वस्तु, व्यक्ति, सिद्धान्तकी प्रतिष्ठाका उन्मूलन न हो जाय तबतक दूसरी वस्तु, दूसरी व्यक्ति, दूसरा सिद्धान्त प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

भगवान्‌ने द्वितीयाध्यायमें **"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः"** इत्यादि कहकर वेदविषयिणी श्रद्धापर बड़ा भारी प्रहार किया है। वेदोंके अर्थवादवचनोंपर विश्वास करनेवालोंको अविपश्चित्—मूर्ख कह दिया है। भगवान्‌के समयमें विदित होता है कि ब्राह्मणग्रन्थोंका पुष्कल प्रचार हो चुका था। वैदिक हिंसामें या अवैदिक हिंसामें भी उनका कोई विश्वास स्थिर नहीं था। अमुक यज्ञसे स्वर्ग मिलेगा, अमुक यज्ञसे राज्य मिलेगा, अमुक यज्ञसे पुत्र मिलेगा, अमुक यज्ञसे वृष्टि होगी इत्यादि बातोंको वह सर्वथा प्रलोभनवाक्य ही मानते थे। **श्रुतिविप्रतिपन्ना ते**(२।५३) से पुनः श्रुतिका तिरस्कार ही हुआ है। **'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते"** (४।२३)इस श्लोकमें यज्ञशब्दसे वैदिक यागका ग्रहण नहीं ही हो सकता; क्योंकि भगवान्‌की यागादिमें कोई श्रद्धा ही नहीं है। **"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्'**(४।२४) इस श्लोकसे भी वैदिक यज्ञका कोई सम्बन्ध नहीं है अन्तमें तो स्पष्ट ही कह दिया कि—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

इस श्लोकसे ज्ञानप्राप्तिकेलिये गुरुशुश्रूषाका आदेश करते हुए भगवान् कर्म-यागादि कर्मोंको निकृष्ट बता रहे हैं। **सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि**" (४।३६) **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा**' (४।३७) '**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**' (४।३८) '**श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्**' (४।३९) इत्यादि वचनोंसे भगवान् ज्ञानका ही अर्थात् अपने बुद्धियोगका ही उत्कर्ष सिद्ध कर रहे हैं। "वेदकी यह आज्ञा है, ऐसा ही कर", ऐसा भगवान्ने कहीं पर भी नहीं कहा है। '**यावानर्थ उदपाने**' (२।४६) इस श्लोकमें '**ब्राह्मणस्य विजानतः** (२।४६) कहकर अज्ञानी लोगोंके लिये ही समस्त-वेदानुगमन कहा है। विद्वानोंके लिये तो कहा है कि वेदोंमेंसे वही और उतना ही वस्तु लो जितनेकी आवश्यकता हो। अतः भगवान् कृष्णकी वेदोंपर न तो कोई ममता है और न वह उसकी महत्ताके नीचे दबे हुए हैं। जैसा व्यासने कहा कि '**वेदप्रणिहितो धर्मोधर्मस्तद्विपर्ययः** ।' वैसा श्रीकृष्ण कहीं भी नहीं कह रहे हैं। "**नाहं वेदैर्न तपसा**" (११।५३) से भी कृष्ण वेदोंकी अनावश्यकताकी ओर संकेत कर रहे हैं। अतः स्पष्ट सिद्ध है कि उनके मनमें वेदोंकेलिये या वेदानुयायीकेलिये कोई विशिष्ट आदर नहीं है।

वह उपनिषदोंके अनुयायी जैसे प्रतीत तो होते हैं परन्तु संभव है कि मूल गीतामें उपनिषदनुसरण न भी हो। आरम्भके छह अध्याय-पर्यन्त गीतामें आत्मकल्याणके लिये बाह्य किसी भी उपायका निरूपण नहीं है। आत्माको अपना कल्याण अपने आप ही करना होगा। यही स्वर प्रथम षट्कमें निर्विवादरूपसे श्रुत हो रहा है। कर्मयोगका उपदेश तो सामाजिक और सामूहिक है। वह सर्वकल्याणोपयोगी

है । उसमें न किसी देवका प्रवेश है और न कोई पूजा पाठ या शरणागतिका मार्ग है । वह विशुद्ध स्वावलम्बन-मार्ग है । यही उपनिषदोंका पन्था है । आत्मश्रेयकेलिये उपनिषद् बाह्य उपायोंका न तो स्वीकार करती हैं और न उपदेश । श्रीकृष्णने भी यही किया है । अर्चिरादिमार्गोंका भी .गीतामें निरूपण उपनिषदनुसारी है । यद्यपि अर्चिरादिमार्ग अवैज्ञानिक और निरर्थक है । तथापि गीतामें उसके लिये स्थान है । अतः गीता दार्शनिक ग्रन्थ मिटकर अन्धानुकारिणी बन जाती है । उपनिषदोंका अर्चिरादिमार्ग और पुनर्जन्मका क्रम बहुत ही हास्यास्पद है । उसमें किसी भी तार्किक और बुद्धिशालीकी हार्दिक सहानुभूति हो ही नहीं सकती । जिस किसी विद्वान्‌ने इस विषयपर मौनावलम्बन किया है वह तो उपनिषदोंके प्रति अपने आदरभावका विद्योतनमात्र किया है ।

भगवान् कृष्णको उपनिषदोंके प्रति कोई आदरभाव था ऐसा प्रतीत नहीं हो रहा है । उपनिषदोंके त्याग और अहिंसाके सामने तो कृष्णने बलवा पैदा किया है । यदि उन्हें उपनिषदोंके प्रति थोड़ा भी आदर होता तो सत्य, अहिंसा, त्याग आदिकी निर्मम हिंसा करनेके लिये वह अर्जुनको कभी भी उत्साहित न करते । ऐसे कोमल प्रसङ्ग में उन्होंने अपने मनोबलका उपयोग न करके बुद्धिबलका उपयोग किया है, यही सूचना करता है कि उन्हें उपनिषदोंके लिये कोई विशिष्ट आदर नहीं था । अत एव **'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते'**(२।५३) यह वचन उपनिषदोंके लिये भी लागू पड़ता ही है । **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' 'सत्यं वद धर्मं चर'** इत्यादि औपनिषद उपदेशोंकी स्पष्ट अवहेलना भगवान् कृष्णने की है ।

भगवान् कृष्णका अपना कोई नियत मत था ही नहीं। अतः वह कहीं उपनिषदोंके मतका संग्रह और प्रतिपादन करते हैं, कहीं अद्वैत मतका पोषण करते हैं, कहीं एकात्मवादको झलकाते हैं, कहीं अनेकात्मवादका समर्थन करते हैं, कहीं देहात्मवादको कह जाते हैं। कहीं ज्ञानसे मुक्ति बताते हैं, कहीं कर्मसे मुक्तिका प्रत्यायन कराते हैं। कहीं भक्तिको महत्त्वपूर्ण स्थान दे देते हैं। कहीं भूत-प्रेत-पिशाच-पितर आदि की पूजाका भी निर्देश कर जाते हैं। कहीं सांख्यसिद्धान्तका भी समर्थन करते हैं तो कहीं योगमार्गमें भी प्रविष्ट हो जाते हैं। यह है भगवान्की बहुमुखी तत्त्वचिन्ता। उनका आशय किसी मतका समर्थन करना नहीं था। वह केवल तत्कालीन प्रचलित सभी मतोंका आश्रय लेकर अर्जुनको युद्धारूढ बनाना चाहते थे, जिसमें वह सफल हुए थे। इसीलिये हम देखते हैं कि अर्जुन न तो वैष्णव बना है, न शैव बना है, न शाक्त बना है, न वह भक्त बना है, न ज्ञानी बना है। उसके जीवनमें कोई परिवर्तन कृष्ण नहीं ला सके थे। करुणावश वह युद्धसे पृथक् रहनेका एक अस्थायी संकल्प जैसा कर सका था, उसीको कृष्ण हटा सके थे। अवशिष्ट उसके सभी गुण-दुर्गुण उससे चिपटे हुए ही रह गये थे। उन सबका दर्शन उस समय होता है जब महाराज युधिष्ठर राज्य और राज्यभोगसे घबड़ाकर वैराग्यकी बातें करते हैं और अर्जुन उन्हें समझाता है। उस समय तो आश्चर्य होता है कि कृष्णभक्त और कृष्णसख अर्जुनकी ऐसी निकृष्ट मानस-स्थिति है! इन सब विषयोंके निरूपणकेलिये यह योग्य स्थान नहीं है। महाभारतके अनुशीलनसे मेरे कथनकी यथार्थता अवश्य ही जानी जा सकती है।

योग, कर्मयोग, बुद्धियोग

गीतामें योग, कर्मयोग, बुद्धियोग ये तीनों शब्द भरे पडे हैं। सामान्य बुद्धिके लोग केवल योगशब्द देखकर पातञ्जल योग-की ओर झुक जाते हैं। उन्हें यह विचार ही नहीं होता कि युद्धकाल-में अर्जुनको प्राणायाम और धारणा-ध्यानकी ओर श्रीकृष्ण कैसे ले जा सकते थे ? वहां उस समय यमके पालनका अवकाश कैसे मिल सकता था ? और उसकी उपयोगिता क्या थी ? इसका विचार सामान्य गीतापाठी या गीताभ्यास कर ही नहीं पाते। गीतामें **योग** शब्दकी व्याख्या श्रीकृष्णने स्वमुखसे दो स्थलोंपर की हैं। दोनों-के स्वरूपमें अन्तर भी है। एक व्याख्या हैं—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** (२।५०) और दूसरी व्याख्या है **सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते"**(२।४८)। भगवान्ने कहाकि **"योगस्थः कुरु कर्माणि"** (२।४८)योगस्थ होकर कर्मोंको कर। प्रश्न हुआ कि योगशब्दसे आपका क्या तात्पर्य है ? तब भगवान्ने स्पष्टीकरण किया कि **कर्मों में कौशल अर्थात् कुशलभाव ही योग है।** कर्मोंमें कुशलता ही कर्मयोग है। आलस्य, प्रमाद, दीर्घसूत्रिता आदि दोषों-का परित्याग करके निरलस होकर कर्मोंमें एकचित्तसे लगे रहनेका नाम है **कर्मयोग**। दूसरी व्याख्यामें कार्यसिद्धि तथा कार्यासिद्धि दोनों दशाओंमें प्रसाद-अवसादसे पृथक् रहनेका नाम ही कर्मयोग है। इसमें कर्मयोगका वास्तविक रहस्य बताया गया है। कर्म करना यह अपना कर्तव्य है। उसमें सिद्धि-सफलता या असिद्धि-असफलता ये दोनों समय, परिस्थिति, अपने प्रयत्न, पुरुषार्थ, बुद्धि आदि पर निर्भर हैं। सिद्धि, असिद्धि दोनोंके उत्पादक वर्तमानकाल और वर्तमानकालीन प्रयत्न हैं। प्रारब्ध—जिसका नाम रखा गया है

उसका सिद्धि-असिद्धिसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। प्रारब्धकी कल्पना बहुत ही निकृष्ट है और निकृष्टताकी ओर ले आनेवाली है। मनुष्य जातिने अपने आश्वासनकेलिये ईश्वर और प्रारब्धको मान रखा है परन्तु उसका उपयोग कभी भी वह नहीं कर पाती। एक उदाहरण है। आजकल्ह गुजरातमें महागुजरातका आन्दोलन चल रहा है। महागुजरातकी रचना होनेको ही थी, कि जन्मसे पूर्व ही मर गयी। द्विभाषी राज्य आया। गुजरातके कुछ लोगोंने विरुद्ध आन्दोलन खड़ा किया। जिसको तिसको दोषी गिनाया गया। गालियां दी गयीं। महामानवोंका अपमान किया गया। ये सब बातें ईश्वरविश्वास और प्रारब्धविश्वासके प्रतिकूल हैं। यदि ईश्वरमें किसीको भी विश्वास हो और यह भी विश्वास हो कि जो कुछ होता है, ईश्वरकी इच्छाके अनुरूप ही होता है और यदि यह भी विश्वास हो कि जो कुछ हमारे लिये होता है वह हमारे प्रारब्धके अनुसार ही होता है तब किसीको भी दोषी बनानेकेलिये कोई अवकाश ही नहीं है। मान ही लेना चाहिये कि हमारे लिये हमारे ईश्वरने हमारे पूर्वकर्मोंके लिये जिस फलका निश्चय किया था वही आज प्रारब्धके रूपमें उपस्थित है। विरुद्ध आन्दोलन तो ईश्वरके विरुद्ध आन्दोलन माना जाता है। ऐसे तो अनेक प्रसङ्ग आते हैं जिनमें हमें ईश्वरके विश्वासका छींटा भी नहीं दिखायी देता है तो भी ईश्वर और प्रारब्ध ये दोनों शब्द मानवीय जिह्वाके कन्दुक बन गये हैं। ये दोनों निस्सार वस्तु हैं। इसीलिये भगवान्‌को सिद्धि-असिद्धिमें समताधारणका उपदेश देना पड़ा। उन्होंने यह नहीं कहा कि अर्जुन, तेरे प्रारब्धमें जो होगा, वही तुझे मिलेगा। पाण्डवोंको भी विचार नहीं आया कि हमें राज्य नहीं मिल रहा है तो यह ईश्वरेच्छा ही है या हमारा प्रारब्ध-फल है।

पुरुषार्थ ही सूझा। पुरुषार्थने राज्य दिया—सुख दिया—शान्ति दी। यदि पुरुषार्थ प्रारब्धको मार सकता है तो प्रारब्ध अवश्य ही एक कल्पित वस्तु है। यथार्थतः उसका कोई स्वरूप ही नहीं है।

निष्काम

गीतामें भगवान्‌ने निष्कामशब्दका या इसके पर्यायशब्दोंका उपयोग बहुत किया है।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥३।७
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥३।१९॥
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥३।२५॥
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।३।३०॥
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः॥४।१९॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम् ॥४॥२०॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥४।२३॥
कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥५।७॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति य।
लिप्यते न स पापेन ॥५।१०॥
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥५।११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा ॥५।१२॥
अनाश्रितः कर्मफलम् ॥६।१॥
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥६।४॥

यहां विचार यह करना है कि क्या निष्काम कर्म, आसक्ति-हीन कर्म, काम-संकल्प-वर्जित कर्म फलेच्छारहित कर्म किये जा सकते हैं या नहीं? मेरा विचार है कि जैसे शशश्रृङ्ग, गगनकुसुम, मृगजल,

वन्ध्यापुत्र आदि शब्द हैं परन्तु उनके अर्थ नहीं हैं। ये चारों शब्द किसी वस्तुकी अशक्यताका द्योतन करनेके लिये ही प्रयुक्त होते आये हैं। इसी प्रकार निष्काम कर्म, आसक्तिरहित कर्म, कामसंकल्पादि वर्जित कर्म ये सब शब्द हैं परन्तु इनके अर्थ जगत्में नहीं हैं। कोई भी कर्म निष्कामभावसे किया ही नहीं जा सकता। काम अर्थात् इच्छा। कोई न कोई इच्छा कर्मकर्ताके मनमें रहती ही है। इच्छाके विना प्रयत्न हो ही नहीं सकता। एक आदमी चैत्रको कुछ दान देता है। उस आदमीको यह इच्छा भले न हो कि चैत्र उसका उपकार मानेगा अथवा समयपर वह उसका प्रत्युपकार करेगा; परन्तु यह इच्छा तो अवश्य है कि चैत्र सुखी रहे, सुखी बने। इसी इच्छाने दान करने की प्रेरणा दी थी। छात्र पढ़ता है, विद्वान् बननेकी इच्छासे। व्यापारी व्यापार करता है, धनार्जनकी इच्छासे। कोई स्नान करता है पवित्रता आर शान्तिकी इच्छासे। जलपान और भोजन किया जाता है तृषा और क्षुधाकी तृप्तिकी इच्छासे। जगत्में कोई ऐसा कर्म नहीं है जो इच्छाके विना, कामके विना किया जाय। श्रौत यज्ञादि सभी सकाम कर्म हैं। यदि उन्हें निष्काम करना हो तो करना ही व्यर्थ है। निरर्थक धनव्यय मूर्खता ही है। भगवान् कृष्णको श्रौतयाग इष्ट भी नहीं हैं अतः उन्हें निष्कामभावसे करनेकी वह आज्ञा भी नहीं कर सकते हैं। अतः निष्कामशब्दका अर्थ यदि कुछ भी हो सकता है तो लाक्षणिक अर्थ ही होगा और वह होगा पवित्रता अथवा निर्दोष। निष्कामका अर्थ है निर्दोष। कामका अर्थ इच्छा है। इच्छा भले बुरे सभी कर्मोंके लिये होती है। सत्कर्मके लिये जो इच्छा होती है उसमें भी कोई न कोई दोष रहता ही है। असत्कर्मकेलिये जो इच्छा होती है वह तो सदोष ही है। अतः **निष्कामका अर्थ केवल निर्दोष है।**

नैष्कर्म्य

वेदान्तमें अत्यन्त प्रसिद्ध शब्द **नैष्कर्म्य** है। गीताने भी इस शब्दका स्वीकार किया है। अतः विचार करना है कि इस शब्दका अर्थ क्या है और तात्पर्य क्या है? **न विद्यते कर्म यत्र तन्निष्कर्म**। अथवा, **निर्गतं स्वभावतः पृथग्भूतं तिष्ठति कर्म यस्मात् तन्निष्कर्म**। इस व्युत्पत्तिसे इस शब्दका अर्थ ब्रह्म हो सकता है। **निष्कर्मणो भावो नैष्कर्म्यम्** इस व्युत्पत्तिसे नैष्कर्म्यका अर्थ ब्रह्मभाव अथवा ब्रह्मत्व होता है। शंकराचार्यने नैष्कर्म्यका अर्थ कर्मशून्यता किया है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज और रामानन्दने इसका अर्थ ज्ञाननिष्ठा किया है। अब यह विचारना है कि ब्रह्मभाव, कर्मशून्यता और ज्ञाननिष्ठा इन तीन अर्थोंमेंसे भगवान् कृष्णको कोई अर्थ अभिमत है या नहीं? मैं समझता हूं कि यह निष्कर्म शब्द अकर्मके अर्थमें ही कृष्णने प्रयुक्त किया है। **कर्मण्यकर्म यः पश्येत्** (४।१८) में जो भाव अकर्मशब्दका है वही यहां पर निष्कर्म शब्दका भी प्रतीत होता है। यद्यपि निष्कर्मशब्दमें निर्के साथ कर्मशब्दका समास करनेसे **अकर्म** अर्थका निकलना कष्ट साध्य है तथापि अर्थ यही कृष्णाभिमत प्रतीत होता है। शङ्कराचार्यका **कर्मशून्यता** अर्थ भी अकर्मके ही समीप पहुँच जाता है। नैष्कर्म्यशब्द ज्ञाननिष्ठाको कहता है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। भगवान्को जीवब्रह्माभेद–ज्ञानसे अथवा जीवब्रह्मस्वरूप-ज्ञानसे अथवा **अहं ब्रह्मास्मि** इस औपनिषद ज्ञानसे जीवकी मुक्ति अभीष्ट नहीं है। **न हि ज्ञानेन सदृशम्** (४।३२) **उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्** (४।३४) इत्यादि स्थलोंमें ज्ञानका अर्थ न तो अभेद-

ज्ञान है और न स्वरूपज्ञान है। वहां तो द्वितीयाध्यायकी **व्यवसायात्मिका बुद्धि** (२।४१) **समत्वयोग** (२।४८) **बुद्धियोग** (२।४९, ५०, ५१) इत्यादि अर्थ ही ज्ञान शब्दसे अभिप्रेत हैं। भगवत्स्वरूपप्रापिका किसी ज्ञाननिष्ठाका भी यहां ग्रहण नहीं ही है। गीताका उत्थान भगवत्प्राप्तिके लिये नहीं ही हुआ है। उपक्रममें भगवत्प्राप्ति या मोक्षप्राप्तिका कोई विषय नहीं है। उपसंहारमें भी '**यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे** [१८।५९] इस श्लोकमें युद्धकी ही बात की गयी है। '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' [१८।६६] इस श्लोकसे भी युद्धकी ही बात की गयी है। भक्ति और मुक्तिका यहां कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवत्–शरणागतिका स्वीकार करनेवाला किसी पापमें प्रवृत्त होता ही नहीं है। जिसके सब पाप नष्ट हो चुके होते हैं वही भक्त भगवच्छरणागत होता है। तब '**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः** [१८।६६] यह आश्वासन व्यर्थ होता है। अतः यहां युद्धकी ही बात है। **शरणं व्रजका** अर्थ है अपनेको कृष्णके हाथमें सौंप देना। युद्ध करनेसे यदि पाप लगेगा भी तो मैं तुम्हें उन पापोंसे बचा लूंगा, यह आश्वासनमात्र है। अर्जुनको नरकयातनाका सहन करना पडा था और कृष्णका वहां पता भी नहीं था।

ज्ञानेन्द्रियोंको मनसे नियममें रख कर, असक्त होकर जो कर्म करता है (३।७) वही यहां पर निष्कर्मा शब्दसे अभिप्रेत है।

असक्त होकर कर्म करनेवाला ही [३।१९] निष्कर्मा कहा जाता है।

अविद्वान्के समान जो विद्वान् कर्म करता रहता है परन्तु कर्मोंमें सक्त नहीं होता [३।२५] वही निष्कर्मा कहा जाता है।

जिसके सभी कर्म काम–सङ्कल्प–वर्जित होते हैं (४।१९) वही निष्कर्मा कहा जाता है।

कर्मफलासक्तिका त्याग करके जो कर्मोंमें लगा रहता है (४।२०) वही निष्कर्मा कहा जाता है।

जिसने कर्मयोगमें लगे रहनेके कारण अन्य सांसारिक कर्मोंका त्याग कर दिया है, जिसे किसी प्रकारका सन्देह उपकार करनेमें नहीं रहा है ऐसे दृढ मनवालेको [४।४१] निष्कर्मा कहते हैं।

जो विशुद्धात्मा है, विजितात्मा है, जितेन्द्रिय है, सर्वभूतात्मभूतात्मा है और परोपकाररूप कर्ममें लगा रहता है (५।७) वही निष्कर्मा है।

गीताके ऐसे कितने ही बचन उपस्थित किये जा सकते हैं। अतः तात्पर्य यह है कि जो कर्मोंको करते रहने पर भी अपनेको निष्कर्मा या अकर्मा मानता है वही निष्कर्मा है। तथा फलासक्तिरहित किये गये कर्म निष्कर्म या अकर्म कह जाते हैं। निष्कर्माका भाव या निष्कर्मका भाव नैष्कर्म्य कहा जाता है। कर्मफलसम्बन्धराहित्यको नैष्कर्म्य समझना चाहिये। कृष्ण अर्जुनको न तो ब्रह्म बनाना चाहते थे, न भक्त बनाना चाहते थे और न मुक्त बनाना चाहते थे। अर्जुन भी यह सब बनना नहीं चाहता था। वह मानव था, महामानव बनना चाहता था। उसे युद्धकर्म और स्वजन–हिंसासे ग्लानि थी, इसी लिये वह धनुर्बाण फेंक कर रथोपस्थमें बैठ गया था।

कर्मकर्ता

सामान्य रीतिसे आर्यदर्शन इस तत्त्वका स्वीकार करते हैं कि कर्म करनेवाला जीव है और फलभोक्ता भी जीव है। जो जीव कर्म करता है उस कर्मका फल भी उसे ही प्राप्त होता है। भगवान् कृष्णके मतसे कर्मकर्ता जीव नहीं हैं प्रत्युत इन्द्रिय हैं अथवा अन्तःकरण हैं अथवा मन है। जो यह मानता है कि जीव कर्म करता हैं वह विमूढात्मा है (३।२७)। परन्तु इससे यह भी सिद्ध होता है कि जीव एक तत्त्व पृथक् है। उसके सन्निधानसे ही गुणोंमें इन्द्रियादिमें क्रियाशीलता आ जाती है। श्रीकृष्ण पुनर्जन्मको भी माननेवाले हैं। उनके मतसे कृतविप्रणाश और अकृताभ्यागम आदिके लिये कोई स्थान नहीं है। यदि वह दृढतापूर्वक यह मानते होते कि पुनर्जन्ममें पूर्वजन्मके कर्मोंके फलका भोग करना पड़ता है तो वह गुणोंको—इन्द्रियादिकोंको कर्ता कभी भी न मानते। क्योंकि इन्द्रियादि नित्य वस्तु नहीं हैं। वह तो देहके साथ ही नष्ट होनेवाले वस्तु हैं। यदि कर्ता—इन्द्रियादिक नष्ट हो गये तो उनके पूर्वशरीरमें किये गये कर्म निष्फल ही रह गये अतः कृतविप्रणाश दोष उपस्थित ही है। एवम् अग्रिम जन्ममें अन्य इन्द्रियादि मिलेंगे। उन्हें सुख—दुःख भी मिलेगा ही। वे सुख—दुःख उनके कर्मोंके फल नहीं हैं प्रत्युत उन इन्द्रियोंके फल हैं जो पूर्वजन्ममें देहके साथ ही नष्ट हो चुके हैं। अतः अकृताभ्यागम दोष भी उपस्थित ही है। भगवान्ने इन दोनों दोषोंका विचार न करके ही इन्द्रियादिकोंको ही कर्ता मान लिया है और उन लोगोंको मूढात्मा मान लिया है कि जो यह मानते हैं कि जीव ही कर्मकर्ता है।

भगवान्के इस उपदेशसे इन्द्रियात्मवाद, मनआत्मवाद, देहात्मवाद भी सिद्ध होते हैं। केवल **कर्ताहमिति मन्यते** से यह प्रतीत हो रहा है कि जीव कर्मोंसे परे रहता है, और इन्द्रियादि क्रिया करते हैं। परन्तु इसका समाधान ढूंढा जा सकता है। जीव कोई पृथक् तत्त्व है। यह दृष्ट वस्तु तो है ही नहीं। जीव कुछ है, इतना ही सर्वत्र कहा गया है और इतना ही कहा जा सकता है। वह जीव ब्रह्मरूप ही है, या पृथक् चेतन है, वह अणु है या विभु है या देहपरिमाण है यह, सब आनुमानिक बातें हैं, नितान्त तथ्य नहीं है। तब, यदि इन्द्रियादिको ही, या केवल मनको ही जीव मान लिया जाय तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। अहम् का व्यवहार तो जैसे कल्पित चेतन—जीव कर सकता है ऐसे ही मन भी कर सकता है। अब तो यह प्रश्न किया ही नहीं जा सकता कि जड वस्तु शब्दोच्चारण नहीं कर सकता; क्योंकि यह रेडियोका युग है। रेडियो जड है। और स्पष्ट शब्द बोलता है। यदि रेडियो किसीकी सहायतासे, किसीकी प्रेरणासे बोलता है तो मन भी इन्द्रियादिकी सहायतासे और इन्द्रियादिसमूहजन्य चैतन्यकी सहायतासे अहम् आदि शब्दोंका व्यवहार कर सकता है। श्रीकृष्ण न तो मान रहे हैं कृतविप्रणाश और न मान रहे हैं अकृताभ्यागम, न मान रहे हैं किसी जीव—कल्पित चैतन्यमें कर्मकर्तृत्व। वह मान रहे हैं इन्द्रियादिकोंमें ही कर्मकर्तृत्व। अतः इन्द्रियादिक ही जीवतत्त्व हैं, वही कर्मकर्ता है। फल—भोगकी बात श्रीकृष्ण समाप्त कर देते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पुनर्जन्मवाद समाप्त हो जाता है।

यद्यपि—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोभिजायते ६।४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥६।४२॥

इन श्लोकोंमें पुनर्जन्मवाद भी उपस्थित है। तथापि सत्य यह है कि भगवान् कृष्णको किसी भी वादमें श्रद्धा नहीं है। वह कुछ भी निश्चितरूपसे बोल ही नहीं सकते हैं। परस्परविरुद्धतासे गीता भरी पड़ी है। वेदविरोध तो अनेक स्थलोंमें है ही। अतः वह सब कुछ बोल जाते हैं और उससे शिक्षा यह देते हैं कि किसी भी वादमें आग्रह नहीं होना चाहिये। संसारके सभी व्यवहार, संसारकी सभी भाषाएं कल्पित हैं। जिस व्यवहारमें सुगमता और अनुकूलता हो उसे मान लेना चाहिये। लड़ना—झगड़ना महामूर्खोंका काम है। इसी लिये भगवान् कर्मसे भी मुक्ति मानते हैं, भक्तिसे भी मुक्ति मानते हैं, ज्ञानसे भी मुक्ति मानते हैं। उनकी मुक्ति अबाधित है। उनकी मुक्ति केवल हृदयकी पवित्रता ढूंढती है—चाहती है। जिसके हृदयमें पवित्रता होगी उसका मोक्ष अनवरोध्य है। जो नख—शिखपर्यन्त पवित्र नहीं है वह कर्म, ज्ञान, भक्ति किसी भी साधनसे मुक्तिलाभ नहीं ही कर सकता। इसीलिये उन्होने कहा—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता ॥७।१५॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥९।१२।
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥९।१३॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१६।१९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥१६।२०॥

अतः पुनर्जन्माभावरूपा मुक्ति कर्मसहकृत, ज्ञानसहकृत, भक्ति-सहकृत मानसिक पवित्रतासे ही प्राप्तव्य है । भगवान्का वास्तविक आशय यह है कि मनुष्य पवित्र बने, सदाचारी बने, परोपकारी बने और संसारको शान्तिमय मार्गसे ले जानेका प्रयत्न करे । मुक्ति किसी-के वशकी बात नहीं है । मुक्तिदाता न ईश्वर है न अल्लाह है । वह तो केवल जीवके हाथकी बात है । मुक्तिके लिये न कोई स्थान है, न स्थल है, न लोक है और न कोई नगरी है । सन्मार्गमें चलकर सुखी रहने और अन्योंको सुखी रहने देनेके लिये मुक्ति प्रलोभनमात्र है । भगवान्ने जो यह कहा है कि **'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'** यह वचन भी प्रलोभनमात्र है। यदि उनके लोकसे वह स्वयं पुनः पुनः आया करते हैं तो उनके लोकमें जाने वाले पुनः, निवृत्त न होंगे, इसमें न तो कोई युक्ति है, न प्रमाण है और न साम-ञ्जस्य है । **बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि** कहने वाले महापुरुषका कौन सा परम धाम है, यह तो कोई जानता ही नहीं है, जान भी नहीं सकता है । या तो भगवान् स्वयं मुक्तिसे अपरिचित थे अथवा तो परिचित होकर भी दुर्योधनको उसके अन्यायका प्रतिफल दिलानेके लिये लोकप्रचलित मुक्तिका प्रलोभन अर्जुनको दे रहे थे । वस्तुतः मुक्ति

कोई दशा नहीं है। मुक्तका कोई लोक नहीं है। मरनेके पश्चात् किसीका भी जन्म नहीं होता है। इसी जन्म न होनेका नाम ही मुक्ति है। भूत, प्रेत आदिकी कोई पृथक् योनि हो सकता है परन्तु मरकर एक जीव भूत होता है और एक चुडैल होती हैं, यह सब व्यर्थकी बातें हैं। मरकर, पुनः जन्म लेकर कोई कोई लड़के या लड़कियां अपने पूर्वजन्मकी बातें कहती, करती हैं, पूर्वजन्मके माता–पिताका परिचय कराती हैं, यह सब बातें अविश्वसनीय हैं। लाखों, करोड़ों आदमियोंमें एकदो आदमी ही मरकर अपना पूर्वजीवनवृत्तान्त कहें—और वह भी कोई विशिष्टकुलमें न आकर भी, विशिष्ट ज्ञानी न होकर भी, विशिष्ट भक्त न होकर भी—कैसे इसे सत्य माना जाय? यदि ऐसा होता भी हो तो उसका कोई कारण अवश्यही छल-बल-प्रयुक्त है। उस कारणको बहुत ही चातुर्यके साथ ढूंढ निकालना चाहिये। संभव है कि किसी स्वार्थ-सिद्धिके लिये माता–पिताने उस बालकको झूठा पाठ पढ़ा दिया हो और वह वैसा ही बोलने लगे। ऐसा ही कुछ कारण अवश्य होना चाहिये। यह निर्विवाद मान लेनेकी बात है कि मरनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता है।

कर्ता कारयिता च सः

लोकप्रवाद भी है, भगवान्‌का भी कथन है कि जीव जो कुछ भी करता है वह भगवान्‌की प्रेरणासे ही करता है। अतः भगवान्‌को ही कर्ता कह दिया गया है और उसीको कारयिता—करानेवाला भी कह दिया गया है। भगवान् कृष्ण भी लोकप्रवादका आश्रय लिया

ही करते हैं। यदि वह कभी स्वतन्त्र मस्तिष्कसे बोलते हैं तो ऐसा बोलते हैं——

> न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
> न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥५।१४॥

अर्थात् ईश्वर न किसीको कर्ता बनाता है और न किसीके कर्मोंका कोई फल-विधान करता है तथा किसीको किसी कर्मके फलके साथ जोड़ता भी नहीं है। यह सब स्वभावसे ही होते रहते हैं। जिसके मनमें जो आता है, वैसा ही वह कर बैठता है। उचित और अनुचितका वह विचार नहीं कर पाता। जैसा कर्म करेगा, उसका फल भी वैसा ही वह पा लेगा। गाली देनेवाला गाली खायेगा और शुभ वचन बोलनेवाला शुभ वचन सुनेगा। सबके साथ सहानुभूति बतानेवाला अवश्य ही अपने लिये भी अन्योंकी सहानुभूतिका अनुभव करेगा। यही स्वभाव है। यही जगत्‌का नियम है। इसमें ईश्वरका कुछ काम ही नहीं है। आंख बन्द करके चलनेवालेको ठोकर तो लगेगी ही और उससे दुःख होगा ही। इसीका नाम है **स्वभावस्तु प्रवर्तते**।

पाप-पुण्यका फल

यह भी प्रवाद है ही कि पाप-पुण्यका फल ईश्वर जीवोंको दिया करता है। भगवान् कृष्ण इसका भी अस्वीकार करते हैं। वह कहते हैं——

> नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
> अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

ईश्वर न तो किसीका पाप लेता है और न पुण्य लेता है। अर्थात् न वह किसीके पापका स्वामी है और न किसीके पुण्यका। अर्थात् वह न तो जानता है किसीके पापको और न किसीके पुण्यको। लोकमें यह बात सदा अवश्य ही कही जाती है कि सबके पाप-पुण्यका फल देनेवाला परमेश्वर है। परन्तु श्रीकृष्ण इसका अस्वीकार कर रहे हैं। वह यह कहना चाहते हैं कि जो लोग पाप और पुण्यका भार ईश्वरके ऊपर डालना चाहते हैं उनके ज्ञानको अज्ञानने ढँक दिया है। अतः वह अज्ञानाधीन होकर ही ईश्वरको हैरान करते हैं। अतः सिद्धान्त यह है कि जीव उत्कृष्ट या निकृष्ट जो कुछ कर्म करता है उसका फल ईश्वर नहीं देता है किन्तु उस कर्मका फल स्वयं ही मिला करता है। अतः सबको सावधान होकर ऐसे कर्म करने चाहिये जिससे परिणाममें दुःख और लज्जा न हो। जो लोग यह कहते हैं कि कर्म जड हैं। जडमें फल देनेकी शक्ति नहीं है। वह लोग भी **अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः** इसी श्लोकके लक्ष्य हैं। फल देनेमें जड और चेतनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जल जड है, उसके पीनेसे तृषा मिट जाती है। अग्नि जड है, उसके स्पर्शसे दाह होता ही है। सूर्य और चन्द्र जड ही हैं। उनके सम्बन्ध से हर्ष-शोक होता ही है। लता, गुल्म, वृक्ष आदि जड हैं। जल भी जड हैं। जल जड होता हुआ भी लता आदि जडों को सुख देता ही है। पवन भी जड ही है। वह सबको जीवन देता ही है। अतः जो चोरी करेगा, वह मार खाएगा ही, सजा पाएगा ही। जलतरण न जाननेवाला अगाध जलमें डूबेगा ही। अविधिसे सर्पको पकड़ने वाला सर्पदंशसे मृत्यु पाएगा ही। फल देनेकेलिये

जड़ चेतनका विचार ही व्यर्थ है। हां, जहां श्रमकर्ता श्रम करता है उसका वेतन देना उस व्यक्तिके हाथकी बात है जिसने श्रम कराया है। श्रम करनेवाला दृढाङ्ग होगा तो सेठको मारकर भी अपनी मजदूरी ले ही लेगा। वहां जड-चेतनका प्रश्न नहीं, निर्बल और सबलका प्रश्न है। सदा ही सबल विजयी होता है—निर्बल पराजित होता है। यह नियम है। इसमें न तो ईश्वरका कोई संकेत है और न जडका कोई दोष है। अतः कर्म न तो जड है और न चेतन है। वह क्रियामात्र ह। क्रिया गति है। गति जडमें होती है और चेतनमें भी। अतः क्रिया जडसे भी पृथक् वस्तु है और चेतन से भी। क्रिया जिसके आश्रित रहती है उसके धर्मको प्राप्त होती है। चेतनाश्रित क्रिया चेतन मानी जाती हो और जडाश्रित क्रिया जड मानी जाती हो, तो यह अलग बात है। परन्तु क्रिया स्वयं न जड है और न चेतन है। क्रिया जड-अजडके सम्बन्धसे अथवा जड जडके सम्बन्धसे होने वाला वस्तु है। वृक्ष जड है—पवन जड है। पवन वृक्षके सम्बन्धसे वृक्षमें कम्पनक्रिया उत्पन्न होती है। शरीर जड है, मूतसमागम भी जड है। उससे एक शक्ति उत्पन्न होती है। उसे हम चेतन कहते हैं। वस्तुतः वह शक्ति न जड है, न चेतन है। परन्तु उसके सम्पर्क से क्रिया उत्पन्न होती है। चुम्बक भी जड है, लोहा भी जड है। दोनोंके सम्बन्धसे क्रिया उत्पन्न होती है। अतः कर्मको जड मानकर फलानुपपत्तिकी आशंका ही व्यर्थ है।

ईश्वर, परमात्मा, पर, सः, अहम्, ब्रह्म, पुरुषोत्तम, परम, पुरुष, आदिपुरुष।

गीतामें कहींपर ईश्वर शब्दका प्रयोग है, कहीं पर परमात्माका, कहींपर परका और कहींपर सः का, कहींपर अहम्का, कहींपर ब्रह्मका, और कहीं पर पुरुषोत्तम का।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥१८।६१॥

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१५।१७॥

यहांपर ईश्वरशब्द प्रयुक्त है ।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥१३।३१॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥१५।१७॥

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन् पुरुषः परः ॥१३.२२॥

यहां पर परमात्मा शब्द व्यवहृत है ।

परमाप्नोति पूरुषः ॥३।१९॥

तेषामादित्यवज्जानं प्रकाशयति तत्परम् ॥५।१६॥

परस्तस्मात्तु भावोन्यः ॥८।२०॥

यहांपर परशब्द प्रयुक्त हुआ है ।

उत्सृजाम्यहम् (९।१९)तपाम्यहम्(९।१९)अहं क्रतुरहं यज्ञः (९।१६)

यहां पर अहम् शब्द प्रयुक्त है। अहम् शब्दकी तो गीतामें कमी है ही नहीं ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥६।३८॥

ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥६।२७॥

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् ॥६।२८॥

ब्रह्मनिर्वाणम् ॥६।२४,२५,२६॥

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥५।६॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि ॥५।१०॥

यहांपर ब्रह्म शब्द प्रयुक्त है ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः ॥१५।१७॥

अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१५।१८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ॥१५।१९॥

यहांपर पुरुषोत्तम शब्दका प्रयोग है ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये ॥१५।४॥

यहांपर आद्यपुरुष शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

गीतामें इन सभी शब्दोंसे ईश्वरका अभिधान हुआ है । परन्तु अहम् शब्द बहुत ही महत्त्वका है । अर्जुन अन्ततक नहीं जान सका था कि कृष्ण ईश्वर हैं या परमात्मा हैं, या ब्रह्म हैं । एकादश अध्यायमें वह विराट् स्वरूपका दर्शन कर सका था और वहां ही वह कृष्णको ईश्वर, परमेश्वर सब कुछ कह सका था । उस समय उसे दिव्य दृष्टि दी गयी थी । पीछे से वह दृष्टि अर्जुनने कृष्णको लौटा दी । पश्चात् उसे कभी यह ज्ञान नहीं हुआ कि कृष्ण परमात्मा हैं । उसने कभी ईश्वर, परमात्मादि शब्दोंसे कृष्णका सम्बोधन भी नहीं किया है । ऐसी अवस्थामें अहम् शब्दका क्या तात्पर्य हो सकता है, वह विचारणीय है ।

उस समय वेदान्तका प्रचार हो चुका था । जीव अपने को ब्रह्म कहनेका अभ्यासी हो चुका था । अर्जुनके कानोंमें वह अहम् शब्द बहुत पूर्वसे भी पड़ चुका था । वह जानता था कि वेदान्ती

का यह **अहम्** शब्द ईश्वरके अस्तित्वाभावका सूचक है। वह जानता था कि जो ईश्वरको नहीं मानता वह अपनेको ही ईश्वर कहता है। अर्थात् विशिष्टजीवसे भिन्न किसी ईश्वरकी सत्ता ही नहीं है। पतञ्जलिका प्रभाव भी श्रीकृष्णपर पड़ा होगा और इसलिये वह अपनेको योगदर्शनका ईश्वर मानते रहे होंगे और यह बातभी अर्जुनसे अप्रकट नहीं थी। इसीलिये अर्जुनने श्रीकृष्णके अहंवाद पर न कहीं शंका की है न आक्षेप किया है। कृष्ण अपनेको पुनः पुनः जन्म लेनेवाला भी कहते हैं और **मत्तः परतरं नान्यत्** (७।७) भी कहते हैं। अर्जुन सर्वथा मौनी बना हुआ है। अतः अवश्य ही अहंवादने ईश्वरको जडमूलसे उखाड़कर फेंक दिया है। कृष्णने अपने लिये ही, ईश्वर, परमात्मा, परपुरुष, आद्यपुरुष, ब्रह्म इत्यादि शब्दोंका प्रयोग किया है। वह जीवकोटिसे ईश्वरकोटिमें आये हुए पुरुष विशेष थे। अतः परमात्मा, ब्रह्म आदि शब्द भी जीवकोटिसे ईश्वरकोटिमें आए हुओंके लिये ही उस समय प्रयुक्त होता रहा होगा, कृष्णकेलिये भी वे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वह जीवसे अलग किसी परतत्त्वका स्वीकार नहीं करते थे। इसीलिये कहा कि 'मुझसे पर कोई भी वस्तु नहीं है' (७।७)। अतः यही सत्य है कि कृष्णके अतिरिक्त कोई भी ईश्वर कृष्णकी दृष्टिमें नहीं था। 'मैं ईश्वर हूँ' ऐसा तो कृष्णने कहीं भी स्पष्ट नहीं कहा है। मैं सब कुछ हूँ, मैं ही सब करता हूँ, इत्यादि बातें उन्होंने अनेक बार कही हैं। वेदान्तकी दृष्टिसे भी **अहम्** शब्द सोपाधिक ब्रह्मका ही वाचक है, शुद्ध ब्रह्मका नहीं। शुद्ध ब्रह्म जगत्कर्ता भी नहीं है। कृष्णने जगत्का सब भार अपने ऊपर उठा लिया है। अतः वह वेदान्तके शुद्ध ब्रह्म भी नहीं हैं। जीवकोटिमें अर्थात्

सामान्यजीवकोटिमें भी नहीं है। उनकी स्थितिको समझानेके लिये उनके पास कोई भी शब्द नहीं था अत एव उन्होंने अहमर्थको कहीं परमपुरुष शब्दसे, कहीं पुरुषोत्तमशब्दसे, कहीं ईश्वर शब्दसे, कहीं ब्रह्म शब्दसे निर्दिष्ट किया है। मैं ही जगत्का निर्माता हूँ, मैं ही तपता हूँ, मैं ही वर्षा करता हूँ, मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही वर्णाश्रमधर्मका निर्माता हूँ, मैं ही वर्णोंका निर्माता हूँ, मैं ही धर्मसंस्थापक हूँ, इत्यादि कहनेका अर्थ केवल यही है कि श्रीकृष्ण ऐसी भूमिकामें विहार करते थे जहां सामान्य जीवत्व तिरोहित हो गया होता है। उस अवस्थाका जीव अपनेको जीव मानता ही नहीं। तब ईश्वरभाव प्रकट किये बिना दूसरा मार्ग भी उसके लिये नहीं रह जाता। ऐसे जीवमें कभी-कभी बाधितानुवृत्तिकी भी संभावना रहती है। वह बाधितानुवृत्ति कृष्णमें अनेक बार प्रकट होती देखी जाती है। इसीलिये वह कहते हैं कि—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

मैं मनुष्य हूँ, इतना भान कृष्णको कभी कभी हो ही जाता था।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१६।१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१६।१९॥

ये सभी कृष्णवचन बाधितानुवृत्तिके ही उदाहरण हैं। अवश्य ही कृष्ण किसी अन्य ईश्वरके माननेवाले नहीं थे। स्वयं भी ईश्वर नहीं थे। ईश्वरका कोई अस्तित्व उनके मनमें भी नहीं था। सर्व-

श्रेष्ठता, सर्वशक्तिमत्ता बतानेके लिये कोई उपयुक्त शब्द नहीं था, अत एव उन्हें इन सब उपर्युक्त शब्दोंका प्रयोग करना पड़ा।

एक प्रश्न यहां यह उठ सकता है कि कृष्ण जगत्को उत्पत्तिमान् मानते हैं। यदि कोई कर्ता ईश्वर नहीं हो तो जगत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? प्रश्न तो यथार्थ है, कृष्ण जगत्को उत्पन्न हुआ मानते हैं, परन्तु यह सब तो लौकिक भाषाका व्यायाम है। जब अपनेको ईश्वर मानते हुए प्रतीत होते हों तो जगत्को उत्पत्तिमान् प्रतीत होता हुआ बताना ही चाहिये। वस्तुतः जगत्की उत्पत्ति है ही नहीं। अथवा है तो स्वतः ही है। किसी कर्ता के अधीन उसकी उत्पत्ति क्यों माननी चाहिये? ईश्वर है तो उसका कोई कर्ता नहीं है। जीव यदि है तो उसका कोई कर्ता नहीं है। परमाणु यदि हैं तो उनका कोई कर्ता नहीं है। यदि ये तीनों तत्त्व कर्ताके बिना ही अस्तित्वमें आ सकते हैं अथवा उनका अस्तित्व माना जा सकता है तो जगत् भी किसी कर्ताके बिना ही अस्तित्वमें आता हो तो किसीको इसमें द्वेष और कोप क्यों करना चाहिये?

अत एव भगवान्ने कहा कि—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१३।१९॥

प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं। यह जगत्, जगत् के गुण-धर्म आदि इसी प्रकृतिमेंसे पैदा हुआ करते हैं। पैदा करनेवाला कोई नहीं। हिमालयमें जल हिम बन जाया करता है। जल को हिम बनानेवाला वहां कोई नहीं। वातावरण ही वहां सब परिवर्तन कर लेता है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ॥१४।१९॥

यहां भी ईश्वर कर्ताके रूपमें स्वीकृत नहीं हुआ है। गुणों-को ही कर्ता माना गया है।

'प्रभवन्त्यहरागमे'

में भी स्वतःप्रभवका वर्णन है। किसी प्रभवकर्ताका वर्णन नहीं है।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

इत्यादिमें जगत्कर्तृत्वका संकेत किया गया है। परन्तु इसे इतना ही मानना चाहिये कि उस समय जो जो वाद प्रचलित थे, कृष्णने सबका आश्रय लेकर अपनी उदारता और निरपेक्षताका परिचय कराया है।

किंच ईश्वरका भी अस्तित्व स्वीकृत हुआ है, परन्तु उसका कोई कर्ता नहीं है। यदि ईश्वर अकर्तृक होकर रह सकता है तो जगत् अकर्तृकके रूपमें क्यों नहीं रह सकता। दूसरी बात यह हैं कि जगत्में हम जितने कार्योंके जितने कर्ता देखते हैं सभी हस्तपादादि-मान् हैं, साकार हैं, मरणधर्मा हैं। यदि क्षित्यङ्कुरादिका, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिका कोई कर्ता होगा तो वह भी साकार ही होगा और नश्वर भी होगा। ईश्वरको ईश्वरवादी न तो साकार मानते हैं और न नश्वर मानते हैं। अतः जैसे ईश्वर स्वतः सिद्ध, नित्य, मान लिया गया है, जीव जैसे स्वतः सिद्ध, नित्य, मान लिया गया है, परमाणु जैसे स्वतः सिद्ध मान लिये गये हैं वैसे ही यदि जगत्को भी स्वतः सिद्ध, नित्य, कोई मानता हो, तो किसीको आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

किंच यदि यह जगत् ईश्वरकृत—ईश्वररचित माना जाय तो ईश्वरको परतन्त्र भी मानना पड़ेगा क्योंकि वह जीवकर्मोंके विना, एवं प्रकृतिके विना जगत्को बना नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि ईश्वर साधनाधीन बन जायगा। उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी।

किंच यदि ईश्वरने ही सृष्टिकी रचना की है तो वह ईश्वर अत्यन्त अल्पज्ञ, असमर्थ और क्रूर सिद्ध होगा। क्योंकि इस सृष्टिमें रहनेकेलिये अब अवकाश नहीं है। सहस्रों माइल भूमिको समुद्रने रोक रखा है। सहस्रों माइल भूमिको पर्वतोंने रोक रखा है। मनुष्य बढ़ते जा रहे हैं। उनके रहनेकेलिये स्थान नहीं है। ईश्वरने नहीं सोचा कि लाखों वर्षोंके पश्चात् मनुष्य जाति बढेगी, उनके रहनके लिये पृथ्वीको बहुत बड़ी बनानी चाहिये। यदि जीवोंके कर्मोंके अनुसार ही पृथिवी बनी है तो जीवोंको रहनेके लिये पर्याप्त पृथिवी तो चाहिये ही। भूकम्पसे, अग्निसे, अवर्षणसे, अतिवर्षणसे, प्रतिवर्ष सहस्रों मनुष्य मारे जाते हैं। ऐसी पृथिवी क्यों बनायी गयी जो हिलती रहे और आगका संग्रह करती रहे? इसमें अत्यन्त निष्करुणता है। कोई जीव सुखी हैं कोई दुःखी हैं। यह सब ईश्वरके प्रबन्धके दोष हैं। उनके पूर्वजन्मोंके कर्मोंके फल ही सुख दुःख आदि हैं, ये सब कथन तो बालसंमोहन हैं। ईश्वरने कहीं घोषणा नहीं की है कि अमुक कर्मका फल दारिद्र्य है और अमुकका फल सौख्य अथवा धनाढ्यता है। नियम विनाका ही जगत् है। इसका कोई स्वामी नहीं है। जिसमें जितना बल हुआ वह उसी प्रमाणमें भूमि, पर्वत, वन और मनुष्यका स्वामी बन जाता है। निर्बल उन सबलोंके अधीन बन जाते हैं। जगत्में ईश्वरका कोई स्थान नहीं है।

मोक्ष

गीतामें ज्ञान, कर्मयोग और भक्ति इन तीनों साधनोंसे मोक्ष माना गया है। मोक्ष अर्थात् मुक्ति। मुक्ति अर्थात् जन्म–मरण–रूप बन्धनसे सदाकेलिये छुटकारा। गीताके इन तीनों साधनोंके स्वरूपका विचार करना है। गीतामें यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि जब जीव–ब्रह्मका भेद मिट जाता है और अभेदज्ञान होता है तब मुक्ति होती है। ब्रह्मज्ञान अथवा ईश्वरज्ञानकी भी चर्चा गीतामें नहीं है। सर्वत्र आत्मस्वरूपका ही निरूपण हुआ है। ईश्वरको जाननेसे मुक्ति होगी या जीव–ब्रह्मके अभेद-ज्ञानसे मुक्ति होगी, यह कहीं गीता नहीं कह रही है। अतः अवश्य ही गीताको आत्मस्वरूपज्ञान अभीष्ट है। **नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि** इत्यादि आत्मस्वरूपके ज्ञापक है। इस स्वरूपके साक्षात्कारसेही जीवकी मुक्ति मानी गयी है। वस्तुतः तो जीवशब्द भी गीतामें बहुशः उपलब्ध नहीं है। पुरुषशब्द अधिकतासे प्रयुक्त हुआ है और उसीकी मुक्तिका कथन सर्वत्र हुआ है।

गीताके प्रथम षट्कमें तथा आगेके अध्यायोंमें भी कर्मयोगसे भी मुक्ति मानी गयी है। वह कर्मयोग परोपकाररूप कर्म ही है। वैदिक यागादिकोंमें गीताचार्यको तनिक भी विश्वास नहीं है। वेदोंमें भी उनकी श्रद्धा नहीं है। अतः गीताका कर्मयोग वैदिक कर्मकाण्डकी ओर संकेत नहीं करता है; प्रत्युत लौकिक परोपकारादि कर्मोंकी ओर ही हमें ले जाता है। **न कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्** इत्यादि कितने ही श्लोक मेरे इस निश्चयको दृढ, दृढतर और दृढतम बनानेकेलिये गीतामें उपस्थित हैं। भगवान् यह भी मानते हैं कि

उनका अभिमत कर्मयोग अनादिकालका है और विवस्वान्‌को सर्व-प्रथम भगवान् कृष्णने उसका उपदेश दिया था। जगत्‌में कभी कोई वस्तु स्थिर नहीं रहता अतः **स कालेनेह महता योगो नष्टः**, वह कालके प्रवाह्में विलीन हो गया। कृष्णने अपने जीवनमें कोई अश्वमेध, गोमेध, राजसूय आदि किया हो, इसका पता नहीं है तो भी वह यह तो कहते हैं कि—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥३।२२
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥३।२३
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥३।२४॥

गीताके तृतीय अध्यायसे बहुत स्पष्टरूपसे अवगत होता है कि भगवान्‌का कर्मोपदेश लौकिक परोपकारमय कर्मोंकेलिये ही हुआ है।

भक्तिप्रकरणसे भी भगवान् मुक्तिका उपदेश करते हैं और भक्ति तथा भक्तका माहात्म्य गाते हैं। परन्तु उन्होंने यह तो कहीं भी नहीं कहा है कि जो मेरा नामस्मरण करते हैं, या मन्दिर बनाकर, मेरी स्थापना करके घण्टा—घडियाल बजाकर मेरी पूजा करते हैं, या तिलक—कण्ठी धारण करते हैं, या मालाजप करते हैं वह मेरे भक्त हैं, या मुझे प्रिय हैं। उन्होंने द्वादश अध्यायमें श्लोक १३ से २० तक अपने प्रियभक्तों और अतीव प्रियभक्तोंका स्वरूपगान किया है।

उसमें उपर्युक्त किसी ऐसी भक्तिका नाम भी नहीं लिया गया है। अतः निर्मम, निरहङ्कार, समदुःखसुख, क्षमी, सन्तुष्ट, यतात्मा, दृढ-निश्चय, भगवान्‌में मन—बुद्धिका अर्पण करने वाला, किसीको उद्विग्न न बनाने वाला, हर्ष—अमर्ष-भय—उद्वेगसे विमुक्त, अनपेक्ष, शुचि, दक्ष, उदासीन, गतव्यथ, सर्वारम्भ—परित्यागी, शुभाशुभपरित्यागी, शत्रु—मित्रमें समभाव रखने वाला, शीत, उष्ण, सुख, दुःख इत्यादिमें समान रहने वाला, सङ्गविवर्जित, तुल्यनिन्दास्तुति, मौनी, सन्तुष्ट, अनिकेत, स्थिरमति, श्रद्धालु, कृष्णपरायणको ही भक्त कहा गया है। भक्तके कार्य और गुणोंका निर्देश इन लक्षणोंमें किया गया है। वही भक्ति है। इनसे इतर कोई भक्ति नहीं है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति का अर्थ इससे तनिक भी विपरीत नहीं है। पत्र, पुष्प, फलादि शब्दोंका तात्पर्य आत्मसमर्पणसे है। भगवदाज्ञाके अनुकूल आचरण करनेकेलिये अर्थात् थोड़ी भी आज्ञाका पालन करनेके लिये **पत्रं पुष्पं फलं तोयम्** आदि कहा गया है। इससे अतिरिक्त भक्तिका स्वरूप नहीं है।

अब यह विचारना है कि ज्ञान, कर्म, भक्तिरूप साधनसे मुक्ति कैसे मिलती है। यदि मिल जाती है तो उसका स्वरूप क्या है? भगवान् कृष्णने अपने किसी परमधामका नाम निर्दिष्ट नहीं किया है। अतः मुक्ति किसी लोक विशेषका नाम नहीं है। किसी लोक विशेषमें जानेसे वह मिलती है, यह भी नहीं है। स्वरूपज्ञानसे यदि मुक्ति मिलती है तो उस मुक्तिका स्वरूप क्या है? स्वरूपज्ञानका स्वरूप यही है कि "मैं अजर, अमर, अभेद्य, अच्छेद्य हूँ।" इतनेसे ही जन्ममरणसे मुक्ति कैसे हो जाती है? यदि मुक्ति हो ही जाती है

तो अर्जुनकी मुक्ति क्यों नहीं हो गयी ? उसे तो भगवत्कृपासे उतना ज्ञान—स्वरूपज्ञान हो ही गया था। क्योंकि उसने स्वीकार किया है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥१८।७३॥

मोहका—अविद्याका—अज्ञानका नाश होनेसे तात्पर्य ही यही है कि उसे स्वरूपज्ञान हो गया था। तथापि उसकी मुक्ति तो नहीं हुई। मरकर तो वह नरकमें गया था जहां—"**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**" कहनेवालेका पता ही नहीं था।

यदि कर्मयोगसे मुक्ति होती है तो कर्मोंसे प्रसादित कोई ईश्वर मुक्ति देता है ? या कर्मोंसे ही मुक्ति स्वयं मिल जाती है ? किसी ईश्वरका नाम भगवान्‌ने कहीं भी नहीं लिया है जो कर्मोंसे प्रसन्न होकर मुक्ति देता हो। अतः यह सिद्ध होता है कि कर्मयोग-की उपासनामें ही ऐसी शक्ति है जिससे पुरुष जन्म-मरणशून्य हो जाता है। अथवा उपासनातक न जायं तो कर्मयोगमें ही वह शक्ति निहित है जिससे मुक्ति हो जाती है। ईश्वर तब अनपेक्षित हो जाता है।

यदि भक्तिसे मुक्तिका होना अभीष्ट हो तो वहां कर्मयोगके समान ही प्रश्न है। भक्तिप्रसादित कोई ईश्वर मुक्तिदाता है ? या भक्ति-में ही मुक्तिदानकी शक्ति है ? यहां थोड़ा सा लम्बा विचार करना है। गीताके १८ वें अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि—

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१८।५३॥

यहां यह कहा गया है कि अहंकारादिका त्याग करनेसे निर्मम और शान्त होकर आत्मा ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। वैदिकों-

ने—औपनिषद् ऋषियोंने ब्रह्मभावको ही मुक्ति माना है। द्वितीयाध्यायके अन्तमें—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥२।७१॥

निर्मम और निरहङ्कारको शान्तिका-मुक्तिका प्राप्त करने वाला कहा है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥२।७२॥

यहांपर भी भगवान्‌ने स्थितप्रज्ञको ब्रह्मनिर्वाणका प्राप्त करने वाला कहा है। इस श्लोकमें **अपि** शब्द बहुत चमत्कृतिपूर्ण है। जिस क्रमसे श्लोकपाठ है उसी क्रमसे यदि अन्वय करें तो यह अर्थ होता है कि **इस स्थितिमें रहकर जीव अन्तकालमें भी ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करता है**। इससे यह विदित होता है कि जीवित दशामें भी वह ब्रह्मनिर्वाणका ही अनुभव कर रहा है। मरणोत्तर भी इसी दशाका—ब्रह्मनिर्वाणका अनुभव करेगा। यदि यही अन्वयार्थ सत्य हो तो मुक्ति कोई वास्तविक वस्तु नहीं है। काम—क्रोध-मोह-लोभ-दर्प-अहंकार आदिसे छूट जानेका नाम ही मुक्ति है। यदि **अपि**को स्थानच्युत करके अन्वय करें तब इस श्लोकका यह अर्थ हो जाता है कि यदि जीव अन्त कालमें भी इसी स्थितिमें रह सके तो ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त कर लेता है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्थितप्रज्ञ कभी मार्गभ्रष्ट भी बन सकता है। यदि मार्गभ्रष्ट न हो तो ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त कर लेगा। यहां ब्रह्मनिर्वाण, मुक्ति, शान्ति सभी पर्यायवाचक शब्द हैं। यहां भक्ति के विना भी मुक्तिका निरूपण है। भक्तिसे जिस मुक्तिकी प्राप्ति होती है, वह भी यही है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥१३।२७॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मनं ततो याति परां गतिम् ॥१३।२८॥

इन श्लोकोंमें सर्वत्र आत्मदर्शनको ही मुक्तिका कारण बताया गया है । इस २८वें श्लोकमें आया हुआ **ईश्वर** शब्द और २७वें श्लोकमें आया हुआ **परमेश्वर** शब्द जीवके लिये ही प्रयुक्त हुआ है ।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥१३।२२॥

इस श्लोकमें महेश्वर, परमात्मा, परपुरुष इत्यादि शब्द भी जीवकेलिये ही आये हैं। क्योंकि आगे कहा है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥१३।२३॥

जो पुरुष और प्रकृतिको इस प्रकारसे जानता है वह पुनर्जन्म नहीं पाता । पुरुषशब्द भी जीवकेलिये ही आया है । यथा–

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥१३।२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ॥१३।२१॥

तात्पर्य यह है कि भक्तिसे जिस मुक्तिका प्रतिपादन गीता करती है वही मुक्ति अन्य उपायोंसे भी प्राप्त हो रही है । परन्तु १८वें अध्यायमें एक ऐसा प्रसङ्ग है जो ब्रह्मभावको हिला देता है । वहां कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥१८।५४॥

यहां पर ब्रह्मभावको मुक्तिका होना अस्वीकृत हुआ है। ब्रह्मभूत ब्रह्मभावापन्नको ही भक्तिका अधिकारी माना है। इससे तो यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मभावापत्ति मुक्ति नहीं किन्तु शान्तिप्रद एक जीवन-अवस्था है। उस अवस्थामें पहुँचकर जीव समदृष्टि बन जाता है, प्रसन्नात्मा, वीतशोक, वीतराग बन जाता है। तब उसे भक्ति की प्राप्ति होती है।

उस भक्तिका फल आगेके श्लोकमें वर्णित है—

भक्त्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥१८।५५॥

भक्तिसे वह जीव भगवान्के स्वरूपको जानता है पश्चात् अर्थात् स्वरूपज्ञानानन्तर भक्तिमें प्रवेश करता है। यहांपर मुक्तिका कारण, भगवत्स्वरूपज्ञानको और भगवत्स्वरूपज्ञानका कारण भक्ति को और भक्तिका कारण ब्रह्मभावको कहा गया है।

आगे भगवान्ने पुनः एक दूसरी बात कह दी—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥१८।५६॥

भगवदुपदिष्ट मार्गसे कर्म करनेवाला भगवत्कृपासे ही मुक्तिको प्राप्त करता है। यहां मुक्तिका कारण भगवत्स्वरूप-ज्ञान नहीं है किन्तु भगवत्कृपा है।

इसके आगेके श्लोकमें एक दूसरी बात कही गयी है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥१८।५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥१८।५८॥

यहापर पुनः बुद्धियोगका स्मरण किया गया है। भगवत्परायणतासे ही मुक्तिप्राप्ति निरूपित हुई है।

अस्तु, थोड़ा सा लौकिक दृष्टिसे भी मोक्ष और भक्तिके विषयमें विचार कर लेना अच्छा है। गीताके द्वादश अध्यायकी भक्ति और भक्तका दर्शन तो इस जगत्में सदा ही दुर्लभ रहा है। पौराणिक-भक्तिने गीताभक्तिका स्थान घेर लिया है। पौराणिक भक्तिमें पुष्पदान, अन्नदान, जलदान, वस्त्रदान और नामस्मरण मुख्य माने गये हैं। इसी भक्तिका आज सर्वत्र प्रचार है। इसीका नाम भक्ति है। अब प्रश्न यह है कि इस भक्तिसे परमेश्वर प्रसन्न होता है और प्रसन्न होकर मुक्ति देता है, ऐसा सिद्धान्त बनाना है? अथवा भक्तिसे ही कृतार्थता—मुक्ति मिल जाती है, ऐसा सिद्धान्त बनाना है? यदि भक्तिसे भगवत्प्रसन्नताकी बात कही जाय तो यह अत्यन्त अनुचित है। पापी और पुण्यात्मा दोनों ही ऐसी भक्ति कर सकते हैं। ऐसी भक्ति करता हुआ पापी और अन्यायी अपना अन्तिम क्षण पूरा कर सकता है। वह भी मुक्तिका ही अधिकारी होगा। धर्मात्मा भी उसी मुक्तिका अधिकारी होगा। चोर चोरी करने जाता है, उससे पूर्व देवदर्शन कर लेता है, हाथ जोड़ लेता है, **पत्रं पुष्पं** चढ़ा भी देता है। लूट-पाट-काट-कूट करके धन ले आता है। खाता, पीता और मज़ा करता है। वह भी भक्त गिना जायगा; क्योंकि भगवान्के सामने अन्न, जल, पुष्प पत्र वह भी समर्पित करता ही है, कर सकता ही है। तब भगवान् भी उसपर प्रसन्न होंगे ही, मुक्ति भी उसे मिलेगी ही। मुक्तिका स्थान नीचा बन जाता है। उसका मूल्य एकदम घट जाता है। भक्ति हेय हो जाती है। ऐसे पापीको भी भगवान्

यदि स्वधाम—मुक्ति देता हो तो वह भगवान् खुशामदपसन्दके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। केवल अपने नामको सुनकर भगवान् प्रसन्न होता हो और मुक्ति बांटता फिरता हो और जो सज्जन नाम-स्मरण न करता हो उसके लिये भगवान्की मुट्ठी बन्द ही रहा करती हो तो ऐसे भगवान्को भी जगत्के विवेकी हेय ही मानेंगे। अतः पौराणिक भक्तिसे तो मुक्ति दुर्लभ है। गीताके द्वादश अध्यायके अनुसार जो भगवद्भक्त बनेगा, उसकी मुक्तिमें सन्देह हो ही नहीं सकता। प्रश्न इतना ही है कि वह मुक्ति क्या है? और किधर है?

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'

इतना कहनेसे अनिवृत्ति मुक्ति बन सकती है परन्तु मुक्तिलोकका पता नहीं लग सकता है।

वस्तुतः शरीरका नाश हो जाता है तो पुनः जन्म होता ही नहीं है। कोई स्थिर और नित्य आत्म. है नहीं, अतः उसका पुनर्जन्म होता ही नहीं है। पुनर्जन्मका न होना स्वतः सिद्ध है। उसीको मोक्ष नाम दे दिया गया है। मोक्षसे जीवका पुनरागमन सभी शास्त्रों में अस्वीकृत है। मैं नित्य हूं, अभेद्य हूं, अच्छेद्य हूं इत्यादि ज्ञान होनेपर पुनरावृत्ति क्यों नहीं हो सकती, इसका कोई उत्तर नहीं है। कर्मयोग सिद्ध कर लेनेपर भी पुनरावृत्ति नहीं होती है, मुक्ति हो जाती है, यह क्यों? इसका कोई समीचीन बुद्धिसंगत उत्तर नहीं है। सत्य यही है कि कोई जीव पापी हो या पुण्यात्मा हो, मरनेके पश्चात् पुनः उसका जन्म होता ही नहीं है। इसीका नाम मुक्ति है। मुक्तिमें परमानन्दका अनुभव होता है, यह कथन प्रलोभनमात्र है। किसीने मुक्तिदशाका अनुभव करके, पुनरावृत्त होकर प्रामाणिक-

रूपसे ऐसा कहा ही नहीं है कि मुक्तिमें परमानन्द प्राप्त होता है या परमानन्द ही मुक्ति है। अतः न मुक्ति है, न पुनर्जन्म है, न कोई उसका नियन्ता और प्रबन्धकर्ता है। गीताके आम्रेडनसे यही तत्त्व सिद्ध होता है।

गीताके प्रथम अध्यायमें कोई बहुत महत्त्वका विषय नहीं है। परन्तु युद्धारम्भके समय अर्जुनकी दशा, उसके हृदयकी वेदना, उसका जगा हुआ मानस, उसके निर्दम्भ हार्दिक शब्द, अपने दुःखी शब्दोंको भगवान् कृष्णके चरणोंमें समर्पित करनेकी पद्धति बहुत ही आकर्षक और मनोहर है।

जिस समय वह वेदनाभरे स्वरमें कहता है कि 'कृष्ण, मुझे विजय, राज्य, सुखसे क्या लाभ होगा जब कि जिनके लिये, जिनकी सुखशान्तिके लिये हमें राज्य, भोग, सुख इष्ट हैं वे सभी प्राणोंको होड़में रखकर, धन-धान्यका त्याग करके यहां रणभूमिमें उपस्थित हैं? (१।३२–३३) जब वह कहता है कि मैं अपने आचार्यों, पितरों, पुत्रों, पौत्रों, पितामहों, मातुलों, श्वशुरों, श्यालों और अन्य सम्बन्धियोंको एक पृथिवीके राज्यके लिये तो क्या, तीनों लोकोंका भी यदि मुझे राज्य मिल जाय, तो भी मैं मारना नहीं चाहता हूँ, ये भले मुझे मार डालें (१।३४–३५), अपनी भूलको जब वह समझता है और कितना बड़ा अन्याय करनेके लिये वह खड़ा है तब जब उसके मुंहसे पुष्पके समान ये शब्द झड़ते हैं—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥१।४५॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥१।४६॥

हम बहुत बड़ा पाप करनेके लिये उद्यत हैं—स्वार्थके लिये, राज्यसुखके लिये इन स्वजनोंको मारकर । यह इतना बड़ा अन्याय है कि यदि धृतराष्ट्रके लड़के मुझे मार डालें और मैं अपनी रक्षा न करूँ, उनके हाथ शस्त्रसे सजे हुए हों परन्तु मैं निःशस्त्र खड़ा रहूँ, तभी मेरे पापका प्रायश्चित हो सकता है; उस समय संसार मुग्ध था, पृथिवी रोती थी, दिशाएँ हिलती थीं, कृष्णका चित्त भी अस्थिर सा बन गया था । आकाशके देव वेमान थे इसीलिये इन अश्रुत शब्दों और अदृष्ट घटनापर पारिजात-पुष्पवृष्टि नहीं कर सके। सम्पूर्ण गीताका आधारस्तम्भ अर्जुनके वेदनापूर्ण शब्द ही हैं । भयङ्कर अपमान, कठोर वनवास, अननुभूत दुःखोंका ढेर जिसकी ओरसे अर्जुनके सिरपर आकर पड़े थे उसके प्रति इतनी दया, इतना वात्सल्य, इतना मान, इतना प्रेम, इतनी वेदना प्रकट करने वाला अर्जुन धन्य है । उसने वस्तुतः भारतको प्रकाश दिया, उज्ज्वलता दी और दिव्यता दी ।

दूसरे अध्यायमें जब भगवान्ने उसे मधुर-उपालम्भ दिया 'अरे अर्जुन, विषमकालमें तुझे यह सब क्या सूझा? ये तेरी भावनाएँ तो आर्योंकी नहीं, अनार्योंकी हैं, नरककी ओर ले जाने वाली हैं और सबसे बढ़कर तो यह है कि कीर्तिका नाश करने वाली हैं (२।२) तब तो उसके हृदयके आक्रन्दनकी सीमा नहीं रही । उसके मुँहसे निकल पड़ा—'इन महानुभावोंको गुरुजनोंको मारना न पड़े और भीख मांगकर दिन पूरे करने पड़ें तो वह मेरे लिए श्रेयस्कर है । इनके रक्तसे भींजे हुए भोगोंका भोग करनेकी अपेक्षा, कृष्ण, मुझे यही अच्छा लगता है ।' (२।५) ।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥२।३॥

भगवान्‌के ये शब्द अर्जुनके कानोंमें गूंज रहे थे। अर्जुनने कहा, भगवन्, ठीक है, मैं जिन्हें मारकर जीना नहीं चाहता वे ही तो धृतराष्ट्रपुत्र और उनके सम्बन्धी यहां रणभूमिमें आगे खड़े हैं। मैं यह भी तो नहीं जान सकता कि युद्धमें इनका विजय होगा, या हमारा।" (२।६) अन्तमें तो वह किंकर्तव्यविमूढ होकर अपनेको कृष्णके ही हाथोंमें सौंप देता है और कहता है—

'शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् । (२।७)

अर्जुनके शोक, उद्वेग, किंकर्तव्यविमूढताको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने जो प्रयत्न किये हैं, मैं समझता हूँ कि वे हृदयको स्पर्श करनेवाले नहीं हैं। आत्मा नित्य है, सभी मरते और जन्म लेते हैं, संसारके सम्बन्ध अनित्य और मिथ्या हैं, तू, हम, ये सभी राजा भी कितनी बार मर चुके हैं और कितनी ही बार जन्म ले चुके हैं। इसमें शोककी बात क्या है? जैसे शैशव जाता है यौवन आता है, यौवन जाता है, वृद्धावस्था आती है; वैसे ही देह बदलता रहता है, आत्मा तो वही रहता है, शोक काहे को? आत्मा अविनाशी है। इसे कोई मार नहीं सकता, काट नहीं सकता, जला नहीं सकता। आत्मका जन्म नहीं, मरण नहीं, वह तो अज है, शाश्वत है। शरीरका भले नाश हो परन्तु वह तो अनश्वर है। द्वितीयाध्यायके २५वें श्लोक तक भगवान्‌के निरर्थक शब्दोंका कोई भी प्रभाव अर्जुनपर नहीं पड़ा। किसीपर भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। अर्जुनने कहा कब कि इन सब आत्माओंको मैं मारना नहीं चाहता? उसने तो सम्बन्धियोंके

सम्बन्ध गिनाये हैं । उसे तो सम्बन्धियोंके शरीर प्रिय थे । उसे अपने भाई प्रिय थे, गुरु प्रिय थे, आचार्य प्रिय थे, साले और ससुर प्रिय थे, मित्र प्रिय थे, पुत्र प्रिय थे। ये सब आत्माके नाम नहीं हैं। देहके नाम हैं। इन देहोंके साथ अर्जुनका सम्बन्ध था। कितने ही काले और उज्ज्वल दिन अर्जुनने इनके साथ ही देखे थे। कितने ही सुखके ऋतु इनके साथ उसने बिताये थे। उसे देह प्रिय थे, आत्मा नहीं। फिर जन्म होगा, फिर मरण होगा, इससे क्या पुनः भीष्म आवेंगे ? या द्रोण आवेंगे ? क्या दूसरे शरीरमें आया हुआ भीष्म और द्रोणका आत्मा अर्जुनको पहचानेगा ? या अर्जुन उन्हें पहचानेगा ? पहचानेगा तो भी क्या वह प्रेमोदय हो सकेगा जो इस शरीरमें वर्तमान है ? वस्तुतः कृष्णके यह सब उपदेश, तत्त्वज्ञान, अर्जुन जैसे दुःखी जीवके लिये उपयुक्त नहीं ही हैं । इसीलिये उन्हें भी अपनी स्थिति बदलनी पड़ी और कहना पड़ा—अर्जुन, जातका मृत हो जाना ध्रुव है। आज मरें या कल। मरना अवश्य है। आज यदि तू इन्हें न मारकर शोकसे बच गया तो कल जब इन्हें विषमज्वर, सन्निपात, हैज़ा, प्लेग आदि महारोग पकड़ेंगे तब तू क्या करेगा ? अपरिहार्य वस्तुके लिये शोक करना अर्जुन तुझे शोभा नहीं देता है ।

अर्जुन टससे मस नहीं हुआ । तब भगवान्‌ने क्षात्रधर्मकी बातका आरम्भ किया। अपयश-प्राप्तिकी बात की। तेरे विपक्षी तुझे कायर कहेंगे, डरपोक कहेंगे, युद्धसे भगा हुआ कहेंगे । अर्जुन यह तो सबसे अधिक बुरी बात होगी।

अर्जुन टससे मस नहीं हुआ। भगवान्‌ने स्वर्गकी भी लालच दिखायी। **हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्** (२।३७) तो भी अर्जुन न

डिगा । विजयी होकर तू पृथ्वीका राजा बनेगा (२।३७) तो भी वह नहीं हिला ।

भगवान्‌ने कर्मयोगकी बात की, वेदोंकी निन्दा करके पिण्डोदककी चिन्ताका भंग करनेका प्रयास किया (२।४२-४५), अर्जुनको वेदनिन्दा सुनकर दुःख न हो इसलिये यह भी कहा कि वेदोंमेंसे उतना ही लेना अच्छा है जितनेकी अपनेको आवश्यकता है। अर्जुन, जलपूर्ण तालाबको थोड़े ही कोई उठाकर घर ले जाता है। अरे, जितने जलकी आवश्यकता होती है उतना ही लेकर तालावसे अलग हो जाता है। यह सब बातें कीं, परन्तु अर्जुन यों ही स्थिर रहा।

भगवान् थोड़ासा झुंझला गये । बोले अर्जुन, तेरी बुद्धि भोथड़ हो गयी है। यदि वह ठिकाने आवेगी तब तू वेद-शास्त्रसे स्वयं ही विरक्त हो जाएगा । तेरी बुद्धिको श्रुतियोंने बरग़ला दिया है—बहका दिया है। वह जब अपनी स्वाभाविक स्थितिमें आवेगी तब तू मेरे कर्मयोगपर ध्यान दे सकेगा।

अर्जुनने कृष्णकी किसी बातपर भी ध्यान नहीं दिया । उसका शोक बना ही रहा। कृष्ण इतना इतना बोलें, समझावें, और अर्जुन कुछ भी न बोले, तो सामान्य सभ्यताका अपमान होता देखकर उसने दो तीन प्रश्न कर दिये जिससे कृष्णको सन्तोष हो और उन्हें विचार करनेका अवसर मिले ।

उसने स्थितप्रज्ञको पकड़ा । उसके लक्षण सुनने-जाननेके लिये उसने अपनी आतुरता दिखायी। भगवान् बोल चले, द्वितीय अध्याय समाप्त हो गया ।

इस अध्यायमें आत्मा, जन्मान्तर, स्वर्ग, आदि जीवनको स्पर्श करनेवाले तत्व हैं अतः इनपर थोड़ा सा विचार कर लें। भगवान् आत्माको नित्य मानते हैं। वेदोंने भी, उपनिषदोंने भी नित्य ही माना है। कृष्णके समयमें उपनिषदों और ब्राह्मणग्रन्थोंका प्राधान्य प्रतीत होता है। श्रुति और वेदशब्दसे भगवान्ने ब्राह्मणोंका ही सर्वत्र ग्रहण किया है। वेदोंमें पुष्पित वाणी नहीं हैं। ब्राह्मणग्रन्थ पुष्पित वाणियोंके भण्डार हैं। उपनिषद् अधिकांशमें विशुद्ध होकर ही बाहर आयी हैं। भगवान् उपनिषदोंका जहां तहां स्पर्श भी करते हैं। उपनिषदोंके अनुसार ही उनका आत्मनिरूपण है। परन्तु उन्होंने जब अर्जुनसे यह कहा :—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२।२६॥

तब लोगोंकी आंखोंमें नया प्रकाश आ गया। लोगोंने समझ लिया कि आत्मा भी एक अनुमित अथवा अगत्या कल्पित वस्तु है। इसीलिये भगवान्को कहना पड़ा कि अर्जुन तू यदि आत्माको नित्य न मानता हो और उसे नित्य ही जन्म लेनेवाला और मरनेवाला मानता हो तो भी तो शोकका कोई कारण नहीं है! नित्यजात और नित्यमृतसे अवश्य ही भगवान्का आशय देहात्मवादसे है। उस समयमें भी देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनआत्मवाद इत्यादिवाद आत्माके सम्बन्धमें प्रचलित थे। आत्मा एक नित्य वस्तु है, यह किसीको विश्वास नहीं होता था। एक आत्मा है, एक परमात्मा है, उसका कोई लोक है, उसके नियम हैं, आत्मा ही उन नियमोंका पालन करनेवाला है, नियमोंका पालन न करनेसे आत्माको

दण्ड होता है, पालन करनेसे बख़शिश-पारितोषिक मिलता है, इत्यादि बातें मनुष्योंने, ऋषियोंने, मुनियोंने, शास्त्रकारोंने मानवीय राजाओंके अनुकरणसे लिखी हैं । यहां भी राजा होता है, प्रजा होती है, क़ायदे-क़ानून होते हैं, सज़ा और जज़ा होती है तो ईश्वरके यहां भी ऐसा ही होता होगा, न होता हो तो, ऐसा ही होना चाहिये, यह समझकर लोगोंने सब कल्पनाएँ की हैं । भगवान्‌को इन कल्पनाओंसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है । वह तो स्वयं ब्रह्म बनकर बैठ गये हैं । जीवभावके जालसे छूट गये हैं । नियोग-अनुयोग कुछ रहा ही नहीं, सब कुछ कहना है दूसरोंके लिये हीं । उन्होंने सभी मतोंका निरूपण कर दिया । भगवान्‌के इस कथनसे अर्जुनको कोई दुःख नहीं हुआ । उसने यह नहीं कहा कि प्रभो, यह दोषारोपण मेरे सिर पर क्यों करते हैं ? मैं तो जीवात्मवादी हूँ । माळूम होता है वस्तुतः अर्जुन देहात्मवादी ही था । इसीलिये वह चुप रहा । माळूम होता है भगवान्‌को भी इसमें कोई दोष नहीं दीख रहा था अत एव झटकार फटकार किये बिना ही चुपचाप आगे चल पड़े । उन्हें तो अपनी बात मनानी थी । युद्ध उन्हें कराना था । उनका जो अपमान करे तो उसे अवश्य ही वह धमकाये विना नहीं रह सकते थे (१६।१९,२०) । भगवान्‌ने यहां पर अकृताभ्यागम और कृतविप्रणाश दोषका भी उद्भावन नहीं किया, विचार ही नहीं किया । वस्तुतः यह दोनों दोष हैं भी निरर्थक । चैत्र नामवाला देह (आत्मा) मर गया । उसने जो कुछ किया था उसका फल तो उसे उसी देहमें मिल ही चुका था । प्राप्त होनेको कुछ अवशिष्ट रहा ही नहीं था । तब कृतविप्रणाश दोषका उद्भावन निरर्थक है । फल न मिला होता तो अवश्य कृतविप्रणाशका प्रसङ्ग उपस्थित होता ।

अकृताभ्यागम भी निरर्थक ही है। मनुष्य जीवनमें सुख–दुःख, हानि-लाभ, जय–पराजय, मान–अपमान ये सब पूर्वजन्मके फल नहीं हैं। वह तो यहांकी ही परिस्थितिके परिणाम हैं। आमका फल वृक्षसे गिरा। नीचे आनेपर उसे चोट तो लगती ही है। वह कुछ फट जाता है- पोचा पड़ जाता है–धूरि–धूसरित हो जाता है। यह उसके पूर्वजन्मका फल नहीं है, परिस्थितिका फल है। पूर्वजन्मका फल माननेवालोंने अपने शास्त्रोंको अभी अधूरा रख छोड़ा है। उन्हें ईश्वरीय वाणीमें ही जगत्को बताना चाहिये कि कौन कौन फल किस किस कर्मके हैं ? एक छात्र अपनी परीक्षामें अनुत्तीर्ण हो गया तो इसके लिये उसने पूर्वजन्ममें क्या कर्म किया था ? एक को फोड़ा हो गया, एकको फुंसी हो गयी, एकको आम पड़ने लग गया, एक को हैज़ा हो गया, एकको उलटी–क्रै हो गयी, इन सबके लिये पूर्व जन्ममें क्या किया गया था ? यह सब बताये बिना ही पूर्वजन्म और परजन्मकी बात निरर्थक है। मन्वादिने अपने ग्रन्थोंमें किस कर्मका क्या फल होता है, यह विवेचना की है, परन्तु मनु ही तो भगवान् नहीं था। वह तो राजा था। जगन्नाथ–जगत्पति नहीं था। बुद्धिमान् तो जगत्पतिकी व्यवस्था उसीके मुंहसे सुनना चाहते हैं। लाखों वर्ष बीत गये, उनकी चाह पूर्ण नहीं हुई। अतः देहात्मवादमें या आत्मानित्यत्ववादमें ये दोनों दोष सर्वथा निरर्थक हैं। भगवान् भी यही मानते थे अतः इन दोषोंकी ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। अर्जुन भी इन दोषोंको तुच्छ मानता था अतः इस वादका स्वीकार करनेमें उसे न तो दुःख हुआ, न भय और न लज्जा हुई।

भगवान् स्वर्गनामका कोई लोक मानते थे या नहीं, यह तो अलग बात है। परन्तु वर्तमान धर्माचार्योंने तो सुखविशेषको ही स्वर्ग और दुःख विशेषको ही नरक बताया है। अतः स्वर्ग, नरक आदिकी कल्पनाएं भी मनुष्यको हैरान करनेके लिये ही की गयी हैं। कल्पना करनेवालोंका कुछ स्वार्थ अवश्य ही सिद्ध होता रहा होगा।

तृतीयाध्यायका आरम्भ अर्जुनके कृष्णको दिये हुए उपालम्भसे होता है। अर्जुन व्यग्र तो था ही। कृष्णके मुखसे कुछ बुद्धिका माहात्म्य सुन लिया, कुछ ज्ञानका गौरव सुन लिया, वह खिजला गया। उसने कहा, जनार्दन, तुम यह करते क्या हो? कभी कर्म-माहात्म्य सुनाते हो तो कभी बुद्धिमाहात्म्य। इस खिचड़िया-उपदेशसे मेरी बुद्धिको क्यों भ्रष्ट करते हो? स्वयं निश्चय करके एक बात ही कहो न!

तब भगवान्ने ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दो निष्ठाओंका कथन किया—

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेण योगिनाम् ॥३।३॥

यहांपर ज्ञाननिष्ठाका अर्थ **तटस्थता** है और कर्मनिष्ठा कर्मयोगार्थक है। कर्म अवश्य कर्तव्य है इसीलिये भगवान्ने कहा कि कर्म न करनेसे तटस्थता नहीं सिद्ध हो सकती।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ॥३।४॥

यहां नैष्कर्म्यका मुख्य अर्थ ब्रह्मत्व है। परन्तु ब्रह्मत्वका भावार्थ तटस्थता ही है। क्योंकि ब्रह्मत्वप्राप्तिका अभी तक यहां कोई प्रसङ्ग नहीं है। ज्ञाननिष्ठा—तटस्थताका प्रसङ्ग उपस्थित है। अतः

कहा कि कर्मोंके अनारम्भमात्रसे कोई तटस्थताका अनुभव नहीं कर सकता। कर्म करके तटस्थ रहना सीखो। यहांसे आगे कर्मका ही माहात्म्य वर्णित हुआ है। उन धूर्तोंकी भी पोल खोली गयी है जो बकवृत्ति वाले हैं। आंख बन्द करके बैठकर, लोगोंकी आंखोंमें अपनेको आत्मनिष्ठ बताकर, वस्तुतः विषयचिन्तन करते रहने वालोंको भगवान्ने मिथ्याचार (३।६) कह कर बहुत ही अच्छा किया है।

आगे कहा गया कि कर्म बन्धन करने वाले तो होते हैं परन्तु वे ही कर्म बन्धन देते हैं जो यज्ञरूप नहीं है। अतः यज्ञार्थ कर्म करनेकी आज्ञा हुई है (३।९)। यहां पर अवश्य ही यज्ञशब्दसे श्रौत यागादिक अपेक्षित नहीं हैं। भगवान् ऐसे कर्मोंको करनेवालोंको मूर्ख और भ्रान्त समझते थे। अतः यज्ञका अर्थ यहां **परोपकाररूप** कर्म है। वक्ताके शब्दसे अर्थ निकालनेकी अपेक्षा उसकी रुचि, उसके झुकाव, उसकी प्रकृति, उसके उपक्रमके अनुसार अर्थ करनेमें ही सच्ची योग्यता है। १० से १३ श्लोकोंतक प्रजापतिके वचनोंका उपन्यास हुआ है। प्रजापतिने कहा था कि हे मनुष्यो, तुम देवोंको, विद्वानोंको, गुणियोंको पूजो। वे लोग तुमारा सत्कार और हित करेंगे। परस्पर उपकारकी भावनासे कर्म करते रहोगे तो सुखी रहोगे। देवोंके पास जो कुछ हो और वह तुमारे पास न हो तो वह उस वस्तुको तुम्हें देंगे। उनके अपेक्षित वस्तुको तुम दो और उनके वस्तुको पुनः लौटा दो। परोपकार करके ही खाना सीखो। जो केवल अपना पेट भरता है वह पेटमें अन्न नहीं भरता, प्रत्युत पाप भरता है। कृष्णने उचित रीतिसे इस प्रजापति वचनका समर्थन करके प्रजाको परोपकारकी ओर ही झुकानेका प्रयत्न किया है। भगवान्ने अपना उदाहरण

सामने रखकर कहा कि मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिये। सब कुछ मेरे पास है। तो भी मैं कर्म करता ही रहता हूं। मुझे कर्म करते देखकर इतर लोग भी कर्ममें प्रवृत्त होंगे (३।२१)। यदि मैं आलसी बन जाऊँ और कर्म करना बन्द कर दूँ तो अर्जुन, सभी मनुष्य आलसी बन जायंगे; क्योंकि लोग मुझे आदर और आदर्शकी दृष्टि-से देखते हैं।

२६वें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि जो अज्ञानी कर्मसङ्गी हैं उनकी बुद्धिमें विक्षेप नहीं उत्पन्न करना चाहिये। यहांपर भगवान् भीरु बन गये हैं। यह अच्छा नहीं हुआ है। सम्यग्दृष्टिसे यदि विदित हो कि अमुक मनुष्य किसी अयोग्य कर्ममें निरत है तो उसे वहांसे अवश्य ही पृथक् करना चाहिये। भगवान् कहते हैं कि बुद्धि-भेद उसका नहीं करना चाहिये। अवश्य ही यह उत्तम प्रणालिका नहीं है।

२७वें श्लोकमें कहा कि अहङ्कारसे जिनकी बुद्धि विमूढ़ हो गयी है वे लोग यह मानते हैं कि कर्मोंके करने वाले हम ही हैं। वस्तुतः प्रकृतिके गुण ही सभी कर्मोंको करते हैं। यहां प्रकृतिशब्दसे सत्त्वरजस्तमः की साम्यावस्थाका ग्रहण नहीं है, प्रत्युत इन्द्रियोंको उत्पन्न करने वाले अपञ्चीकृतभूत तथा स्थूलदेहको उत्पन्न करनेवाले पञ्चीकृतभूतका ग्रहण है। गुण शब्दका अर्थ देह और इन्द्रिय है। तब भगवान्का यह आशय सिद्ध हुआ कि देह और इन्द्रिय ही कर्मकर्ता हैं, आत्मा नहीं। आत्माको उपनिषदोंने अकर्ता माना है। तब कोई तो कर्मकर्ता होना ही चाहिये। अतः देह और इन्द्रियोंको ही कर्ता मान लिया है। कर्तामें चैतन्यका होना आवश्यक है। अतः देह और

इन्द्रियोंमें चैतन्यका स्वीकार भी करना ही होगा। हो सकता है कि भगवान्ने अर्जुनको कहा था कि "**अथ चैनं नित्यजातम्**" (२।२६)। इसी सिद्धान्तको यहां स्वयं भी मानने लग गये हों। तब उनका आशय यह भी होना ही चाहिये कि देहनिर्माणकालमें जब प्रकृति देहके विविध अवयवों, नस-नाडियोंको यथास्थान नियुक्त करती है तब अवयवोंके संयोगसे चेतनाकी उत्पत्ति हो जाती है। चूना और हल्दीके संयोगसे लाली प्रकट होती ही है। दही और गोबरके संयोगसे बिच्छू उत्पन्न होता ही है। घड़ीके पुर्ज़े जब उचित रूपमें संयुक्त होते हैं तो उनमें क्रिया उत्पन्न होती ही है। दक्षिण हैदराबादके म्युज़ियममें हमने देखा है कि जब २, ४, १०, १२ इत्यादि बजनेका समय होता है तब एक यान्त्रिक आदमी वहां निकल आता है और उतने घण्टे बजाकर पुन अदृश्य हो जाता है। भगवान् भी देहावयवसंयोगसे देहमें और इन्द्रियोंमें चेतनोत्पत्ति मान रहे हैं।

इसी तात्पर्यको विशद करनेकेलिये अ... कहा गया कि गुण—देहादि, इन्द्रियादि, गुणोंमें—कर्मोंमें प्रवृत्त हैं अर्थात् इन्द्रियादि ही क्रिया करते हैं ऐसा मानकर विद्वान् गुणकर्मके विभागके पचड़ेमें नहीं पड़ता (३।२८, २९)।

इसी अध्यायमें यह भी कहा गया है कि

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३।३५॥

अर्थात् अपना धर्म निकृष्ट हो और परधर्म उत्कृष्ट हो तब भी स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, उसीमें मर जाना चाहिये।

परधर्म भयावह है। यह उक्ति कदाचित् उस समयके लिये—युद्ध-के लिये केवल अर्जुनके लिये तो उपयुक्त हो सकती हो, परन्तु सामान्यतः इस उपदेशसे प्रजाका पतन होगा। स्वधर्म और परधर्म जैसा कोई वस्तु ही नहीं है। सब स्वधर्म हैं और सब परधर्म हैं। समय, परिस्थिति, आवश्यकता स्वधर्मको परधर्म और परधर्मको स्व-धर्म बनाती हैं। मनुष्यका तो यह कर्तव्य है कि जिस धर्म-प्रवृत्ति,-क्रिया-कर्मसे अपना उत्थान होता हो उसका स्वी-कार करे और जिससे पतन होता हो उसका परित्याग करे।

चतुर्थाध्यायके आरम्भमें ही भगवान्ने कहा कि इस कर्मयोगका मैंने पहले विवस्वान्को उपदेश किया था, विवस्वान्ने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको। इसी परम्परासे राजर्षियोंने इसे प्राप्त किया था। बहुत काल बीत चुका। यह योग नष्ट हो गया। उसे मैं आज तुझे फिर कहता हूँ; क्योंकि तू मेरा भक्त है, सखा है (४।१,२,३)।

मैं समझता हूँ कि जिस प्रकारका कर्मयोग श्री कृष्णको इष्ट है वह कर्मयोग विवस्वान्, मनु आदिको अविदित ही था। यदि विदित होता तो मनु अपने धर्मशास्त्रमें उसका निर्देश करता। विवस्वान्के पश्चात् प्रवृत्त अनेक धर्मग्रन्थ जो आज भी उपलब्ध हैं, किसीमें भी इस कर्मयोगका पता नहीं लग रहा है। अतः भगवान्का यह कथन अर्जुनको युद्धोन्मुख बनानेके लिये ही है।

दूसरी बात यह है कि कृष्णके कथनसे यह प्रतीत हो रहा है कि यह कर्मयोग केवल क्षत्रियोंकेलिये ही है, ब्राह्मणादिकोंकेलिये नहीं। इसीलिये **राजर्षयो विदुः** (४।२) कहा है, **ब्रह्मर्षयो विदुः** (४।२) नहीं कहा।

इसी अध्यायमें ईश्वरावतारवादके प्रवर्तक और समर्थक सर्व-प्रसिद्ध ये दो श्लोक विद्यमान हैं––

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥४।७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥४।८॥

इन दोनों श्लोकोंमें जो शब्द हैं वह ईश्वरकेलिये नहीं हैं कृष्णकेलिये हैं । कृष्ण अपनेको ईश्वर मानते हों तो यह पृथक् वस्तु है । पन्द्रहवें अध्यायमें उहोंने अपनेको स्पष्टरूपसे ईश्वर कहा है ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते ॥१५।१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१५।१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः १५।१८॥

यहांपर भगवान्‌ने कहा है कि जगत्‌में दो पुरुष माने गये हैं । एक क्षर पुरुष है दूसरा अक्षर पुरुष है । इन दोनोंसे पृथक् एक पुरुष और है जो परमात्मा कहा जाता है । वही ईश्वर भी कहा जाता है । मैं स्वयं भी क्षर और अक्षरसे पृथक् हूँ अतः लोक और वेदोंमें मैं पुरुषोत्तम कहा जाता हूँ । इन श्लोकोंने अनेक विचारोंको जन्म दिया है । गीता प्रायेण सांख्यानुसारी तत्त्वोंसे परिपूर्ण है । परन्तु मालूम होता है यहांपर सांख्यकी अवहेलना की गयी है । सांख्यने कभी भी क्षरको–भूतसमाज को पुरुष शब्दसे निर्दिष्ट नहीं किया

है । भगवान् सर्वभूतोंको क्षर कहते हैं । वह क्षर भी एक पुरुष है । कूटस्थको अक्षर कह रहे हैं । संभव है कि सांख्यको स्मरण करके यहां आत्माकेलिये कूटस्थ शब्दका प्रयोग किया गया हो । क्योंकि उस मतमें प्रकृतिको ही कर्तृत्व है, पुरुष को नहीं । यथा–

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥सां०का० १९॥
तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥सां०का० २०॥

अतः आत्मा कूटस्थ है और वही अक्षर है । सांख्यने प्रायः ईश्वरका स्वीकार नहीं किया है । परन्तु भगवान् इसमें थोड़ा जोड़ते हैं और कहते हैं कि इन क्षर पुरष और और अक्षर पुरुष=भूत पुरुष और तटस्थ पुरुषसे भी भिन्न एक परमात्मा है, वही ईश्वर है । मैं भी ईश्वर ही हूं ।

इतना स्मरण रहे कि भगवान्ने यहां भूतोंके लिये भी पुरुष शब्दका व्यवहार किया है वह **पुरुष एवेदं सर्वम्** इस पुरुष सूक्तका अनुसरणमात्र है । विशिष्टाद्वैतवादियोंने भूत और जीव दोनोंको ईश्वरका शरीर मान लिया है । शरीर–शरीरीका अभेद भी स्वीकृत किया है । अतः उनके मतसे इस अभेदको लेकर भूत भी पुरुष कहा जा सकता है । अस्तु, मूलविषयपर आ जाना चाहिये । अभी तक अर्जुनको यह ज्ञान है ही नहीं कि कृष्ण परमात्मा हैं । ग्यारहवें अध्यायमें उसको यह ज्ञान कराया जायगा । यह कह सकते हैं कि अर्जुनको कृष्णके ईश्वरत्वका ज्ञान हो या न हो, कृष्णको स्व–रूपका ज्ञान है अतः उन्होंने अपनेको ईश्वर समझकर ही उपर्युक्त दो श्लोकोंका उच्चारण किया है ।

अब उसका रहस्यार्थ देखें। भगवान् कहते हैं कि अधर्मकी वृद्धि और धर्मक्षय देख कर मैं अधर्मको दबाने और धर्मका उत्थान करनेकेलिये युग—युगमें—समय समय पर अपनेको प्रकट करता हूं। यह कथन गीतामें कहे गये हुए—गाये गये हुए—ईश्वरसामर्थ्यसे विरुद्ध है। जो एकादश अध्यायके अनुसार सर्वसामर्थ्यपूर्ण है, जो जगत्का सर्व व्यवहार अदृश्य होकर ही चलाता है; उसे दुष्कर्मियोंका विनाश करनेके लिये शरीरी बनने और जीववत् व्यवहार करनेमें आनन्द क्या मिला? वह तो **भ्रामयन् सर्वभूतानि**—सब जीवोंको कठपुतली-के समान नचानेके लिये सबके हृदयदेशमें बैठा हुआ है। तनिक प्रेरणासे महाभारतयुद्धका होना असम्भव हो सकता था। दुर्योधनके मनमें ऐसी प्रेरणा करनी थी कि जिससे वह धर्ममार्गमें आ जाता। किसी आदर्शसिद्धिके लिये युद्ध कराना और स्वयं शरीरी होकर आना आवश्यक माना जाना भी व्यर्थ है। किसी अन्य उत्तम आदर्शके साथ युद्धका भी आदर्श, परपत्नीको अपमानित करनेका आदर्श, शत्रु-मित्रभावका आदर्श भी तो उपस्थित हो गया। यह तो किसी प्रका-रसे भी अच्छा नहीं हुआ। ईश्वरावतारवादके समर्थनके लिये कोई भी युक्तियुक्त और बुद्धिग्राह्य न तर्क है, न युक्ति है। ईश्वरावतारका यहाँ वर्णन केवल इस लिये हुआ हैं कि हिन्दू धर्ममें ईश्वरावतार माना गया है। हिन्दू धर्ममें जो कुछ माना गया है युक्त या अयुक्त, तर्क-हीन या तर्कसंगत, सबका संग्रह करना ही गीताका ध्येय है। इन श्लोकोंका बुद्धिगम्य तात्पर्य इतना ही है कि अधर्मका नाश करनेके लिये महापुरुष अपनेको सदा तत्पर रखते हैं। अधर्मका नाश महा-पुरुषोंका कर्तव्य है। इससे अतिरिक्त ईश्वरके अवतारकी कल्पना करना भी ईश्वरके लिये अश्रेयस्कर है।

आगे चल कर थोडी सी योगदर्शनकी बातें करके और थोडी सी श्रद्धाकी बातें करके यज्ञ और अश्रद्दधानके नाशका संकेत करके अध्यायकी समाप्ति की गयी है।

पञ्चमध्यायका आरम्भ अर्जुनके प्रश्नसे होता है। कर्मसंन्यास श्रेष्ठ है या कर्मयोग? यह अर्जुनका प्रश्न है। अर्जुनको मूर्ख सिद्ध करनेके लिये ही उसके मुखसे यह प्रश्न कराया गया है। कर्मसंन्यासका उपदेश कृष्णने कभी भी कहीं पर भी अर्जुनको किया ही नहीं है। **न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्** (३।५) कहनेवाले कृष्ण, अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करानेके लिये ही सतत प्रयत्न करनेवाले कृष्ण, कर्मसंन्यासकी बात कर ही नहीं सकते। तो भी यहां बेचारे अर्जुनसे कर्मसंन्यासकी योग्यता और युक्तताका प्रश्न कराया गया है। **सांख्ययोगौ पृथग्बालाः** (५।४) इस श्लोकका उत्थान व्यर्थमें ही हुआ है। इसे दृष्टान्त बनाकर ही संगत कहा जा सकता है। जैसे लोग–मूर्खलोग सांख्य–ज्ञानको और अष्टाङ्गयोग ज्ञानको पृथक् मानते हैं परन्तु वस्तुतः वह दोनों पृथक् नहीं हैं। सांख्यके अनुगमन से और योगके अनुगमनसे समान ही फलकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार कर्मफलसंन्यास और कर्मयोग दोनों एक ही वस्तु हैं। किंच कर्मयोगके विना कर्मफलसंन्यास हो ही कैसे सकता है? अनेक भाष्यकारों और टीकाकारोंने जहां जहां गीतामें संन्यास शब्द देखा है, वहाँ वहाँ यतिका विवरण किया है। यह तो सम्प्रदायवृद्धिकी बात हुई। यहां यतिका सम्बन्ध ही क्या है? क्या दण्डी और त्रिदण्डी भीष्म और कर्णके साथ या अर्जुन और भीमके साथ युद्ध करने जायगा? गीता मुक्तिका उपदेश देती है परन्तु गीता यह कभी नहीं

कहती है कि जगत् बाबाजी बन जायगा तभी उसकी मुक्ति होगी। कृष्ण परोपकाररूप कर्मसे ही मुक्ति, सिद्धि, शान्ति आदि मानते हैं। इस सम्पूर्ण अध्यायमें कर्मकी ओर ही प्रेरणा दी गयी है। कर्मफलकी लिप्साका निषेध यह समस्त गीताका मधुर स्वर है।

१४ से १६ वें श्लोक तक बहुत ही आवश्यक वस्तुका भगवान्ने स्फोट किया है। लिखा है—प्रभु—परमेश्वर किसी भी जीवके लिये न तो कर्तृत्वका सर्जन-निर्माण करता है और न कर्मोंका। एवं कर्मफल संयोगका भी वह निर्माण नहीं करता। सामान्य रीतिसे सर्वत्र लोक और शास्त्रमें यह प्रसिद्ध है कि ईश्वरकी प्रेरणासे ही जीव किसी भी कर्ममें प्रवृत्त होता है और ईश्वर ही उसका फल देता है। पूर्वजन्मोंके कर्मके अनुसार ही इस जन्ममें कर्मोंकी भी सूची ईश्वरने बनाकर जीव के माथेमें लटका दी है। कृष्ण इस सिद्धान्तका खण्डन कर रहे हैं। वह कहते हैं कि परमेश्वर न तो किसीको किसी भी सत् या असत् कर्मकी प्रेरणा करता है और न किसीके लिये किसी कर्मका निर्माण करता है। इतना ही नहीं, सुख—दुःख—हानि—लाभ आदि जो कुछ यहां इष्ट या अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है उससे भी ईश्वरका कोई सम्बन्ध नहीं हैं (५।१४)। यह सब तो स्वाभाविक हुआ करता है। मीमांसक कहते हैं कि कर्मफलके लिये ईश्वर—स्वीकारकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। कर्म स्वभावतः फल देते ही हैं। पढ़नेवालेको विद्या आवेगी ही। चलनेवालेको गन्तव्य स्थान मिलेगा ही। श्रम करनेवालेको रोटी मिलेगी ही। क्रोध करनेवालेको प्रतिक्रोध मिलेगा ही। निन्दक और द्वेषीको भी उसका प्रतिफल अवश्य प्राप्त होगा। आंख बन्द करके चलनेवालेको ठोकर लगेगी ही, कांटे चुभेंगे ही।

व्यभिचारीका अंग सड़ेगा ही, दुराचारी निन्दनीय होगा ही, सदाचारी पूजा प्राप्त करेगा ही। इसमें ईश्वरको क्या आवश्यकता है? वही बात यहांपर भगवान् भी कहते हैं।

दूसरी एक भावना यह प्रचलित है, कृष्णने भी इसका अनुमोदन आगे चल कर किया ही है, कि शुभ अथवा अशुभ जो भी कर्म हों उन्हें भगवानको अर्पित कर दो, बस, तुम कर्मके बन्धनसे छूट जाओगे। इस भावनाका भी खण्डन यहां किया गया है कि, भगवान् न तो किसीका पाप लेता है और न किसीका पुण्य। अज्ञानियोंने ही ऐसी बातोंका प्रचार कर रखा है। अतः जीव कुछ भी करता है वह अपने सुखके लिये, अपनी शान्तिके लिये करता है, इतना ही सत्य है। कोई परोपकार करता ह, किसीके दुःखमें सहायक होता है वह भी अपनी ही शान्तिके लिये। उसके हृदयमें दूसरोंके दुःखसे दया पैदा हुई। दया दयालुके हृदयमें पीड़ा, अशान्ति, उद्वेग पैदा करती है। परसेवा पर-उपकार करके ही उसका हृदय निष्पीड बनता है और शान्त बनता है। अतः अन्योंको जो आनन्द होता है, शान्ति मिलती है वह तो उस परोपकारका गौण और नियत फल है। अतः भगवान्ने यहां-पर पुण्य—पापका भगवान्को अर्पण करदेनेका निषेध किया है।

लोगोंने भगवान्को भारवाह बना रखा है। जीव प्रयत्न करके शान्ति चाहता है, निवृत्ति चाहता है तो क्या परमेश्वरको शान्ति और निवृत्तिकी इच्छा नहीं होगी? रात-दिन, युग-युग, अखण्ड रीतिसे उसे अनन्त जीवोंके पाप-पुण्यकी गणना करते रहना, सबको सुखदुःख देते रहना, किसीको मारना; किसीको जिलाना, किसीको खिलाना, किसी-को भूखे मारना, किसीको रोगी बनाना और किसीको रोगमुक्त करना

ये सब काम हमने उसे सौंप दिये हैं। वह कुछ करता भी है या नहीं, इसे जाने विना भी हम सब भार उसी पर छोड़ते रहते हैं। भगवान्ने स्पष्ट कह दिया कि—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥५।१५॥

आगे चल कर जो यहां भगवान्ने कहा कि **यत्करोषि यदश्नासि** (९।२७) अर्थात् हे अर्जुन तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता–पीता है, जो परोपकार करता है, जो कुछ दान करता है, उसे तू मुझे सौंप दे, इसका आशय तो इतना ही है कि तू अपने किसी परोपकार कर्मके फलकी आशा न रख। तूने किसीका उपकार किया है, इसका स्मरण भी न कर। यह तो तेरा कर्तव्य है।

आगे चल कर भगवान्ने ज्ञानोदयकी बात की है और कहा है कि—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥५।१८॥

विद्या और विनयसे सम्पन्न किसी भी जन और ब्राह्मणमें, गाय और हाथीमें, कुत्ता और डोममें विद्वान् लोग विवेकी लोग समदर्शी होते हैं। यहां विद्या–विनय–सम्पन्न यह ब्राह्मणका विशेषण नहीं है। ब्राह्मण तो विद्या–विनय–सम्पन्न होता ही है। ब्राह्मणातिरिक्त क्षत्रियादि भी विद्या–विनय–सम्पन्न होते ही हैं। अतः यह विशेषण व्यभिचारी है। अतः विद्या विनयसे सम्पन्न चाहे ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय हो, चाहे वैश्य हो, चाहे शूद्र हो, चाहे अतिशूद्र हो, चाहे हिन्दू हो,

चाहे मुसलमान हो, चाहे खिस्ती हो. चाहे जैन और बौद्ध हो और चाहे पारसी आदि हो, सबमें वही भाव, आद,र प्रेम, रखना चाहिये जो ब्राह्मणमें रखा जाता है। गाय पूज्य है तो हाथी दण्ड्य है, ऐसा तो नहीं ही है। दोनोंमें समदर्शी बनना चाहिये। कुत्ता पालनीय है तो चाण्डाल परिहरणीय है, यह भी नहीं है। सबको समानभावसे देखना चाहिये। सबमें अभिन्न दृष्टि रखनी चाहिये। जगत्में मनुष्य सभी समान हैं। सबको आवश्यकताएँ हैं। आवश्यकताओंकी पूर्तिसे सबको समान ही सन्तोष होता है। अतः समानभावसे सदा परोपकारमें निरत रहना ही मानव धर्म है। यही इस श्लोकसे गीताचार्यने कहा है। ऐसे पवित्र विचारोंसे, पवित्र कार्योंसे, पवित्र व्यवहारसे मनुष्यके अन्तःकरणकी शुद्धि होती हैं। हृदयकी शुद्धि ही मुक्तिमें मुख्य हेतु है। यदि मुक्ति—मोक्ष जैसी कोई स्थिति है तो उसकी प्राप्ति केवल मानसिक शुद्धिसे होती है। अन्य उपाय निरर्थक हैं। अतः काम—क्रोध—लोभ—मोह—मत्सर आदि विकारोंका, कल्मषोंका त्याग करनेवाला ही ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है यह इस अध्यायका निचोड़ है।

छट्ठे अध्यायका आरम्भ भगवान् स्वयं ही करते हैं। इस अध्यायमें पिष्टपेषणके अतिरिक्त थोड़ी सी योगकी बात की गयी है। प्राणायामादिके लिये कैसा आसन बिछाना चाहिये, इसका भी उल्लेख किया गया है। क्योंकि गीता केवल हिन्दू धर्म और हिन्दू रूढियोंका एक निर्विकल्प चित्रके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। गीताका कर्मयोग ही मुख्य विषय है। भक्ति तो कर्मयोगमें प्रवृत्ति करानेके लिये ही एक साधनके रूपमें गीतामें आयी है। गीताकी यह भक्ति श्रीकृष्णकी आज्ञाके पालनके रूपमें ही परिणत है। यही भक्तिका मुख्य स्वरूप

गीताप्रतिपादित है। भक्तिके विषयमें अधिक जाननेके लिये मेरा भक्ति-शास्त्र पढ़ना चाहिये।

भगवद्गीताके सप्तम अध्यायमें भक्तिका प्रतिपादन करना है। भक्ति तब तक किसीके प्रति हो ही नहीं सकती जब तक गुणदर्शन न हो। भक्तिका पूर्णतया विवेचन मैंने भक्तिशास्त्रमें किया है। भक्तिका रहस्य वहां ही देखना चाहिये। यहां तो गीताकी भक्तिका विवेचन करना है। भक्तिकी उत्पत्तिके लिये ही इस अध्यायमें श्री कृष्णभगवान्ने ज्ञान—विज्ञानकी बातका आरम्भ किया है। जीव और प्रकृतिको अपनी प्रकृति कहा है। भूमि, जल, अनल, अनिल, आकाश, मन, बुद्धि, अहङ्कार इन आठोंको अपनी प्रकृति बता कर जीवको भी प्रकृतिमें ही गिन लिया है। प्रकृतिका अर्थ यहां पर सृष्टिकी सामग्री है। **एतद्योनीनि भूतानि** कहकर सम्पूर्ण जगत्का इन्हीं दो प्रकृतियोंको कारण बताया गया है। कृष्णने अपनेको समस्त जगत्का प्रभव बताया है। प्रथम प्रकृत्यष्टक जगन्निर्माणका साधन है। द्वितीय जीवरूपा प्रकृति जगत्की स्थितिका कारण है। यदि जीव-सत्ता न हो तो यह घट है, यह पट है, यह शत्रु है, यह मित्र है, यह पिता है, यह माता है, ये सब व्यवहार असम्भव हो जायं। इस व्यवहाराभावमें जगत्का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। अतः भगवान्ने जीवरूपा प्रकृतिके लिये कहा कि **ययेदं धार्यते जगत्** जो जीवप्रकृति इस जगत्का धारण कर रही है। यहां यह भी तात्पर्य है कि यदि जीव न हो तो जगत् निरुपयोगी बन जाता है। अतः जगत्की स्थिति जीवकी स्थितिपर ही निर्भर है, यह भगवान्का तात्पर्य है। यह सब कह कर भक्तिको अङ्कुरित करनेके लिये कहा गया

कि **मत्तः परतरं नान्यत्** मुझसे परतर—श्रेष्ठ कोई तत्त्व है ही नहीं। अङ्कुरित भक्तिको श्रद्धा-जलदानके निमित्त **रसोहमप्सु** (७।८) से **ये चैव सात्त्विका भावाः** (७।१२) तक अपना वैभव वर्णन करके, अपने विरोधियोंका स्मरण करके अपने भक्तोंका विभाग किया है। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी ये चार प्रकारके भक्त बताये गये हैं। इनमें अनन्य-भक्ति-सम्पन्न ज्ञानीको मुख्य कहा गया है। अथवा अनन्य भक्तका-नाम-ज्ञानी है और वही सर्वश्रेष्ठ है। भगवान्‌ने यह भी कहा कि अन्य तीन भक्त भी अच्छे ही हैं परन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। इस अध्यायसे भगवान्‌ने भक्तिकी प्राणप्रतिष्ठा की है। संभव है कि श्रीकृष्णके समयमें भी वासुदेवकी उपासना चलती रही हो। अथवा श्रीकृष्ण ही उस उपासनाके स्थापक रहे हों। अत एव **वासुदेवः सर्वम्** इस भावको भगवान्‌ने बहुत स्पष्ट रीतिसे व्यक्त किया है। भिन्न भिन्न देवोंकी सकाम उपासनाका भी यहां वर्णन हुआ है। परन्तु विभिन्न देवोंकी उपासनाका फल तत्तत् देवोंकी प्राप्ति ही है, भगवत्प्राप्ति तो भगवान्‌की ही उपासनासे कही गयी है। **मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते** कह कर भगवत्प्राप्तिका आदेश दिया गया है। यह अध्याय भगवान् कृष्णके लिये बहुत उपयोगी है। अर्जुनको युद्धमें घसीट ले जानेके लिये इसी अध्यायसे सुन्दर उपक्रम हुआ है।

अष्टम अध्यायमें कृष्णने अपनेको ओम्‌स्वरूप बताया है। **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्** (८।१३) कहकर **ओम्**का उच्चारण और अपने स्मरणका उपदेश देकर व्याहर्तव्य और स्मर्तव्यकी एकताका—अभिन्नताका विधान किया हैं। थोड़ी

सी यहां भी आत्मश्लाघा की है। इस अध्यायमें भी प्रलोभनकी पर्याप्त सामग्री है। उपनिषदोंसे प्रभावान्वित होकर शुक्ल कृष्ण गतिका भी यहां वर्णन है। यह बहुत उपयोगी नहीं प्रतीत होता। संभव है कि श्रीकृष्णकी दृष्टिसे युद्ध दीर्घकाल चलनेवाला प्रतीत हुआ हो और तब तक उत्तरायणके प्रारम्भकी आशा भगवान्‌को रही हो इस लिये इन दोनों मार्गोंका भी वर्णन करके युद्धमें अर्जुनको खींचनेकी एक युक्तिकी रचना की गयी हो।

ये दोनों गतियां उपनिषद्‌में भी वर्णित हैं। मेरी मतिसे यह निरर्थक वस्तु है। इससे आवृत्ति और अनावृत्तिका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। उपनिषदोंका अनुकरणमात्र हुआ है। अथवा जैसा पूर्वमें कहा गया है, उत्तरायणमास थोडा सा समीप आता देख कर, दक्षिणायनको समाप्त होता देखकर उत्तरायणमें मरनेवालेकी मुक्तिका प्रतिपादन कर दिया हो।

नवम अध्यायमें भी भगवान्‌ने अर्जुनको स्ववशमें करनेकेलिये बहुत सी सामग्री भरी है। संभव है कि अर्जुन शक्तिका उपासक रहा हो अतः भगवान्‌ने उसे—

येप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥९।२३॥

अन्य देवताकी उपासना करनेवाले भी जिस किसी रीतिसे मेरी ही उपासना करते हैं, यह कहकर अपनी ओर खींचनेका प्रयास किया हो। मालूम होता है कि इसीलिये युद्धारम्भमें भगवान्‌ने अर्जुनसे देवीस्तुति भी करायी थी। **'न मे भक्तः प्रणश्यति' (९।३१) मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युःपापयोनयः। स्त्रियो**

वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम् (९।३२) किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा । (९।३३) इत्यादि कहकर अर्जुनके मनको अपनेमें सुदृढ करनेका भगवान्‌ने इस अध्यायमें भी पुष्कल प्रयास किया है ।

दशम अध्यायमें भी अर्जुनको युद्धमें प्रेरित करनेका उत्तम प्रयास है । परन्तु यहांपर थोडी-सी असावधानी होने से ११वें अध्यायसे थोड़ासा विरोध भी आ गया है । यहां अर्जुनसे कहलाया गया है कि—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१०।१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१०।१३॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ॥१०।१४॥

हे कृष्ण, आप परम पवित्र पर ब्रह्म हैं, पर धाम हैं । असित, देवल, व्यास, आदि ऋषियोंने तथा देवर्षि नारदने भी आपको शाश्वत, दिव्य, आदिदेव, अज, विभु आदि कहा है। आप भी अपनेको ऐसा ही कह रहे हैं, अतः मैं आपके वचनको सत्य ही मानता हूँ । यदि अर्जुनको यह सब ज्ञान होता तो वह एकादश अध्याय में कभी भी यह न कहता कि—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ११।४१॥

यदि वह जानता ही था कि कृष्ण परब्रह्म हैं तब **अजानता महिमानम्** वह कह ही कैसे सकता था ? यही क्यों ? चतुर्थाध्यायमें वह यह कैसे पूछ सकता था कि—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४।४।।

यदि वह कृष्णको परब्रह्मरूपसे जानता होता तो उनकी आज्ञाको तत्काल ही मान लेता । **यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः** इस सन्देहकेलिये कोई अवसर ही नहीं हो सकता था । जहां ब्रह्म सारथि बनकर बैठा हो वहां पराजयकी शङ्का ही कैसे हो सकती थी ? अतः बहुत स्पष्ट है कि दशम अध्यायके १२वें श्लोकको अर्जुनसे बोलानेमें असावधानी हुई है ।

इस अध्यायमें अन्त तक कृष्णने अपनी विभूतियोंका दिग्-दर्शन कराया है । एकादश अध्यायमें जादूका दर्शन कराया है । ये दोनों अध्याय तात्त्विकरूपसे तत्त्ववेत्ताओंकेलिये आकर्षक नहीं हैं । एकादश अध्यायके जादूके प्रयोग (ऐन्द्रजालिक प्रयोग) अर्जुनकेलिये तो किसी कामके नहीं थे । अर्जुनको एक दिव्य चक्षु (११।८) दिया गया था । उसीसे उसने उस जादूके तमाशेको देखा था । परन्तु पीछेसे अर्जुनकी व्याकुलता देखकर भगवान्ने अपने उस स्वरूपको छिपा लिया था और वही मानुष्यरूप उपस्थित कर दिया था। वह दिव्यदृष्टि चली गयी थी । अत एव अर्जुन वह सब भूल गया था । कहींपर भी वह आगे चलकर विराट्स्वरूप-दर्शनका स्मरण नहीं करता है । अतः अर्जुनको इससे कोई लाभ नहीं हुआ । संभव है कि वह अध्याय पीछेसे लिखा गया हो । चाहे जब लिखा गया हो

इस झगड़ेमें न पड़कर मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि यह अध्याय अर्जुनकेलिये निरर्थक है।

द्वादश अध्यायका आरम्भ बहुत ही विषम है। अर्जुनने केवल यहां ही विराट्रूपका स्मरण किया और पूछा कि—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१२।१॥

इस प्रकार साकार विराट्स्वरूपवाले आपकी जो उपासना करते हैं और जो अक्षर अव्यक्तकी उपासना करते हैं, उनमेंसे भक्तियोगवित्तम—सर्वश्रेष्ठ भक्तियोगी कौन हैं? यहांपर विचार यह करना है कि अक्षर, और अव्यक्तके साथ **त्वाम्** का सम्बन्ध करना है या नहीं? यदि **त्वाम्के** साथ उत्तरार्धका अर्थ किया जाय तो वह ऐसा होगा—अक्षर और अव्यक्त आपकी जो उपासना करते हैं और जैसा मैंने देखा है उस विराट्स्वरूपधारी आपकी जो उपासना करते हैं, इन दोनोंमें भक्तियोगवित्तम कौन हैं"! भगवान्ने जो उत्तर दिया है वह बहुत अटपटा है। वह कहते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।१२।२॥

जो मुझमें मन लगाकर मेरी उपासना करते हैं वे युक्ततम है। तथा

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥१२।३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥१२।४॥

जो अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्रग, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, अक्षरकी उपासना करते हैं वे सर्वभूतहितमें रत मुझे ही प्राप्त होते हैं। यहां **ते प्राप्नुवन्ति मामेव** में विचार करना है कि **एव**-का अन्वय किसके साथ है? जहां वह है उसीके—**माम्**—के साथ अन्वय करें तो अर्थ होगा —वे मुझे ही प्राप्त होते हैं।" **प्राप्नुवन्ति** के साथ अन्वय करें तो अर्थ होगा—'वे मुझे प्राप्त होते ही हैं'। **ते** के साथ सम्बन्ध करें तो अर्थ होगा—'वे ही मुझे प्राप्त करते हैं।' तीनों अर्थोंमें वैलक्षण्य है। यदि 'अक्षरोपासक मुझे ही प्राप्त होते हैं' यह अर्थ करें तो यह सिद्ध होगा कि विराट्स्वरूप-वालेकी उपासना करनेवाले किसी और को भी प्राप्त करते होंगे। यदि 'अक्षरोपासक मुझे प्राप्त करते ही हैं' यह अर्थ करेंगे तो यह सिद्ध होगा कि विराट्स्वरूपके उपासक ईश्वरको प्राप्त करते हैं, इसमें सन्देह ही है, निश्चय नहीं। यदि 'अक्षरोपासक ही मुझे प्राप्त करते हैं' यह अर्थ करें तो विराट्-स्वरूपोपासक ईश्वरप्राप्ति नहीं कर सकते, यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है। अतः इस **एव** के अन्वयका विचार करना ही है।

प्रथम तो यह देखना है कि अर्जुनके प्रश्नका उत्तर यहां समीचीनतया हो रहा है या नहीं? उसने पूछा है कि दोनों स्वरूपोंके उपासकोंमेंसे योगवित्तम कौन हैं? भगवान्का उत्तर है कि जो मुझमें मन लगाकर श्रद्धासे मेरी उपासना करते हैं वे **युक्ततम** हैं। प्रश्न है **योगवित्तम कौन हैं**। उत्तर है **मेरे उपासक युक्ततम हैं**। **आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे** वाली यह बात हुई। पूछा कि आमका

क्या भाव है तो उत्तर मिला कि कचनार दो पैसे सेर है। इस अयुक्तताको दूर करनेके लिये उपाय यह है कि **योगवित्तम** और **युक्ततम**को एकार्थक मान लिया जाय। तब उत्तर ठीकठीक हो गया कि जो मुझमें मन लगागर श्रद्धासे मेरी उपासना करते हैं वे **योगवित्तम** हैं। **युक्ततम**का अर्थ **योगवित्तम** हुआ और **योगवित्तम**का अर्थ **युक्ततम** हुआ। अजुनके प्रश्नका उत्तर समाप्त हो गया। अब अपनी ओरसे भगवान् कहते हैं कि किन्तु जो अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे मुझे ही प्राप्त होते हैं (१२।३–४)। इससे यह सिद्ध हो रहा है कि उपासना विराटस्वरूपकी नहीं करनी चाहिये किन्तु अक्षर ब्रह्मकी ही करनी चाहिये। ऐसे उपासक मुझे ही प्राप्त होते हैं। इस **ये त्वक्षरमनिर्देश्यम्** (१२।३) श्लोकमें **माम्** पद नहीं है। अतः "मुझ अक्षरकी जो उपासना करते हैं" यह अर्थ नहीं किया जा सकता। तब **माम्–अस्मच्छब्द**बोध्य कृष्ण छूट जाते हैं और अक्षरब्रह्म गृहीत होता है। परन्तु आगे कह दिया कि **ते प्राप्नुवन्ति मामेव** वह मुझे ही प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि **अक्षरम्**का विशेष्य **माम्** इस श्लोकमें रखना ही चाहिये। तथा **एव**का सम्बन्ध **माम्**के साथ ही रहना चाहिये। तथा **ते** के आगे एक **अपि**का अध्याहार करके वे भी मुझे ही प्राप्त करते है। यह अर्थ करना चाहिये। अर्थात् अक्षर स्वरूप भी मेरा ही है। विराट्स्वरूप भी मेरा ही है। अक्षरस्वरूपके उपासक भी मुझे ही प्राप्त करते हैं और विराट् साकार स्वरूपके उपासक भी मुझे ही प्राप्त करते हैं। अन्तर इतना ही है कि अक्षरोपासकको देहाभिमानत्याग, कर्माभिमानत्याग, विद्याभिमानत्याग, वित्ताभिमानत्याग, कामक्रोधरागद्वेषाद्यभिमान-

त्याग इत्यादि करनेमें कष्ट बहुत होता है (१२।५) किन्तु जो साकार विराट्स्वरूपके उपासक हैं वे ये सब न करें और जो कुछ करें उसे मुझपर छोड़ दें तो, और अनन्य भक्तिसे मेरी उपासना करते रहें तो, उनका उद्धार जरूर मैं कर देता हूँ। यहांपर यह कहा गया है कि अक्षरोपासक अपने बलसे मुक्ति पाता है और विराट्स्वरूपोपासक सर्वकर्मार्पण करके उपास्यके बलसे मुक्ति पाता है।

परन्तु '**ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य** (१२।६) यह कथन **नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुम्** (५।१५)से विरुद्ध है। भगवान्ने स्पष्ट कह दिया है कि वह न तो किसी का पाप लेता है और न पुण्य। तब **ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य** (१२।६) का समन्वय कैसे हो सकता है? पञ्चमाध्यायमें ही **ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन** (५।१०) यह भी श्लोक है जो उसी अध्यायके **नादत्ते कस्यचित्पापम्** के साथ टकराता है। यदि **ब्रह्मण्याधाय** का अर्थ **मनसि विचार्य**—मनमें विचार करके—सोच समझकर, यह अर्थ किया जाय तो वह विरोध दूर किया जा सकता है। परन्तु यदि **ब्रह्मन्** शब्द का अर्थ **मनस्** किये जानेमें कोई विवाद न हो तो।

१२ वें अध्यायमें आगे चलकर कहा गया है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत उर्ध्वं न संशयः ॥१२।८॥

अर्थात् हे अर्जुन मुझमें ही तू मनको लगा और मुझमें ही तू अपनी बुद्धिको भी लगा दे। यहां **आधत्स्व** इस क्रियापदका केवल

आधान करना अर्थ नहीं हो सकता प्रत्युत अव्यवहित उत्तर श्लोकके—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ १२।९॥

पूर्वार्धके साथ संगति लगानेके लिये स्थिर आधान—दृढ आधान करना अर्थ करना चाहिये। अर्थात् 'अर्जुन, मुझमें तू अपने मनको दृढतापूर्वक लगा दे' यह अर्थ **मय्येव मन आधत्स्व** का करना चाहिये।

इस अध्यायके ८ वें श्लोक तक उपासनाकी बात करके भगवान्‌ने ९ वें श्लोकसे दिक्परिवर्तन कर दिया और भक्तिके थोड़े थोड़े दर्शनसे प्रसन्न होने वाले भक्तोंके हृदयको तोड़ दिया। वह कहते हैं—

'यदि तू मुझमें स्थिर चित्त न लगा सके तो अभ्यासयोगसे मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न कर (१२।९)। यदि अभ्यास करनेमें भी तू असमर्थ हो तो मत्कर्मपरायण बन जा क्योंकि **मदर्थ** भी कर्मोंको करनेवाला तू सिद्धि मुक्तिको पा लेगा (१२।१०)। और यदि तू **मदर्थ** कर्म करनेमें भी अशक्त हो तो मेरे बताये हुए योग-कर्मयोगका आश्रय लेकर सर्वकर्मफलत्याग कर दे (१२।११)' भगवान् यहांपर ज्ञान, भक्ति सब छोड़कर सर्वकर्मफलत्यागपर ही बल लगा रहे हैं। यह उचित भी है। भक्तिकी बात भी तो कर्मयोगकी ओर अर्जुनको ले जानेकेलिये एक साधनमात्र है। वह मुख्य वस्तु नहीं है। यदि गीतामें भक्ति मुख्य वस्तु हो और वह पत्र-पुष्प-फल-तोय आदिके

अर्पणसे ही सिद्ध हुई मानी जाती हो तो युद्धकालमें उसका उपदेश करना और पुनः पुनः **युद्धयस्व**-युद्धकर कहते जाना अत्यन्त असंगत है। हां, जैसा मैंने अनेक स्थलों में लिखा है, भक्तिशास्त्रमें भी प्रतिपादन किया है कि किसीकी आज्ञाका पालन करना ही उसकी भक्ति है। भक्तिका यही स्वरूप मानलिया जाय तो संगति लग सकती है, तथापि उस भक्तिका परिणाम गीतामें युद्धके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

यहां इतना तो स्मरण रखना ही चाहिये कि भगवान् अपने किसी भी भक्तको निष्क्रिय बना कर केवल कृष्ण कृष्ण कहना नहीं सिखा रहे हैं। उन्होंने अक्षर—अव्यक्तोपासकोंके लिये भी कहा है कि **सर्वभूतहिते रताः** वह सर्व प्राणियोंके कल्याण करनेमें लगा रहे। अर्थात् भगवान्की आज्ञाके अनुसार सर्व—जन—कल्याणकारक कर्मोंका करनेवाला ही मद्भक्त—भगवद्भक्त है, यह भगवान्का दृढ मत है।

आगे चलकर भगवान् उपासनाकी बात उड़ा देते हैं और कहते हैं कि अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यानसे कर्मफल—त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्यागसे ही तत्काल शान्ति प्राप्त होती है। (१२।१२)। यहां केवल ज्ञान, ध्यान, त्याग यह त्रिपुटी ही रह गयी है। भक्तिको ढूंढना हो तो इन्हीं तीनोंमें कहीं उसे ढूंढ निकालना चाहिये। अथवा तो भगवदाज्ञाका पालन करना ही भगवद्भक्ति है, यह मानकर कर्मफल—त्यागको ही भक्ति मानकर सन्तोष करना चाहिये।

यहां यह भी विचार करना है कि ध्यानशब्दसे भगवान् को कौनसा अर्थ इष्ट है और उस ज्ञानका स्वरूप क्या है जिसकी अपेक्षा

ध्यान श्रेष्ठ है। तथा यह भी देखना है कि यह ध्यान अप्रस्तुत होनेपर भी यहां कैसे आ सका है।

पहले ज्ञानशब्दका विचार करें। भगवान्‌ने पहले कहा है कि ज्ञानके सदृश कोई भी अन्य वस्तु पवित्र नहीं है (४।३८)। यह भी कहा कि ज्ञानाग्नि सर्व कर्मोंको भस्म कर देता है (४।३७)। ज्ञानीको भगवान्‌ने अपना आत्मा ही बताया है (७।१८)। इन वचनोंसे तो यह सिद्ध है कि ज्ञानसे अधिक कोई उत्तम वस्तु नहीं हैं। परन्तु यह ज्ञान है क्या ? इसका उत्तर है—बुद्धियोग = साम्य बुद्धि ( )। **बुद्धौ शरणमन्विच्छ** (२।४९) **बुद्धियुक्तो जहातीह** (२।५०) **सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते** (४।३३) इत्यादि श्लोकोंमें जो ज्ञान और बुद्धिशब्द आये हैं वह दोनों ही बुद्धियोग अर्थात् साम्यबुद्धिके लिये ही आये हैं। उस ज्ञानका यहां प्रस्तुत श्लोकमें सम्बन्ध नहीं है। यदि उसी ज्ञानसे ध्यानको प्रशस्त माना गया हो तो ज्ञानका गाया हुआ निखिल माहात्म्य अकिञ्चित्कर हो जाता है। अतः यहां पर ज्ञानशब्दका एक दूसरा ही अर्थ है। वह क्या है, उसे सुनें। ज्ञानका अर्थ यहां चिन्तन है। अभ्यासका अर्थ पुनः पुनः ध्येयमें चित्तका स्थापन है। ज्ञान अभ्याससे श्रेष्ठ है। क्योंकि अभ्यासके पश्चात् ही चिन्तनका आरम्भ होता है। अर्थात् चिन्तनस्थितिके लिये ही अभ्यासका उपयोग है। अतः अभ्याससे चिन्तन (ज्ञान) श्रेष्ठ है। अभ्यास प्राथमिक अवस्था है। चिन्तन मध्यकालीन स्थिति है। अतः अभ्याससे ज्ञानको श्रेष्ठ कहा है। इस ज्ञान (चिन्तन) से ध्यान श्रेष्ठ है। ध्येयसिद्धिकी आतुरताका नाम ध्यान है। ध्येयकी सिद्धिके लिये ही अनेक उपायोंका संयोजन ध्यान शब्दका उपलब्धार्थ

है। ध्येय-चिन्तनसे ध्येयकी प्राप्तिकी दृढता आती है। जब यह दृढ हो जाय कि अमुक वस्तु ही मुझे प्राप्तव्य है अथवा अमुकवस्तु मुझे प्राप्तव्य ही है तब वह उसकी प्राप्तिके उपायकी ओर जाता है। अतः उपायसंयोजन ही ध्यान है। उपायसंयोजन ही कर्म है। उस कर्मके करनेसे जो फल प्राप्त किया जा सकता है उसका त्याग अवश्य ही ध्यानसे-उपायसंयोजनसे-कर्मसे श्रेष्ठ है। इसे ठीक समझनेके लिये यह क्रम स्मृतिमें रहना चाहिये—

अभ्यास (पुनः = पुनः ध्येयमें चित्तस्थापन) = कर्तव्य है।
ज्ञान (ध्येयचिन्तन)—अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है।
ध्यान (उपायसंयोजन = कर्म)—ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है।
त्याग (कर्मफलत्याग)—ध्यानसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है।

एक बात और कहकर इस अध्यायकी विवेचनाको पूर्ण करूँगा। भगवान्‌ने **मय्येव मन आधत्स्व** (१२।८) में कहा कि मुझमें ही मन दृढरूपसे लगा। **अथ चित्तं समाधातुम्** (१२।९) और यदि मुझमें स्थिर चित्त न लगा सके तो अभ्यास कर। यहां पूर्व-श्लोकमें **मन** शब्द है और उत्तर श्लोकमें **चित्त** शब्द है। और निश्चय ही चित्त शब्द मनके लिये ही प्रयुक्त हुआ है। अतः ध्यान रखना चाहिये कि भगवान्‌के मतसे मन और चित्त दो पृथक् तत्त्व नहीं हैं। संकल्पविकल्पात्मक मन कहा जाता है और निश्चय करने वाली बुद्धि कही जाती है। यह विवेक भगवान्‌को इष्ट नहीं है। कमसे कम यहां तो इष्ट नहीं ही है।

यहां १० वें श्लोकमें **मत्कर्मपरमो भव** कहा है और वहां ही उत्तरार्धमें **मदर्थमपि कर्माणि** कहा गया है। यहां विचार यह

करना है कि यहां पर **मत्कर्म** और **मदर्थ** इन दो शब्दोंसे भगवान्‌का क्या तात्पर्य है। मत्कर्मका सीधा सादा अर्थ है मत्सम्बन्धी कर्म अथवा मन्निमित्तक कर्म। मदर्थका भी मन्निमित्तक कर्म ही अर्थ है। **मदर्थ** शब्दके अनुसन्धानसे मत्कर्मका भी मदर्थ ही अर्थात् मन्निमित्तक कर्म ही अर्थ करना उत्तम है। अब प्रश्न यह है कि भगवन्निमित्तक—भगवदर्थ कर्म कोई हो सकता है या नहीं? भगवान् परिपूर्णकाम है। **नानवाप्तमवाप्तव्यम्** के अनुसार उसे कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं है जिसकी प्राप्तिके लिये वह प्रयत्न करे, या उसके भक्त प्रयत्न करें। इस प्रश्नका उत्तर यह है कि मत्कर्मका अर्थ है—मत्प्रसादनार्थं कर्म=मेरी प्रसन्नताके लिये कर्म। **मदर्थ** का अर्थ है कि **मत्प्रसत्तिः अर्थः यस्य** = जिससे मेरी प्रसन्नता हो। अब स्पष्ट हो गया कि भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि यदि तू कर्म—युद्ध कर्म नहीं भी करना चाहता हो तो भी मेरी प्रसन्नताके लिये कर। मेरी आज्ञाके पालन करनेसे मैं प्रसन्न हूँगा। इसी अर्थ में ये दोनों शब्द यहां प्रयुक्त हुए हैं।

त्रयोदश अध्यायका आरम्भ अस्वाभाविक है। इसमें वर्णित प्रसङ्ग और उपदेशके लिये कोई कारण उपस्थित नहीं है। तथापि भगवान्‌ने इसका आरम्भ किया है। यह क्षेत्रा याय है। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसे इस अध्यायका आरम्भ हुआ है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी विवेचना अद्वैतवादियों और विशिष्टाद्वैतवादियोंका अखाड़ा बन गया है। इससे लाभ या तो सर्वथा ही नहीं है, अथवा अत्यल्प लाभ है। इस अध्यायमें जीवनको स्पर्श करनेवाले थोड़ेसे तत्त्वोंका निर्देश अवश्य हुआ है। उन्हींपर मैं विचार करूँगा। मैं क्षेत्र—क्षेत्रज्ञके विचारका इस लिये

नहीं स्पर्श करना चाहता हूँ कि भगवान्ने स्वयं कह दिया है कि **ऋषिभिर्बहुधा गीतम्** (१३।४) ऋषियोंने इसका वर्णन बहुत प्रकारोंमे किया है। इतना ही नहीं, **विविधैः छन्दोभिः** (१३।४) विविध रुचियोंसे किया है। जिसे जैसा अच्छा लगा उस रीतिसे ऋषियोंने इसके स्वरूपका निर्णय किया है। छन्दस्‌का अर्थ यहां न तो वेद है और न उपनिषद् है। ऋषिकर्ता हैं और छन्द करण हैं— साधन हैं। इस लिये छन्दस्‌का अर्थ यहांपर रुचि ही है। छन्द और छन्दस शब्द दोनों ही रुचि अर्थमें प्रयुक्त होते रहते हैं। **छन्दः पद्येभिलाषे च' 'अभिप्रायश्छन्द आशयः'** (अमर०) **'छन्दः पद्ये वेदे च स्वैराचाराभिलाषयोः** (मेदिनी०) इन कोषवचनोंसे स्पष्ट है कि छन्दका अर्थ अभिप्राय होता है। जिस महर्षिको जैसा अच्छा लगा, उसी अभिप्रायके द्वारा क्षेत्रादिका वर्णन किया। किसीको कुछ निश्चित ज्ञान था ही नहीं। इस विषयमें कोई भी ज्ञान निश्चित कहा भी नहीं जा सकता है। अतः मैंने इसे इच्छापूर्वक छोड़ दिया है। इस अध्यायमें——

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥९॥

ये तीन श्लोक त्रिरत्नोंके समान हैं। जीवनपर इनका प्रभाव पड़ना ही चाहिये। जो आत्मोत्थानकी ओर जाना चाहें, जो आत्मो-

न्नतिकी इच्छा रखते हों उन्हें अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षान्ति, आर्जव, आचार्योपासन, शौच, स्थैर्य, आत्म (मन)—विनिग्रह, वैराग्य, अनहंकार, जन्ममें मृत्यु-जरा व्याधि-दुःख आदिका दर्शन, पुत्र-दार-गृहादिमें असक्ति-अनभिष्वंग, इष्टानिष्टकी प्राप्तिमें समचित्तता इन चौदह रत्नोंका अपनेमें आवाहन और स्थापन करना ही चाहिये।

१३वें श्लोकसे १७वें श्लोकतक आत्माके स्वरूपका वर्णन हुआ है। उसमें कुछ नवीनता नहीं है। इतना ही अधिक प्रतीत होता है कि यहां आत्मा (पुरुष) को सर्वव्यापक (विभुपरिमाण) मान लिया गया है। वेदोंके पुरुषसूक्त और नासदीयसूक्तकी भी यहां झलक दिखाई पड़ जाती है।

२०वां और २१वां ये दो श्लोक बड़े महत्त्वके कहे जा सकते हैं; परन्तु वह सांख्यानुसारी हैं और **प्रकृत्या क्रियमाणानि** (   ) के अर्थको ही रूपान्तरसे कहते हैं। वह श्लोक ये हैं—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

२०वें श्लोकमें **कार्यकरणकर्तृत्वे** और **कार्यकारणकर्तृत्वे** दोनों ही पाठ हैं। दोनों ही पाठों में **करण** और **कारण** साधनार्थक ही हैं। अतः श्लोकका अर्थ यह होता है कि किसी भी कार्यमें करणोंको—इन्द्रियोंको जो कर्तृत्व प्राप्त है उसमें कारण केवल प्रकृति है। प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है। तात्पर्य यह है कि किसी भी क्रिया-को करनेवाले केवल इन्द्रिय हैं—अन्य कोई नहीं। परन्तु इन्द्रिय जड

हैं। उनमें कर्तृत्व कैसे आ सकेगा? इस शङ्काके समाधानके लिये भगवान्‌ने कहा 'स्वभाव ही कारण है'। अर्थात् स्वभावसे ही इन्द्रियोंमें कर्तृत्व आता है। **स्वभावस्तु प्रवर्तते** ( ) पीछे भी कहा ही गया है। इसीका नाम है इन्द्रियात्मवाद। सुख-दुःखका भोक्ता इन्द्रियगण ही है या अन्य कोई? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि वे ही इन्द्रिय सुखदुःखके भोक्तृत्वमें भी हेतु हैं। जो कर्मकर्ता है उसीको फलभोक्ता भी होना चाहिये। अन्य कर्मकर्ता हो और अन्य फलभोक्ता हो तो सृष्टि बहुत दिनों तक टिक नहीं सकती। अतः जिन इन्द्रियोंने कर्म किया है वे ही इन्द्रिय उन कर्मोंके फलस्वरूप सुख और दुःखके भोक्ता भी हैं। यहां **पुरुष** शब्द श्लोकमें आया है। वह भले आत्माका ही वाचक रहे। इन्द्रिय ही तो आत्मा है। **पुरि-शरीरे शेते इति पुरुषः**। शरीरमें रहनेवालेको पुरुष कहते हैं। इन्द्रिय शरीरमें ही रहते हैं। अन्यत्र उनका निवास असम्भव है। अतः वही सुखदुःखभोक्ता हैं। अथवा पुरुषशब्दसे यहां मनका ग्रहण है। मन इन्द्रियोंका स्वामी है। मनकी प्रेरणासे ही इन्द्रिय क्रियाशील बनते हैं। मनकी सुषुप्तिमें सभी इन्द्रिय सुषुप्त हो जाते हैं। अतः सुख-दुःखका भोक्ता मन है। यजुर्वेदमें भी यही कहा है कि मनके विना कोई भी क्रिया नहीं होती। पुरुष शब्दका मन अर्थ करनेके लिये **पुरूणि सिनाति बध्नाति इति पुरुषः**—बहुतोंके साथ सम्बन्ध रखनेवालेको पुरुष कहते हैं। मन ही एक ऐसा तत्त्व है जो सब इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध रखता है। मनके सम्बन्धसे ही आंखें देखती हैं, कान सुनते हैं, नाक सूंघती , रसना स्वाद लेती है

और त्वक् स्पर्शज्ञान करती है। जब मन क्रियाशील नहीं होता और इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध नहीं रखता तो सभी इन्द्रियव्यापार बन्द हो जाते हैं। पुरुषशब्दका मन अर्थ करनेसे वह दोष भी नहीं आता कि कर्मोंका कर्ता अन्य है तो उनका फलभोक्ता अन्य कैसे हो सकता है? अब इस श्लोकका अर्थ यह समझना चाहिये—"किसी कार्यमें इन्द्रिय स्वभावसे ही कर्ता हैं और सुख-दुःखके भोगनमें भी वही कर्ता हैं। मन भी इन्द्रिय ही है अतः इन्द्रिय ही भोक्ता भी हुआ।

परन्तु २१वां श्लोक कहता है कि—'पुरुष प्रकृतिस्थ होकर प्रकृतिज गुणोंका भोग करता है। तथा पुरुष सद् असत् योनियोंमें पशुपक्ष्यादि निकृष्ट योनियोंमें तथा मनुष्यरूप उत्कृष्ट योनिमें जन्म लेता है उसमें कारण है—गुणसङ्ग—प्रकृतिका संग। यहां थोड़ा अधिक विचार करना है।

पुरुषका अर्थ यहांपर भी मन ही है। प्रकृतिस्थ और प्रकृतिज इस रीतिसे दो स्थलोंपर प्रकृतिशब्द प्रयुक्त हुआ है। दोनोंके अर्थोंमें अन्तर है। प्रकृतिस्थमें रहनेवाले प्रकृतिशब्दका अर्थ है **स्वभावस्थ**। प्रकृतिज्के प्रकृतिका अर्थ है—प्र+कृति प्रकृष्ट कर्म। प्रकृष्ट कर्मका अर्थ है—वे कर्म जिनका फल मिल सकता है। गुणशब्दका अर्थ है फल। इस श्लोकके पूर्वार्द्धका अर्थ यह हुआ—"अपने स्वभावमें स्थित मन उत्कृष्ट-निकृष्ट कर्मोंके फलोंका भोग करता है।" मनका स्वभाव है कर्मफलोंका अनुभव करना। उत्तरार्ध बहुत अप्राकरणिक है। इसमें जन्म और योनिका विचार किया गया है। कहा गया है कि

सद्—असत् योनियोंमें पुरुषका जन्म होता है उसका कारण तो गुण-संग है। जैसे गुणोंका—धर्मोंका वह चिन्तन करेगा उसीके अनुसार वह नीच बनेगा या ऊँच बनेगा। वस्तुतः यहां योनि शब्द पश्वादि योनियोंका वाचक नहीं है। वह कारणवाचक है। **योनिः कारणे भगतोययोः"** यह हेमानुशासन तथा **शास्त्रयोनित्वात्** यह व्यासमूत्र मेरे कथनमें प्रमाण हैं। अब उत्तरार्धका अर्थ यह हुआ—सत्-सत्कर्म, असत्-असत्कर्मके कारणोंके जन्ममें—कारणोंकी उत्पत्तिमें गुणसंग कारण है।' अर्थात् सत्कर्मका कारण है सद्विचार—सात्त्विक भाव। असत्कर्मका कारण है असद्विचार—तामसभाव। सद्विचार अथवा सात्त्विकभावरूप, असद्विचार अथवा तामसभावरूप कारणोंके जन्ममें गुणसंग ही हेतु है। जैसे गुणोंका धर्मोंका—विचारोंका संग होगा वैसे ही सत्—असत्कर्मके कारण (सात्विक अथवा तामस भाव) उत्पन्न होंगे। भगवान् कहना यह चाहते हैं कि—फलप्रदयोग्यतावाले कर्मोंसे पैदा हुए फलोंका मन स्वाभाविक रीतिसे उपगभो करता है। वे फल दुःखरूप भी होते हैं, सुखरूप भी। सत्कर्मका फल सुख और असत्कर्मका फल दुःख। इन सत् असत् कर्मोंके कारण हैं सात्त्विकभाव और तामसभाव। इन दोनों कारणोंके जन्ममें गुणसंग ही हेतु है। यदिसात्त्विक गुणोंका—सात्त्विक धर्मोंका चिन्तन किया जायगा तो सात्त्विक भाव उत्पन्न होकर सत्कर्म करावेगा यदि तामस गुणोंका—तामसधर्मोंका चिन्तन किया जायगा तो तामसभाव उत्पन्न होकर असत्कर्म करावेगा। यदि उपर्युक्त ७वें, ८वें, ९वें श्लोकोंको इसके साथ जोड़ दिया जाय तो अर्थ बहुत सुन्दर निकल आवेगा। अमानित्वादि १४ रत्न सात्त्विक

है। इनके सेवनसे सात्त्विकभावोत्पत्ति होती है। इनके विरुद्ध मानित्व-दम्भित्वादि १४ के सेवनसे तामसभावोत्पत्ति होगी। सत्कर्ममें अमानित्वादि हेतु हैं और असत्कर्ममें मानित्वादि हेतु हैं। इन अमानित्व और मानित्वकी उत्पत्तिमें गुणसंग हेतु है। गुणशब्दसे गुणीका-व्यक्तिका ग्रहण करना है। जिस गुणवालेका संग किया जायगा वैसे ही धर्म—गुण उत्पन्न होंगे।

अद्वैतमतके अनुसार आत्माको अकर्ता बनानेकेलिये यहां भी कहा गया है कि—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥१३।२९॥

कर्मोंका कर्ता आत्मा नहीं है किन्तु प्रकृति है। प्रकृतिशब्दसे प्रकृतिजन्य देह और इन्द्रियोंका ग्रहण है। कर्मकर्ता देह है अथवा इन्द्रिय हैं, आत्मा कर्ता नहीं है, ऐसा जो समझता है वही सच्चा समझदार है। यहांपर भी गीताके पूर्वषट्कमें कहे हुए देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनआत्मवाद आदिका पुनरावर्तन हुआ है। चतुर्दश अध्यायमें भी **'नान्यः गुणेभ्यः कर्तारम्'** (१४।१९) से इसी देहात्मवादादिका पुनरुच्चारण किया गया है।

इस अध्यायको समाप्त करते हुए भगवान् पुनर्जन्मका अभाव सिद्ध करते हैं। वह कहते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥१३॥३१॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥१३॥३२॥

आत्मा ही परमात्मा है। वह निर्गुण है। शरीरमें रहकर भी वह शरीरके कर्मोंसे सम्बद्ध नहीं होता। जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान है परन्तु किसीके भी दोष और गुणसे वह उपलिप्त नहीं होता वैसे ही देहमें सर्वत्र रहा हुआ आत्मा भी देह-कर्मफलसे लिप्त नहीं होता। यदि वह कर्मसे लिप्त नहीं है तो उसका पुनर्जन्म भी नहीं है, यह स्वतः सिद्ध हुआ।

यहांपर भगवान्‌ने **देहे सर्वत्र अवस्थितः** कहा इससे आत्माका देहके प्रत्यंगमें स्थितिका बोध होता है। मालूम होता है भगवान् इस समय देहपरिमाण ही आत्माका परिमाण मान रहे हैं। अथवा मनको विभु ही मानकर देहमें सर्वत्र उसकी स्थितिका स्वीकार करते हैं। मीमांसक मनको विभु ही मानते हैं। किसी मीमांसकने मनोणुत्ववादी नैयायिकका परिहास निम्नलिखित पद्यसे किया है—

मनसः परमाणुतां वदन्तः कथमद्यापि न तार्किकास्त्रपन्ते।
कनकाचलजित्वरस्तनीनां रमणीनां यत्र संनिवासः॥

चतुर्दश अध्यायमें सत्त्व, रजस्, तमस् आदिका विवेचन हुआ है। इस अध्यायमें कोई बहुत बड़ा रहस्य नहीं है। गुणातीतके लक्षणोंसे मानवजीवनके स्तरको उच्च बनानेका आदर्श अवश्य यहां भी उपस्थित है।

पंचदशाध्याय बहुत प्रख्यात अध्याय है। इसपर थोड़ा सा विचार विशेषरूपसे करना होगा। जैसे त्रयोदशको क्षेत्राध्याय कहा गया है, वैसे इस अध्यायको अश्वत्थाध्याय कहें तो कोई अनुचित नहीं है। अर्जुनके लिये इस अध्यायकी भी आवश्यकता नहीं थी। परन्तु गीता एक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ है जिसमें हिन्दूधर्म की बड़ोसे बड़ी और छोटी

से छोटी तत्त्वकणिका भरी हुई है। संसारमेंसे वेदादि सभी ग्रन्थ यदि किसी कालमें नष्ट हो जायँ या नष्ट कर दिये जायँ और केवल गीता बच जाय या किसी एकको भी कण्ठस्थ रह जाय तो हिन्दूधर्मका चित्र सामने अवश्य रखा जा सकता है। हिन्दूधर्म ही नहीं, प्रत्युत ईश्वरवाद—अनीश्वरवाद, शाश्वत जीववाद—अनित्यजीववाद, देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनआत्मवाद, श्राद्ध, तर्पण, वर्णाश्रमधर्म, यतिधर्म, गृहस्थधर्म, राजधर्म, ज्ञान, भक्ति, योग, वैराग्य, भोजन-छाजन, गुरु-शिष्यव्यवहार, हिंसा, अहिंसा, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, पाप, पुण्य, कर्तव्य, अकर्तव्य सभी तत्त्व इस छोटे से ग्रन्थमें सुरक्षित हैं। संसारको वृक्षरूपसे वर्णन करनेकी एक वैदिक प्रथा है। वेदोंने उपनिषदोंने, महाभारतने भी संसारको वृक्ष रूप दिया है। किसीने इसे वटवृक्ष बनाया है, किसीने उदुम्बर (गूलर) वृक्ष बनाया है। भगवान् कृष्णने इसे अश्वत्थवृक्ष नाम दिया है। यह नाम नया नहीं है। कठोपनिषद्—(६।१) में भी इसे अश्वत्थ ही कहा गया है। इस पद्धतिसे गीता कैसे वञ्चित रखी जा सकती है। अतः भगवान्ने इसका भी वर्णन कर दिया। इसमें कोई विचित्र चमत्कार नहीं है। कोई तत्वज्ञान नहीं है। केवल प्राचीनकल्पनाका संग्रहमात्र ही प्रयोजन है।

इस संसारको वृक्षकी उपमा दी गयी है। संसारका कर्ता यदि कोई माना जाय तो उसे सर्वश्रेष्ठ ही मानना पड़ेगा। सर्वश्रेष्ठका आसन सर्वोच्च ही हो सकता है। अतः ईश्वरको कर्ता मानकर उस वृक्षको ऊर्ध्वमूल कहा गया है। ईश्वर ही जगत्का मूल मान लिया गया। यद्यपि ईश्वर मूल नहीं हो सकता। जीवोंका कर्म जगत्का मूल है।

जीवकृत कर्म न हों तो ईश्वर हाथपर हाथ रखे हुए बैठा ही रह जाय। अतः अवश्य ही जीवकर्म ही जगत्का मूल है। परन्तु यहां ईश्वरको महत्त्व देनेके लिये, कर्तृपद देनेके लिये उसे जगत्का मूल माना है। वह ऊपर आसमानमें रहता है, स्वर्ग ऊपर ही है, वैकुण्ठ ऊपर ही है, साकेत ऊपर ही है, गोलोक, शिवलोक आदि सब ऊपर ही माने गये हैं। ईश्वर भी ऊपर ही इन्हीं किन्हीं लोकोंमेंसे एक लोकमें रहता होगा। अतः इस वृक्षका मूल—निमित्तकारण ऊपर ऊर्ध्वभागमें है ऐसा मानकर ऊर्ध्वमूल कह दिया गया है। परन्तु ऐसा मानना नहीं है कि ईश्वरका कोई महल ह और ऊपर ही है। ईश्वर सर्वव्यापक है। उसका कोई मकान नहीं है, महल नहीं है। वह न तो पुत्रवाला है और न कलत्रवाला। उसकी न कोई माता है, और न पिता है। उसका न कोई वर्ण है और न आश्रम है। वह सर्व आधि, व्याधि, उपाधिसे सर्वथा पृथक् है। यदि वह है तो ऐसा ही है, नहीं है तो पिण्ड छूटा।

यह बात किसीके भी समझमें शीघ्र नहीं आ सकती कि जगत्का कर्ता ऊपर है तो उसके रचित वृक्षका मूल भी ऊपर ही क्यों होना चाहिये। वह सर्वशक्तिमान् अपने वृक्षका मूल नीचे भी तो बना सकता था। ऊपर ही क्यों उसका मूल बनाया?

यह बात भी किसीकी समझमें शीघ्र नहीं आ सकेगी कि संसार—वृक्षको अव्यय—अविनाशी क्यों कहा गया जब कि हम नित्य संसारका नाश देखते हैं।

यह बात भी किसीकी समझमें शीघ्र नहीं आ सकेगी कि इस वृक्षका नाम अस्वत्थ क्यों रखा? अ+श्व+स्थ=जो कल्ह भी न रहे

वह अश्वत्थ है। अर्थात् क्षणभ र यदि। यह क्षणभङ्गुर है तो इसका विशेषण **अव्यय** क्यों दिया गया ?

यह बात भी किसीकी समझमें शीघ्र नहीं आ सकेगी कि क्षणभंगुर संसारवृक्ष—अश्वत्थके पत्र वेदोंको क्यों बताया ? क्या वेद भी क्षणभंगुर ही है ? और क्या जैसे असंगशस्त्रसे इस अश्वत्थको काटकर ब्रह्मपद प्राप्त करना है वैसे ही वेदोंको भी काटना ही है क्या ?

यह बात भी किसीकी समझमें शीघ्र नहीं आ सकेगी कि इस अश्वत्थका वेत्ता अश्वत्थवित् न होकर वेदवित् बन जाता है, ऐसा क्यों कहा गया ?

इस श्लोकपर यह पांच शंकाएँ हैं। इनका उत्तर यदि नहीं ढूंढा गया तो इस श्लोककी सैकड़ों व्याख्याएँ निरर्थक ही हैं।

मैं समझता हूँ कि भगवान्का आशय यहां संसार—वृक्ष वर्णन करनेमें नहीं है। वह देह—वृक्षका वर्णन करते हैं। देह—वृक्ष-का मूल अवश्य ही ऊर्ध्व-भागमें—मस्तकमें है। वेदोंने जिसे ब्राह्मण बताया है वही मुखभाग इस देह वृक्षका मूल है। दो हाथ, दो पैर यही चार इस देह वृक्षकी शाखाएं हैं जो नीचे लटक रही हैं। **छन्दांसि यस्य पर्णानि**—स्वतन्त्र रुचि—स्वतन्त्र व्यवहार-स्वेच्छापूर्वक विविध कर्म ही इस देहवृक्षके पत्ते हैं। इस देह वृक्षकी शाखाएं जैसे नीचे हैं वैसे ही ऊपर भी हैं—दोनों कान ऊपर ही हैं, नाक ऊपर ही है, आंखें ऊपर ही हैं, भृकुटि आदि ऊपर ही हैं, सिरके बाल भी ऊपर ही हैं। यही सब ऊपरकी फैली हुए शाखाएं हैं। मुख्य तात्पर्य यह है कि दो हाथ दो पैर नीचेकी शाखाएं हैं और आंख, कान नाक आदि ऊपरकी शाखाएं हैं। यही सब गुणोंसे प्रवृद्ध हैं—

सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणोंका संचार इन्हीं शाखाओंमें होता है। अतः आंखें कभी सद्वस्तु देखती हैं और कभी असद्वस्तु भी। कान कभी सच्छब्द भी सुनते हैं, कभी असच्छब्द भी। नाक कभी सद्गन्ध भी लेती है, कभी असद्गन्ध भी। तीनों गुणोंका विस्तार इन्हीं शाखाओंसे प्रतीत होता है। इन्द्रियोंके विषयोंका उपभोग भी यही नीचे ऊपरकी शाखाएं करती हैं। अतः इन शाखाओंके पत्ते चक्षुरादि इन्द्रियोंके रूपरसादि विषय भी हैं।

इस देह—वृक्षके मूल मनुष्यलोकमें कर्मानुबन्धी होकर फैले हुए हैं। कर्मानुबन्धी शब्दका अर्थ समझ लेना चाहिये। **कर्माणि अनुबन्ध्नन्तीति कर्मानुबन्धीनि** = नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध आदि जो बहुविध कर्म हैं, उन्हें बांधनेवाले अर्थात् कर्मोंको करनेवाले मूल नीचेकी ओर फैले हुए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वृक्षमूलमें से कितनी शाखाएं निकलती हैं जो मुख्यमूलको दृढ बनाती हैं। वटादिवृक्षमें यह मूल ऊपर निकले हुए अच्छी तरह देखे जाते हैं। निम्बादिवृक्षोंके मूलमेंसे भी शाखाएँ निकली हुई दीख पड़ती हैं। कभी कभी वे शाखाएँ भूमितलमें नीचे ही नीचे बहुत दूर तक फैलती चली जाती हैं। देहवृक्षमें कर्मको बांधनेवाले, कर्मोंको करानेवाले मूल हस्तपादादि कर्मेन्द्रिय हैं। वह कर्मेन्द्रिय अनुसन्तत हैं-सर्वत्र फैले हुए हैं। सर्वत्र फैले हुए हैं—इस कहनेका तात्पर्य यह है कि ये मूल चाहे जहां जाकर चाहे जो काम कर सकते हैं। दो कोस जाकर कोई धर्म कर्म भी कर सकते हैं और अधर्म कर्म भी।

देह—वृक्षका ही वर्णन गीतामें हुआ है, इसे मान लेनेपर ऊपरकी पांचों शंकाओंका मेरी दृष्टिमें सुन्दर और सरल समाधान हो

जाता है और मनुष्य जीवनके साथ इनका सम्बन्ध भी बन जाता है।

अब एक प्रश्न रह जाता है यह कि, देहवृक्षको अव्यय कैसे कह सकते हैं? यद्यपि इसका उत्तर यह भी हो सकता है कि जैसे संसार–वृक्षको अव्यय कह सकते हैं वैसे ही देह–वृक्षको भी अव्यय कह सकते हैं। कठोपनिषद्में इसे **सनातन** विशेषण दिया गया है। नित्य ही जो रहे उसे सनातन कहते हैं। नित्य रहनेवाला न तो संसार ही है और न शरीर ही। भगवान्ने सनातन विशेषणको छोड़कर **अव्यय** विशेषण दिया है। उसका तात्पर्य ढूँढनेका प्रयास करना चाहिये। एक तात्पर्य यह है कि जैसे संसार प्रवाहसे अनादि माना गया है वैसे ही देह भी प्रवाहसे अनादि है। जो वस्तु प्रवाहसे अनादि है वह प्रवाहसे ही अनन्त भी है। जगत् प्रवाहसे अनादि है इसका तात्पर्य यह है कि एक जगत् आया, नष्ट हो गया, दूसरा जगत् आया। फिर उसका भी अन्त हुआ तीसरा और चौथा आया। इस रीतिसे उत्पत्ति और विनाशका प्रवाह चल रहा है। रातके पश्चात् दिन और दिनके पश्चात् रात्रि और पुनः दिन, पुनः रात्रि। इसे प्रवाहानादित्व और प्रवाहनित्यत्व कहते हैं। यह देह भी प्रवाहसे **अव्यय** ही है। एक देह जाता है, दूसरा आता है। दूसरा जाता है, तीसरा आता है। जगत्में अनन्त देह आते और जाते रहते हैं। इस दृष्टिसे देह–वृक्षको अव्यय कहा है।

दूसरा तात्पर्य यह है कि चिरस्थायी वस्तुको भी अव्यय कहा जाता है। देह भी तो चिरस्थायी ही है। सौ वर्ष तक तो इसकी स्थिति नियत है। अल्पवयमें देह चला जाता है तथापि सामान्य

रीतिसे देह चिरस्थायी ही है । अत एव भी इसे अव्यय कहा जाता ह ।

तीसरा तात्पर्य यह है कि अव्यय शब्दमें नञ् समास है । न+व्यय = अव्यय । नञ्का अर्थ या तो आरोप है या अभाव है । अव्यय शब्दसे व्ययका आरोप किया जाता है । वस्तुतः व्यय नहीं होता है । यदि व्यय ही होता हो तो बालक बढ़कर युवा नहीं हो सकता । यह कहा जा सकता है कि मृत्युमें देहका व्यय देखा जाता ह । परन्तु प्रारम्भमें व्यय न हो वह अव्यय है अर्थ मान लिया जाय तो आपत्ति दूर की जा सकती है ।

भगवान्ने कठोपनिषद्के **सनातन** पदका ग्रहण नहीं किया है उसमें एक गूढ़ तात्पर्य छिपा हुआ है । कठोपनिषत् उसी अश्वत्थवृक्षको शुक्र, ब्रह्म, अमृत भी कहा है । यह भी कहा है कि **तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे** सब लोक उसीके आश्रित हैं । पुनः कहा **तदु नात्येति कश्चन**—उसका कोई अतिक्रमण न·ीं कर सकता । कठकी दृष्टि सम्पूर्णजगत्को ब्रह्मरूप देख रही है । अत एव उसमें लोकोंका आश्रय भी वह देख सकती है । उस ऋषिकी दृष्टिमें वह सनातन अवस्थवृक्ष ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं । श्रीकृष्ण देहवृक्षका वर्णन करते हैं और अन्तमें असङ्गरूपशस्त्रसे उसका छेदन करके तत्पदकी शोध करनेकी आज्ञा देते हैं । श्रीकृष्णका देहवृक्ष कठ या अन्योंके वृक्षसे उत्तम है ।

इस देहवृक्षका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते,
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ॥१५।३॥

यह देहवृक्ष जैसा है वैसा दृष्टिगत नहीं होता है। यह देह तो बहुत ही बीभत्स है। अस्थि, चर्म, मांस, मज्जा, रक्त, नस-नाड़ियों-का बना हुआ यह शरीर यदि चर्मरहित कर दिया जाय तो किसी भी अतिसुन्दरदेहके प्रति भी ग्लानि हुए विना नहीं रह सकती। इसीलिये तो भगवान् बुद्धने कहा है—

अट्ठी नहारु सञ्जुत्तो तचमंसावलेपनो।
छविया कायो पटिच्छन्नो यथाभूतं न दिस्सति॥

यह विजयसुत्तका वचन है। बुद्ध कहते हैं कि हड्डी-नसोंसे संयुक्त, चर्म और मांससे लिप्त और चमडेसे ही ढँका हुआ यह शरीर जैसा है वैसा दिखाई नहीं पड़ता।

भगवान् कहते हैं कि इस देहवृक्षका न तो आदि उपलब्ध होता है और न अन्त। अनादिकालसे इस देहवृक्षका प्रवाह चल रहा है। इसका अन्त कब होगा, कोई जानता ही नहीं है। अतः

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्
असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥१५।३॥

इस देह क्षके प्रति रही ममताका त्याग करना ही चाहिये। असंग-अनासक्तिरूप दृढशस्त्रसे इसका छेद करके **ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्**—उस परमपदकी ढूंढ़में निकलना चाहिये।

प्रसंग भी तो देहका ही है, जगत्—संसारका प्रसंग भी नहीं है। अर्जुनको दुःख है, चिन्ता है, शोक है, परिताप है स्वजनोंके देह के लिये; न कि संसारके लिये। अतः देह क्षका ही यहां वर्णन है।

अगले ७वें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥१५।७॥

जीव मेरा ही अंश है। कृष्णकी स्थितिका विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि वह ब्रह्मभावापन्न नहीं हैं। उनमें अहंभाव और ममभाव पुष्कलमात्रामें विद्यमान है तो भी वह अपनेको ईश्वरतो मान ही रहे हैं, यद्यपि उनके साथियोंमेंसे कोई भी उन्हें ईश्वर मानता नहीं देखा जा रहा है, **जीव मेरा ही अंश** है, और वह सनातन **जीवभूत** है, इन शब्दोंने साम्प्रदायिक जगत्में व्यग्रता उत्पन्न कर दी है। जीव मेरा ही अंश है, यह भाग बहुत आश्चर्यकारक नहीं है। अंशांशिभाव तो भिन्न वस्तुओंमें भी रहा करता है। अन्नके दो राशियोंमेंसे यह कहा जाता ही है कि यह मेरा अंश (भाग) है और यह चैत्रका अंश (भाग) है। पृथगवयवके अर्थमें यहां अंश शब्द नहीं है किन्तु भोग्य,नियोज्य आदिके अर्थमें आया हुआ है। परन्तु **जीवभूतः सनातनः** और **जीवलोके** ये तीन शब्द बहुत ही कलहकारी हैं। यदि भोग्य अर्थमें अंश शब्द यहां व्यवहृत हो तो **जीवलोके** कहना भी व्यर्थ है और **जीवभूतः** में भूत का उच्चारण भी व्यर्थ है। इससे यह तो प्रतीत हो रहा है कि कृष्ण जीवको औपाधिक मान रहे हैं। ब्रह्म ही औपाधिक जीव बन गया है। परन्तु आगेके उत्क्रमण (१५।८) आदिका सम्बन्ध औपाधिक जीवके साथ बैठता नहीं है। उत्क्रमणादि भी औपाधिक ही मान लिये जायं तो किसी भी तत्त्वका न तो तात्त्विक परिचय हो सकेगा और न निर्णय हो सकेगा। अतः यह मान लेना ही पड़ेगा कि **जीवभूतः**का भूत शब्द अधिक है। उसका कुछ अर्थ नहीं है।

जीवलोकेका सम्बन्ध **जीवभूतःके** साथ नहीं है। उसका सम्बन्ध उत्तरार्धके साथ है। **ममैव सनातनः अंशः जीवभूतः जीवलोके इन्द्रियाणि कर्षति** ऐसा अन्वय है। जीवलोकका अर्थ जगत् है। जगत्में वह जीव इन्द्रियोंको = प्रकृतिमें—प्रकृतिके विकारों में रमणकरनेवाले इन्द्रियोंको कर्षति—खींचता है = अलग करता है।

मै कहीं पहले कह आया हूं कि कृष्ण ऐसी स्थितिमें भी हैं जिसमें रहकर वह सबको अपने समान ही देख रहे हैं। इसमें एक प्रमाण तो यही है कि उन्होंने——

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥१५।८॥

इस श्लोकमें जीवके लिये भी ईश्वर शब्दका प्रयोग किया है। मैं तो कहता रहा हूं कि नरेशोंके लिये जिस ईश्वर शब्दका प्रयोग होता था वही पीछेसे ईश्वरके लिये भी प्रयुक्त होने लग गया। अथवा उन नरेशोंने ही ईश्वरके पदको ले लिया। अस्तु, कहनेका तात्पर्य यह है कि इस समय कृष्ण अपनेसे भिन्न किसी वस्तुका दर्शन नहीं कर रहे हैं अतः जीवको अपना अंश भी बताते हैं और अपना ही स्वरूप भी बताते हैं।

वह जीव ही शरीरका अधिष्ठाता है, स्वामी है, ईश्वर है अतः वह जहां जाता है, जो कुछ देखता है, जो कुछ विचारता है, जो कुछ करता है उसमें मन और इन्द्रियोंको भी खींचकर जोड़ देता है। अर्थात् मन और इन्द्रियोंके विना वह न तो कुछ सोच सकता है, न समझ सकता है, न विचार कर सकता है और न कुछ कर सकता है।

इस श्लोकके अर्थपर विचार करना आवश्यक है। इसका अर्थ है कि यह ईश्वर = जीव **यद् शरीरम् अवाप्नोति**—जिस शरीरको प्राप्त करता है और **यत् च अपि उत्क्रामति**—जिस शरीर को छोड़ देता है, **एतानि गृहीत्वा संयाति**—इन मन और इन्द्रियों-को लेकर जाता है। इसका बहुत ही सीधा तात्पर्य यही है कि जीव जिस शरीरको पाता है और जिसको छोड़ता हैं दोनोंमें मन और इन्द्रियोंको साथ रखता है। यहां शरीरका अर्थ शरीर नहीं है किन्तु वस्तु है। जिस वस्तुका ग्रहण करता है वहां भी मन और इन्द्रिय रहते हैं और जब उनको छोड़ता है तब भी वे वहीं रहते हैं। यदि मन न हो तो ग्रहण और त्याग दोनों अशक्य बन जायं। ग्रहण और त्यागमें अन्य इन्द्रियोंकी भी आवश्यकता है ही। हम किसी रूप का ग्रहण तब तक नहीं कर सकते जब तक मन न हो और रूप ग्राहक चक्षुरिन्द्रिय न हो। एवं हम रूपका त्याग भी तब तक नहीं कर सकते जब तक मन त्याग न करना चाहे और चक्षु उस रूपसे पृथक् न कर दिये जायं। इतना ही तो इस श्लोका स्पष्ट अर्थ है। परन्तु व्याख्याकारोंने इसमें पुनर्जन्मकी बात की है और मरनेपर वह जीव इन सब इन्द्रियोंको अपने साथ अन्य शरीरमें—मृत्युके पश्चात् मिलने-वाले शरीरमें ले जाता है, ऐसा लिखा है। सूक्ष्मशरीरका उल्लेख किया है। परन्तु जीव अपने साथ इन्द्रियोंको कैसे ले जा सकता है, इसका विचार नहीं किया गया है। उसके न हाथ है, न पैर है, ले कैसे जाता होगा? संस्कार रहते हैं मनमें, मन रहता है शरीरके साथ। शरीर तो भस्म हो चुका है। वह मन जीवके पीछे पीछे जायगा कैसे? मन कोई स्थूल अ॰यव नहीं है। वह एक सूक्ष्म तत्त्व

है जो किन्हीं ज्ञानतन्तुओंके समूहमें रहता है। वस्तुतः तो ज्ञानतन्तुओं-का समूह ही मन है। वही अन्तःकरण है। जिस पक्षमें जीव ब्रह्मांश है—ब्रह्म ही है—**जीवो ब्रह्मैव नापरः** उस पक्षमें तो जीव, मन, जीवका मनआदिको साथ लेकर दूसरे शरीरमें—परदेश जाना, यह सब कल्पित ही है—असत्य ही है—मिथ्या ही है। जीवका स्वतन्त्र अस्तित्व माननेपर भी जीवका मनको अपने साथ दूसरे शरीरमें ले जाना असंभव है। पुनर्जन्मवादी कहते हैं कि मन जीवके साथ जाता ही है, इसीलिये किसी किसीको अल्पकालमें ही विद्या आ जाती है। वह विद्वान् मन शीघ्र ही सब सीख लेता है। परन्तु वहां विद्वान् मन विद्याकी शीघ्र प्राप्तिमें हेतु नहीं है किन्तु सुघड़ मस्तिष्क और समाहित—दृढ मन इसमें हेतु है। शीघ्र सीख लेनाका अर्थ इतना ही है कि दृढ मनमें गुरुके शब्द शीघ्र प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। अन्यथा तो आजतक किसीको नहीं देखा गया कि दो चार वर्षमें सकलशास्त्रका पण्डित हो जाय और बी० ए० एम० ए० पास हो जाय। नियत समय तो लगता ही है।

वायुर्गन्धानिवाशयात्—जैसे वायु पुष्पमें से पुष्पगन्धको ले जाता है वैसे ही जीव मन—इन्द्रियोंको ले जाता है। यह दृष्टान्त भी यही बताता है कि यहां पुनर्जन्मकी बात नहीं है। वायु पुष्पमेंसे कुछ सुगन्धित कणोंको ही ले जाता है। सम्पूर्ण पुष्प तो पुष्पलतामें ही रहता है। वायु ले क्या जाता है—वायुके वेगसे पुष्पसे पृथक् हुए पुष्पकण उसके साथ उड़ते हैं और कहींपर वह गिर पड़ते हैं। वायु किसीको ले नहीं जाता, कण उसके साथ जाते नहीं है। दोनों की ही क्रियाएं ज्ञानपूर्वक नहीं हैं—स्वभाव सिद्ध हैं। वायु गति करता ही

है। सूक्ष्म और लघु पदार्थ उसके साथ उड़ते ही हैं। यह दृष्टान्त विषम है। जीव वायुके समान जड़ नहीं है। जीव मन—इन्द्रियोंको ले नहीं जायगा। कोई मन निकृष्ट हो—अधम हो—कोई इन्द्रिय दुष्ट हो, उनको जीव ज्ञानपूर्वक ले जाकर अपना पतन ही तो सिद्ध करेगा? अतः इस श्लोकमें न सूक्ष्मशरीरकी बात है और न जीव इन्द्रियोंको ले जाता है, यह बात है। इसका स्पष्टार्थ ऊपर लिखा जा चुका है।

मेरे कथनकी पुष्टिमें निम्नलिखित श्लोक है—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥१५।९॥

यहां स्पष्ट ही कहा गया है कि जीव श्रोत्रादि इन्द्रियों और मनपर अधिष्ठित होकर विषयोंका सेवन करता है। अतः यह इसी जीवित शरीरके लिये कहा गया है। मृत्युके पश्चात् अन्य शरीरकी चर्चा ही नहीं है।

इसी अध्यायमें क्षर और अक्षर दो पुरुषोंका सङ्कत ह। सर्व भूतोंको क्षर कहा गया है और कूटस्थको अक्षर कहा गया है। इन दोनोंसे पर एक उत्तम पुरुष है जो परमात्मा कहा जाता है और जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर जगत्का भरण—पोषण करता है। वह अव्यय भी है और ईश्वर भी। यहां तक तो प्रथम पुरुषके प्रयोगसे ईश्वर, परमात्मा और उत्तम पुरुषका वर्णन किया है। परन्तु पुनः भगवान्को स्मरण हुआ, फिर वह बोल उठे—

यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१५।१८॥

मैं क्षरसे भी पर हूं और अक्षरसे भी—कूटस्थसे भी पर हूं अतः लोकमें और वेदमें मैं पुरुषोत्तमनामसे प्रख्यात हूं। पुनः बोले—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१५।१९॥

जो कोई मोहजालसे बचकर मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वविद् है और सर्वभावसे मेरा भजन करता है—मेरी आज्ञाका पालन करता है। यहां पर बहुत ही स्पष्ट हुआ है कि भगवान्‌के ऊपर औपनिषद अद्वैतवादका अचल प्रभाव पड़ा है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते ॥१५।१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१५।१७॥

क्षर, अक्षरसे भिन्न एक पुरुष है जिसे परमात्मा कहते हैं। इतना कह कर पुनः कह दिया कि मैं भी क्षर, अक्षरसे पर हूं अत; मैं भी पुरुषोत्तम हूं। लोकमें और वेदोंमें मैं पुरुषोत्तम कहा गया हूं। लोकमें वह पुरुषोत्तम नामसे उस समय प्रख्यात थे या नहीं, वह तो भगवान् ही जानें। परन्तु वेदोंमें तो पुरुषोत्तम शब्द ही नहीं है, तब इस नामसे वेदोंमें ख्यातिकी बात तो अत्यन्त असत्य है। वेदका गौरव भी भगवान्‌के मनमें कभी भी नहीं रहा है। अतः वेद—ख्यात होना उनके लिये कोई महत्त्वकी बात नहीं थी। अतः यहां वेद-शब्द सामान्यशास्त्रके लिये आया है। संभव है कि उनके समयमें कोई पुराण बन चुका हो और उसमें उन्हें पुरुषोत्तम कह दिया गया हो। **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्** (१५।१५) यहां-

पर भी वह अपनेको—पुरुषोत्तमको—कृष्णको सर्ववेदवेद्य कह रहे है, यह भी असत्य है। अपनेको वेदान्तकृत् कह रहे है, वह भी असत्य है। अपनेको **वेदवित्** कह रहे हैं, संभव है कि वह सत्य हो अत एव वह वेदविरोधी भी बन गये थे। सर्ववेदवेद्य अपनेको कहनेका तात्पर्य यही हो सकता है कि वह उस समय अपनेको न तो वासुदेव मानते है, न नन्दकुमार मानते थे, न राधापति मानते थे, न मनुष्य मानते थे, न पार्थसारथि मानते थे; अपनेको विशुद्ध और सर्वोपाधि—विमुक्त आत्मा मानकर ही वह वेदवेद्य अपनेको कह रह थे। अवश्य ही वेदोंमें—उनके मतसे—उपनिषदोंमें भी आत्मा ही वेद्य है—आत्माको जाननेकी बात उपनिषदोंने कहा ही है। **आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च, नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः........**(   ) इत्यादि श्रुतियां आत्माको जानने, उपलब्ध करने, सुनने, आदिका उपदेश कर रही है। धर्मकी हानि होती है तब मैं अवतार लेता हूं, अब यह सब न कहकर साक्षात् ब्रह्मत्वकी प्रतीति करानेमें भगवान्का यही तात्पर्य है कि सभी जीव ब्रह्म ही हैं। ब्रह्मव्यतिरिक्त कुछ नहीं है। अन्यथा जब कि उन्हें महाभारतका कोई भी पात्र ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, पुरुषोत्तम नहीं मानता था, तब लोकमें पुरुषोत्तम नामसे प्रथित होनेकी बात वह कैसे कहते? किं च यदि लोक जानता होता कि यही परमात्मा हैं, यही परब्रह्म हैं, तब कृष्णको मैं जल हूं और मैं स्थल हूं, बारबार कहनेकी आवश्यकता भी न होती। परन्तु वह जीव कोटिसे ब्रह्मकोटिमें पहुंच चुके थे अतः अपने ब्रह्मत्व, पुरुषोत्तमत्व, परमात्मत्व आदिकी घोषणा करते रहते थे। यही सत्य है।

१६ वें अध्यायका आरम्भ दैवी और आसुरी सम्पत्तिके विवेचनसे हुआ। दैवी सम्पत्ति—जनहितार्थ है, इसमें सन्देह ही नहीं है, आसुरी सम्पत्तिका त्याग भी सकल—जन—हितार्थ है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है, परन्तु दैवी और आसुरी इन दो शब्दोंका प्रयोग मनुष्यको गिरानेवाला है। भ्रमसे भी एक समझ लेगा कि मुझमें दैवी-सम्पत्तिका संग्रह हो रहा है तो वह तत्काल ही अन्योंको असुर अथवा आसुरी सम्पत्तिवाला मानने लगेगा। इसमें अभिमान, दम्भ, द्रोह आदि बढेंगे। आसुरी सम्पत्तिवालेकी निन्दा होगी। किसीमें आसुरी सम्पत्ति नहीं होगी तो भी मिथ्यादृष्टि मनुष्य उसमें उसकी कल्पना करेगा और उसकी निन्दा करेगा। देवसम्बधिनी सम्पत्ति दैवी सम्पत्ति कही जाती है। देवोंकी कथा जो उपलब्ध हो रही है उससे वह देवयोनि बहुत भ्रष्ट और स्वार्थपूर्ण योनि है, यह सिद्ध होता है। तब देवके नामसे इस सम्पत्तिका वर्णन करना अनुचित ही प्रतीत होता है। असुरशब्द सुरके विद्रोहियों और विरोधियोंके लिये आया है। असुर सदा निंकृष्ट रहे हैं, यह सिद्ध नहीं होता है। उदधिमन्थनकालमें असुरोंका कोई दोष नहीं था। सुर ही दोषी थे। समान श्रम है तो समान फल भी मिलना ही चाहिये। अमृतघट लेकर भागनेवाले सुर कभी भी पवित्र नहीं माने जा सकते। वहां तो स्पष्ट ही अन्याय था, वञ्चना थी। अस्तु।

भगवान् कहते हैं कि—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोहमहं भोगी सिद्धोहं बलवान् सुखी ॥१६।१४॥

आढ्योभिजनवानस्मि कोन्योस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१६।१५॥

जो यह कहता है कि मैंने अमुक शत्रुको मार डाला, अन्य शत्रुओंको भी मार डालूंगा, मैं ईश्वर हूं, मैं भोगी हूं, मैं सिद्ध हूं, मैं बलवान् हूं, मैं सुखी हूं, आढ्य हूं, अभिजनवान् हूं, मेरे समान दूसरा कौन है, यज्ञ करूँगा, दान दूंगा, आनन्द करूँगा, यह सब कहनेवाले अज्ञानविमोहित हैं। वे सब पतन्ति नरकेशुचौ। (१६।१६) गन्दे नरकमें पड़ते हैं।

गीताके एकादश अध्यायमें भगवान्ने भी कहा है कि—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव ॥११।३३॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च,
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतान्.... .... ॥११।३४॥
कालोस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः ॥११।३२॥
प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१५।१८॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१५।१२॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ॥१०।३॥
ददामि बुद्धियोगं तम्.... ... ॥१०।१०॥
सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥१०।२६॥
बलं बलवतां चाहम् ।७।११॥
सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥१०।३६॥
मत्तः परतरं नान्यत् ॥७।७॥

इत्यादि अनेक वचन हैं जो श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे ही निकले हैं। भगवान्‌की ही आज्ञाके अनुसार भगवान् भी आसुरी–सम्पत्ति-सम्पन्न बन जाते हैं। वस्तुतः न तो कोई दैवी सम्पत्ति है और न आसुरी और न कोई आसुरी योनि (१६।१९) है। यह सब कल्पित बातें हैं। गुण भी कभी दोष बन जाते हैं। और दोष भी कभी गुण। यह तो समयकी बात है—परिस्थितिकी बात है।

१७वें अध्यायमें थोड़ा सा आयुर्वेदका समर्थन है, थोड़ा सा यज्ञ समर्थन है, थोड़ा तपोवर्णन है। थोड़ा सात्त्विक, राजस, तामस, तपोवर्णन है। अन्तमें ॐ, तत्, सत् इन तीनोंसे ब्रह्मनिर्देशकी बात है। पुनः यज्ञादिकी बात है। यह अध्याय लगभग श्रीकृष्णके सिद्धान्तके विरुद्ध ही है।

अठारहवें अध्यायमें संन्यास और त्यागका तत्त्वनिरूपण हुआ है। भगवद्गीता एक प्रकारसे पारिभाषिक ग्रन्थ है। परिभाषाओंसे लदी हुई है। इस अध्यायमें भी संन्यास और त्याग ये दोनों शब्द पारिभाषिक हैं। **काम्य कर्मोंके त्यागको** संन्यास कहा गया है (१८।२) और सर्व कर्मोंके फलके त्यागको **त्याग** कहा गया है। इस अध्यायमें कभी कर्मको गौण बना दिया गया है और कभी मुख्य। कृष्णका कर्मयोग यहां लगभग तिरोहित है, तथापि प्रकारान्तरसे उसका उज्जीवन हुआ है। यज्ञ, दान, तप, कर्म इन चारोंका थोडासा निरूपण करके कह दिया है कि—

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥१८।५॥

यज्ञ, दान और तप मनीषियोंको पवित्र करनेवाले हैं। यहां कर्म उडा दिया गया है, यद्यपि इसके पूर्वार्धमें—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ॥१८।५॥
अत्याज्योंमें यज्ञादिके साथ अन्तमें कर्म भी गौणरूपसे पड़ा हुआ है ।

भगवान्‌ने काम्य कर्मोंके न्यासको संन्यास बताया है । परन्तु जगत्‌में काम्य कर्मोंके अतिरिक्त कोई कर्म ही नहीं है । लिखना, पढ़ना, देना, लेना, खाना, पीना, पूजा–पाठ, यज्ञ, जप, तप, प्रेम, विरोध, चलना, फिरना, देखना, सुनना, यही सब तोकर्म हैं । इनमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जो काम्य न हो । तथा इनमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जिसका न्यास किया जा सके । यदि यज्ञशब्दसे श्रौतयाग ही अभिप्रेत हो तो आज तो उसका त्याग हो ही चुका है । एक भी वैदिक याग आज परिपाटीमें नहीं है । भगवान्‌ने स्वयं ही कह दिया है कि—

" न हि देहाभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥१८।११॥

कोई भी कर्म साकल्येन परित्याज्य नहीं हो सकता । अतः कर्म करो, परन्तु फलका त्याग करो । ऐसा करनेवाला ही त्यागी कहा जा सकता है । कर्मफलत्यागके सम्बन्धमें द्वितीयाध्यायके प्रकरणमें लिखा जा चुका है ।

१२ वें श्लोकमें कहा गया है कि कर्म के तीन प्रकारके फल होते हैं : अनिष्ट, इष्ट, इष्टानिष्ट । ये तीनों फल कर्मफलात्यागीको मिला करते हैं परन्तु कर्मफलत्यागीको नहीं । यहांपर **न तु संन्यासिनां क्वचित्** कहा गया है । भगवान्‌ने अपनी परिभाषाके विरुद्ध यहांपर संन्यासीका अर्थ त्यागी किया है । पारिभाषिक संन्यासी तो काम्य कर्मोंका त्याग ही कर देगा । उसके लिये फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिका विवेचन ही व्यर्थ है । नित्य कर्मका कुछ फल है ही नहीं ।

अथवा यदि है तो नित्यकर्म न करनेसे होनेवाले प्रत्यवायका रोकना ही है। नैमित्तिक कर्मका यदि फल काम्य न हो तो उसे कोई करेगा ही क्यों? विहित कर्मका फल केवल इष्ट ही होना चाहिये। निषिद्ध कर्मका फल केवल अनिष्ट ही होना चाहिये। इष्टानिष्ट फल किसी भी कर्मका नहीं हो सकता। विधिहीन जो कर्म होगा (१७।१३) वह तामस होगा। उसका फल भी अनिष्ट ही होगा। हां, शास्त्रीय कर्मोंको छोड़कर यदि मानव-लाभकी दृष्टिसे जो कर्म किये जायंगे—उन्हें लौकिक कर्म कह सकते हैं। उनमें इन तीनों फलोंकी संभावना अवश्य है। निश्चय ही यह अध्याय श्रीकृष्णके सिद्धान्त और युद्धकालकी परिस्थितिका स्पर्श बहुत ही अल्पमात्रामें कर रहा है।

१३ से १५ तकके श्लोकोंमें सांख्यसिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक कर्मके पांच हेतुओंका—अधिष्ठान—शरीर, कर्ता, इन्द्रिय, विविध-चेष्टा, और दैव का निरूपण करके कहा गया है कि—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१८।१६॥

यह बहुत ही सुन्दर और वैज्ञानिक बात कही गयी है। जीवने पुण्य किया—धर्म किया—सत्कर्म किया। किसी भी कर्ममें उपर्युक्त पांच साधन अत्यन्त आवश्यक हैं। उन सब साधनोंको भी कर्मफल मिलता ही है। किसी भी कर्ममें अधिष्ठान—शरीरको तो आन्दोलन करना ही पड़ता है। अतः श्रम और व्यायाम, शरीरको फल मिला। उसका प्रतिफल आत्माको—जीवको मिला। जिस इन्द्रियको उस कर्ममें साधन बनाया गया उस इन्द्रियमें भी पवित्रता आयी। वैसे ही कर्मकरने की

उसे टेव पड़ी। यह फल इन्द्रियको मिला। बुद्धि पवित्र होगी, मन भी पवित्र होगा, अतः यदि करणमें इन दोनोंका समावेश किया जाय तो इन्हें भी पवित्र फल मिला। विविध चेष्टाएं—श्वास—प्रश्वास आदि अथवा अन्य व्यापारोंपर भी सत्कृतिका प्रभाव पड़ेगा ही। दैव तो भाग्यमें लिखा ही है। कर्तृत्व भले चैत्रमें हो रहे परन्तु ये साधन तो बहुमूल्य हैं। इनके बिना कर्ताकी क्रिया ही दुर्लभ है।

परन्तु जब यह कहते हैं कि इन पांच कारणोंसे उत्पन्न हुए कर्मका कर्ता केवल आत्माको जो मानता है वह निर्बुद्ध है, तब आश्चर्य होता है। भगवान् यह कहना चाहते हैं कि देह भी कर्ता है, मन, बुद्धि, चेष्टाएं और दैव भी कर्ता हैं। यह सब कर्ता नहीं हैं। यह सब कारण हैं और करण भी हैं। कर्ता तो केवल आत्मा ही है। भगवान्को यहां भी देहात्मवादका, मनआत्मवादका, इन्द्रिआत्मवादका स्मरण हो आया था, ऐसी अवगति होती है।

चतुर्थाध्यायमें कहा है कि—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥४।१३॥

मैंने चातुर्वर्ण्यकी सृष्टिकी है। वह सृष्टि गुण-कर्मके विभागके अनुसार हुई है। उन गुण-कर्मोंका उल्लेख यहां १८ वें अध्यायमें किया गया है। देखिये—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णोंके कर्म स्वभावजात गुणोंसे पृथक् पृथक् निर्णीत हुए हैं। इसके पश्चात्—**शमो दमः** (१८।४२)

इत्यादि तीन श्लोकोंसे चारों वर्णोंके कर्मोंका विधान हुआ है। ये सब वर्णकर्म बोल दिये गये हैं परन्तु पूर्वापरका विचार नहीं किया गया है। शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्धसे पलायन न करना, दान, ईश्वरभाव, यह क्षत्रियके स्वभावज कर्म हैं। शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य, ये ब्राह्मणके स्वभावज कर्म हैं। स्वभावज कर्ममें विपर्यय नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि द्रोण अश्वत्थामा, परशुराम आदिमें ब्रह्मकर्मका प्रादुर्भाव नहीं हुआ है—क्षत्रिय धर्म क्षत्रकर्म ही प्रादुर्भूत थे। युधिष्ठिर और भीष्मपितामह क्षत्रिय होकर भी ज्ञान विज्ञानके उपदेशक रहे थे। अतः किसीके कुछ भी स्वभावज धर्म नहीं होते। सभी मनुष्य समान हैं। सबमें सर्वधर्मोंका उदय हो सकता है। भारतके अन्त्यजोंमें भी चारों वर्णोंके धर्म आज दृष्टिगत हो रहे हैं और ब्राह्मणोंमें भी चारों वर्णोंके कर्म प्रफुल्लित हैं। कृष्णकी दृष्टिसे अम्बेडरका विज्ञान स्वभावज नहीं है और पाकशास्त्री ब्राह्मणोंका रसोई बनाना स्वभावज कर्म नहीं है। परन्तु दोनोंमें ये कर्म देखे जा रहे हैं। अतः यही मानना परमोचित है कि किसी भी मनुष्यमें स्वभावज कोई धर्म—कर्म है ही नहीं। यह सब भगवान्‌को इष्ट भी नहीं रहा होगा। परन्तु जैसा कि मैंने पूर्वमें कहा है कि हिन्दूधर्म—की छोटी बड़ी सभी बातोंका संकलन करके हिन्दूधर्मका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ गीता-को बनानेके लिये इस प्रकरणका भी उल्लेख हुआ है।

किं च भगवान्‌ने वर्णाश्रम भारतमें ही बनाये, अन्य खण्डों और देशोंमें क्यों नहीं? यह पक्षपात क्यों हुआ? यह अन्याय क्यों हुआ? यदि वे सब धर्म—कर्म स्वभावज हैं तो **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं** व्यर्थ होता है। क्योंकि इन्हीं धर्मोंसे तो ब्राह्मणादि वर्ण हैं।

धर्म तो स्वभावज हैं। तब ब्राह्मणादि बने बनाये हैं। पहले 'ब्राह्मण, पश्चात् स्वभाव तो कह ही नहीं सकते। तब तो ब्राह्मणत्वकी ही असिद्धि हो जायगी। पहले स्वभाव पश्चात् ब्राह्मण ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वभावके रहनेका स्थान कहां है? ब्राह्मणका स्वभाव ब्राह्मणमें ही रहेगा। ब्राह्मण तो अभी बना ही नहीं है। अतः निराधार स्वभाव असिद्ध है। यह तो सर्वमान्य वस्तु है कि स्व—भाव बनाया नहीं जाता। वह तो वस्तुसहजात होता है।

किं च पहले कहा कि—**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः**, और यहां कहा कि—**स्वभावनियतं कर्म** (१८।४७)। ये दोनों ही परस्परविरुद्ध हैं। बाल्यावस्थामें किसी भी वर्णका धर्म उद्भूत नहीं रहता है। तब उसे ब्राह्मण कैसे कह सकते हैं? क्षत्रियादि भी कैसे कह सकते हैं? ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुआ अत उसमें ब्राह्मणगुणोंकी संभावना हो सकती है, क्षत्रियादिकुलमें उत्पन्न होनेसे क्षत्रियादि गुणोंकी संभावना उसमें हो सकती है, यह कहना भी उचित नहीं ह। बड़े होनेपर शमदमादि ब्राह्मणधर्म उदित न हों तो उन्हें ब्राह्मण नहीं ही कहा जा सकता। अन्य वर्णोंके धर्म उसमें उदित हों तो वह अन्य वर्णका कहा जायगा। तब **ब्रह्मकर्म स्वभावजम्**, **क्षत्रकर्म स्वभावजम्** इत्यादि कहां रहा? अतः ये सब कृष्णवचन निरर्थक हैं। इनकी निरर्थकता तो आज पदे पदे और क्षण—क्षणमें सर्वत्र सिद्ध हो रही है। इस सम्बन्धमें अन्य विचार **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्** इस श्लोकके भगवद्भाष्यमें देखना चाहिये।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥१८।४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृतः । १८।४८॥

ये दोनों श्लोक बड़े अनर्थकारी हैं। स्वधर्म दुष्ट हो तो भी वह अच्छा है, यह सामान्य भाषा अन्यन्त निकृष्ट है। **क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।** जो धर्म, जो वस्तु, जो कर्म विगुण प्रतीत हों तो उनका अविलम्ब त्याग करना ही मानवता है। स्वधर्म और परधर्म कोई वस्तु नहीं है। मानव, सिंह—व्याघ्र नहीं है कि उसके धर्ममें परिवर्तन नहीं किया जा सकता। कितनी ही वार तो पशुधर्ममें भी हम परिवर्तन देखते हैं। जैसे यह कथन भयंकर है वैसे ही सदोष सहज कर्मका त्याग न करनेका (१८।४८) उपदेश भी अहितकर है। भगवान् पुनः मानवभाव में आये और बोल उठे।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१८।६१॥

यहांपर भगवान्‌ने अपने ईश्वरत्वको भुला दिया। प्रथमपुरुषका प्रयोग किया और कहा कि ईश्वर सर्वप्राणियों—मनुष्योंके हृदयदेशमें रहा करता है। यदि वह ईश्वर सर्वव्यापक है तो उसके हृदयदेशमें रहनेकी बात असंगत है। संभव है कि पुरुषसूक्तके **अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्** के आधारपर यह कहा गया हो। यह भी संभव है कि भगवान् जीवके लिये ही ईश्वरशब्दका प्रयोग यहां कर रहे हैं। वह अल्पपरिमाणवाला भी माना गया है। वह हृदयदेशमें रहता है, ऐसा कोई कहे और माने तो उसे दण्ड लेकर चुप नहीं किया जा सकता। यदि जीवके लिये ही ईश्वरपद यहां प्रयुक्त हो तो **सर्वभूतानि** का अर्थ

सर्वभौतिक इन्द्रियाणि कर लेनेमें कोई भार नहीं होगा । आत्मा ही समस्त इन्द्रियोंको स्व—स्वव्यापारनिरत करता है । अन्य रीतिसे ईश्वरको एकदेशी नहीं बनाया जा सकता ।

आगेके कुछ श्लोकोंमें ब्रह्मभाव प्राप्त करनेकेलिये अहङ्कार, बल दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहके त्यागका उपदेश करके, भगवान् अपनी प्रसन्नतासे सभी कष्टों, संकटों, विघ्नोंके पार पहुँच जानेका उपदेश अर्जुनको कर रहे हैं । वह सब तो बहुत उत्तम है । इससे भी उत्तम, सर्वोत्तम श्लोक गीताका जो मान लिया गया है वह यह है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८।६६॥

यह श्लोक इतना तो आकर्षक है कि एक बड़े प्रतिष्ठित सम्प्रदायने इसे अपना साम्प्रदायिक श्लोक—या मन्त्र बना लिया है और चरममन्त्र इसका नाम दिया है । भगवान्ने इसमें कहा है कि "हे अर्जुन, तू सभी सङ्कल्प—विकल्पोंको छोड़कर केवल मेरे शरणमें आ जा । मैं तुझे सर्व पापोंसे—सर्वदुःखोंसे मुक्त कर दूँगा । शोक मत कर ।" मेरी दृष्टिमें इस मन्त्रमें बाह्य ही आकर्षण है । तात्त्विक कोई वस्तु नहीं है । तत्काल भगवान्ने कहा, अर्जुनने सुना । काम बन गया । युद्ध हो चला । कितने ही मरे कितने ही मारे गये । कितने ही योग्य आर्यवीरों, धर्मवीरों, ज्ञानवीरों, आचारवीरोंका सदाके लिये अन्त हो गया । आर्यावर्त वीर-विहीन मही बन गया । उस समय जितने क्रूर, कपटी, दुराचारी, जन थे, आज उनसे भी अधिक क्रूरता, कापट्य, दुराचार भारतमें फैला हुआ है । उनके पवित्र रक्तका प्रवाह बन्द

हुआ और ऐसा जन-प्रवाह भारतमें आया कि आज भारतका मुख उदास है, सिर नीचा है, हृदय शून्य है और वाणी चुप है । यह परिणाम तो महाभारत युद्धका हुआ ही। यह सर्वविदित है। परन्तु भगवान्की भी परीक्षा हो गयी। इस श्लोकके उच्चारण करनेवाले कृष्ण समयपर सच्चे न निकले। स्वर्गारोहणपर्व मेरे इस कथनमें प्रमाण है। भगवान्के परम भक्त, परमसखअर्जुनको विश्वास था कि भगवान्ने कहा है कि **'न मे भक्तः प्रणश्यति'** और **अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि,** अतः समयपर अवश्य दुःखमोचन करेंगे। परन्तु उसकी निराशाका पार नहीं। भगवान्का परमभक्त नरकमें पहुँचा दिया गया। पतिव्रता प्रभुपरायणा द्रौपदी भी नरकमें ही जाकर पड़ी। युधिष्ठिरके अतिरिक्त अन्य चारों भाई नरकमें ही पड़े थे। अन्त में युधिष्ठिरको भी नरकदर्शन करना ही पड़ा। इसका विशेष विवरण मेरे गीताके गुजराती भाष्यमें देखा जा सकता है। उसे नरकसे बचानेके लिये परमकारुणिक, परमोदार भगवान् कृष्णको किसीने भी वहां उपस्थित न देखा।

औषध तो रोगीको ही दिया जाता है। सहायता असहायको ही दी जाती है। परन्तु भगवान्ने अन्तमें अर्जुनसे कह दिया है कि इस मेरे उपदेशको अतपस्वीको नहीं बताना, अभक्तको भी नहीं कहना, जो शुश्रूषु न हो उसे भी मत कहना और जो मेरी असूया करता हो उसे भी मत कहना। यह कथन भी अत्यन्त अनुचित और अनुदार है। सच्ची बात और हितकी बात तो दुर्जन और दुश्मनोंको भी कहनी ही चाहिये। अभक्तको भक्त तभी बनाया जा सकता

है जब उसे भक्तिका उपदेश दिया जाय। अतपस्वीको तपस्वी तभी बनाया जा सकता है जब उसे तपका माहात्म्य और फल सुनाया समझाया जाय। किसी अच्छी बातको छिपानेका—गुप्त रखनेका उपदेश जगन्नाथ बननेवालेके लिये सर्वथा अयुक्त है।



उपसंहार

मैंने बहुत थोड़ा लिखा है। यह तो एक दिग्दर्शनमात्र है। गीताके पूर्वापर असम्ब होनेके अन्य भी अनेक उदाहरण गीतामें भरे पड़े हैं।

मैंने यहां गीताकी समीक्षा की है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मेरे हृदयमें गीताके लिये मान नहीं है। मान हिन्दूधर्मका वस्तु है। मैं भी गीताका आदर करता हूँ। परन्तु उस आदरमें यह भावना तो नहीं ही है कि गीताके सभी ही अक्षर, सभी पद, सभी वाक्य, सभी श्लोक संगत हैं, अशङ्क हैं, निर्दोष हैं। गीतामें असंगति है, शंका है, दोष भी हैं, तथापि मैं उनका आदर करता हूँ क्योंकि गीताशब्दसे भी मनुष्यको पवित्रताका दूरदर्शन होने लगता है। गीता तो इतना पवित्र ग्रन्थ माना गया है कि धनिक लोग सोनेके यन्त्रमें मढाकर उसे गलेमें पहिनते हैं। गीताकी पूजा होती है। गीताकी आर्ती होती है। अब तो गीतामाताकी मूर्ति भी बन गयी है। यदि इस ग्रन्थका नाम भगवद्गीता न होता, भगवद्गीतम् होता तो किसी नपुंसक अथवा पुमान् गीतापिताकी भी मूर्ति बन जाती।

गीताके उपदेशोंसे भी जब भारतमें पवित्रता नहीं आ सकती तो एक घरमें बैठायी गई मूर्तिसे कितनी पवित्रताकी आशा की जा सकती है?

गीताके आद्यन्तमें कोई समानता नहीं है। इसमें उपक्रम और उपसंहारकी एकता नहीं है। गीताका वक्ता और श्रोता दोनों ही युद्धकलाकुशल व्यक्ति हैं। युद्धके प्रसंगका ग्रन्थ अपने उपसंहारमें अपने उपक्रममें युद्धके अतिरिक्त रख ही क्या सकता है? भगवान्की सम्पूर्ण गीता युद्धके लिये है, युद्धके भावसे भरी हुई है। परन्तु मैं कह चुका हूँ कि गीतामें वह सब कुछ है जिसे हिन्दूधर्म कहा जाता है। इस दृष्टिसे गीता सांख्य, योग, वेदान्त, भक्ति, जन्म, मरण आदिके विज्ञानसे पूर्ण है। गीता ही हिन्दूग्रन्थालयमें एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जो विश्वकी सभी भाषाओंमें अनूदित है। गीतामें इतने विशाल क्षेत्र हैं कि सभी विचारके और सभी मस्तिष्कके लोग इसे जोत सकते हैं, इसमें कुछ उगा सकते हैं, इससे जीवनरक्षणकी सामग्री प्राप्त कर सकते हैं। हिन्दूजातिको, हिन्दूधर्मको गीताकी सार्वजनिक प्रतिष्ठाके लिये गर्व है। गीताके एक श्लोक, आधे श्लोक, एक पद, आधे पद और एक अक्षरके भी पाठसे मुक्ति और कल्याणप्राप्तिका भ्रम छोड़कर यदि हिन्दूप्रजा इनमें निहित उपदेशों और आदर्शोंसे अपनेको समन्वित कर ले, अलंकृत करले तो गीताके लिये उसका गर्व अनेक गुना बढ़ जाय और वह सर्वथा उचित भी माना जाय। कृष्णकी गीतासे आर्यावर्तको आर्यत्व यदि मिल सके और आर्यप्रजा गीतासे आर्यत्वको सीख सके तो भगवान् कृष्णका श्रम सर्वथा सफल माना जा सके। जिस अर्जुनको लक्ष्य बनाकर भगवान् कृष्णने अपनी

सर्वतोमुखी प्रतिभासे आर्योंकी सम्पत्तिको खुले और उदार हाथोंसे बांटकर असंस्कृत प्रजाको संस्कृत बनानेका परम प्रयास किया है उसका जीवन भी तभी सफल हो सकता है ।

गीता कहती है कि तुम क्षुब्ध मत बनो, उद्विग्न मत बनो । धीर बनो, गम्भीर बनो । वास्तविक रीतिसे विचार करना सीखो । जिसे तुम न जानते हो, उसे जानो, जाननेका प्रयत्न करो । ज्ञान अनन्त है । जितना तुम जानते हो, उतना ही ज्ञान नहीं है—उससे आगे भी और उससे भी समृद्ध ज्ञानका अस्तित्व है । अतः तुम किसी अज्ञात, अश्रुत, अदृष्ट बातको सुनकर क्षुब्ध मत बनो, क्रोध मत करो । शान्तिसे मधुकरके समान सभी ग्रन्थोंसे, सभी लेखोंसे, सभीके उपदेशोंसे सारचयन करो । तुम्हारा कल्याण होगा ।

उपनिषद्के ऋषिने कहा है कि—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'

उठो, जागो और अपनेसे ज्ञानिपुरुषोंके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो । इस वचनरत्नका सदा स्मरण, मनन करते रहो । ॐ शम् ।



स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी महाराजके रचित

निबन्ध

१	श्रीरामानन्ददिग्विजय (संस्कृत महाकाव्यम्)	३)
२	श्रीवैष्णवमताब्जभास्करकी संस्कृत, हिन्दी टीका	१)
३	,, ,, हिन्दी टीका (गुटका)	॥।)
*४	दिव्यदर्शनम्	
+५	मातृस्तवः	
+६	श्रीलोकोत्तराम्बाचरणाश्रयणम्	
७	भक्तकल्पद्रुमः	
८	प्रपन्नकल्पद्रुमः	
९	भक्तसर्वस्वम्	
१०	चतुष्पदी	
११	स्वाराज्यानुभवः	
१२	प्रेमपीयूषप्रवाहः	
१३	पुरुषोत्तमप्रणयः	
१४	श्रीभगवत्स्तवः	
+१५	श्रीमारुतिस्तवः	
१६	श्रीयतिराजस्तवराजः	
१७	श्रीयतिराजमङ्गलम्	
१८	सप्तस्तवी	
१९	यतीन्द्रविंशतिः	
२०	स्तुतिकुसुमाञ्जलिः	
२१	हिन्दी ,, ,,	

(संख्या ४ से २१ : दिव्यस्तोत्र कलाप १॥)

* संख्या ४ से २१ तकके ग्रन्थ दिव्यस्तोत्रकलाप नामसे पृथक् छपे हैं।

+ इस चिन्हवाले स्तोत्र अलग भी दो दो आनेमें मिलते हैं।

२२ शारदास्तोत्रम् (अप्राप्य)

२३ श्रीभगवत्पूजनपद्धतिः ।-)

२४ श्रीरामपटल }
२५ सिंहावलोकन } १॥)

२६ लेखनरत्नमञ्जूषा (१४४ लेखोंका संग्रह) १०)

२७ प्रकाशके कुछ किरण ‐)॥

२८ वेदान्तदर्शनवैदिकभाष्यम् ५)

२९ पुरुषसूक्तम् ॥)

३० त्रिरत्नी (विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त) ।=)

३१ विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त (अमुद्रित)

३२ रामेश्वरमीमांसा ।)

३३ आश्रमकण्टकोद्धारः ॥)

३४ ईशावास्योपनिषद्-भाष्यम् ।)

३५ केनोपनिषद् " " ।)

३६ कठोपनिषद् " " १॥)

३७ प्रश्नोपनिषद् " (अमुद्रित)

३८ माण्डूक्योपनिषद् " "

३९ मुण्डकोपनिषद् " "

४० तैत्तिरीयोपनिषद् " "

४१ ऐतरेयोपनिषद् " "

४२ छान्दोग्योपनिषद् " "

४३ बृहदारण्यकोपनिषद् " "

४४ श्वेताश्वतरोपनिषद् " "

४५ श्रीसम्प्रदायरक्षा (संस्कृत) }
४६ " (हिन्दी) } ।)

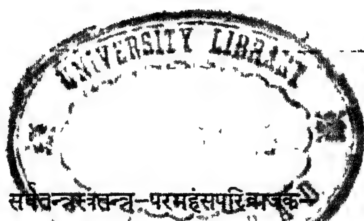
४७ परम्परापरित्राण ।)

४८ रहस्योद्घाटन ४९ तत्त्वोद्बोधनमीमांसा ५० राममन्त्रपरम्पराकी प्रस्तावना		॥।)
५१ विभूतिधारणविचार		≡)
५२ वर्णविचार		।)
५३ भारतपारिजातम्	(महाकाव्यम्)	६)
५४ पारिजातापहारः	,,	६)
५५ पारिजातसौरभम्	,,	६)
५६ सामवेदभाष्यम्	(पूर्वार्चिक)	५)
५७ सामवेदभाष्यभूमिका	,	।)
५८ सामवेदभाष्यबृहद्भूमिका ,,	(अमुद्रित)	
५९ यतिधर्मसमुच्चय	(तामिलग्रन्थ लिपिसे संस्कृत लिपिमें)	॥)
६० तत्त्वप्रकाश		।=)
६१ वेदान्तो अभ्यास	(गुजराती)	१)
६२ भगवद्गीता द्वितीय अध्याय (गुजराती भाष्य) ६३ ,, १२ वां ,, ,, ६४ ,, १३ ,, ,, ६५ ,, १५ ,, ,,	अप्राप्य	
६६ भक्तिशास्त्र	(गुजराती)	३॥)
६७ अफ्रिकामें प्रवचन	,,	२)
६८ अर्थपञ्चकम्	(अमुद्रित)	
६९ भगवद्गीता-रहस्यत्रभाष्यम्	,,	
७० बालवाटिका (प्रथमभागः)	(संस्कृतम्)	।=)
७१ ,, द्वितीयभागः	,,	।≈)
७२ ,, तृतीयभागः	,,	।=)
७३ दशरथमोक्ष		)॥
७४ श्रीसम्प्रदाय अस्पृश्यस्पर्श		-)
७५ अथर्ववेदमें अयोध्याजी	... ...	

इन सब पुस्तकोंके मिलनेका पता—

श्री० महान्त कृष्णादासजी
श्रीरामानन्द साहित्यमन्दिर
अट्टा
अलवर (राजस्थान)

पण्डित श्रीरामचरित्राचार्यजी व्याकरणाचार्य
श्रीरामजी मन्दिर
मोटी हवेलीकी पोल (दरियापुर)
अहमदाबाद, १



सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-परमहंसपरिव्राजक-
पण्डितराज--स्वामि-श्रीभगवदाचार्यप्रणीतेन
भगवद्भाष्येण सहिता

श्रीमद्भगवद्गीता

(प्रथमोऽध्यायः)

श्रीमद्गीता विनीता मधुरपदवचःसंचयैरालपन्ती,
कौन्तेयं मोहभाजं समरभुवि महाकश्मलादुन्नयन्ती ।
धर्म्यं मार्गं नयन्ती तमपि जगदपि प्रस्फुरन्ती हसन्ती,
राधाबाधानुराधाप्रवणहरिमुखाम्भोजतः पातु विश्वम् ॥१॥

के ते ज्ञानधरा न यैर्विरचितं भाष्यं स्फुरद्वैभवं,
गीताग्रन्थ उदग्रबुद्धिविभवोद्भास्यातिभव्यप्रभैः ।
किं तु स्वीयमतप्रचारचतुरैर्गीतारहस्यं न तै-
र्लेभे तेन धिया गलद्भवभिया भाष्यं मया तन्यते ॥२॥

आस्वादयन्तु मधुरां मधुकैटभारे,-
र्वाचं विचित्रचरिताञ्चितचारुशीलाम् ।
विद्याधरा गतमदादिकमत्सरान्ताः,
कार्तार्थ्यमेतु मम चैष परिश्रमोऽपि ॥३॥

कौरवपाण्डवानां प्रचरति सम्प्रहारे स्वजनसंहारे पितामहो महौजा भीष्मो गतप्राणोष्मा शरशय्यामधिशिश्ये। निरायासेन भगवता व्यासेन प्रसादितसकलवृत्तेक्षणनिरीक्षणसामर्थ्यो व्यासशिष्यः संजयो युद्धावनेरवगत-निखिलयुद्धेतिवृत्तो दुर्योधनजनकं धृतराष्ट्रं द्रष्टुं हस्तिनापुरमापेदिवान्। यत एव स युद्धवार्तामवार्तयत्तत एव श्रीभगवद्गीतायाः प्रारम्भोनुमतः सर्वेषाम्। कै ग्लै गै शब्दे। गानमिहोपदेशः। अस्मिन् भीष्मपर्वणः पञ्चविंशाध्यायादारभ्य द्विचत्वारिंशाध्यायपर्यन्ते प्रथिते ग्रन्थे भगवतो वासुदेवस्यैवोपदेश इति तन्नाम्नैव प्रथितमस्य ग्रन्थस्य नाम। ननु कथं भगवद्गीतेति स्त्रीत्वम्? इत्थम्। अष्टादशस्वध्यायेषु न दृश्यते कुत्रापि ग्रन्थाभिधानम्। अस्यैव पर्वणो द्वाचत्वारिंशाध्यायात्परस्मिन्नध्याये त्रिचत्वारिंशे गीता सुगीता कर्तव्येति वैशम्पायनवचनं क्वाचित्कमेव न सार्वत्रिकम्। अत एव गौडाः सार्धान् पञ्चश्लोकान्सारमुद्धृत्य कृष्णेनार्जुनस्य मुखे हुतमित्यन्तान्न पठन्ति। तथापि प्रत्येकमध्यायस्यावसाने 'इतिश्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे' इत्यादि लिखितं दृश्यते। तत एव भगवद्गीतेतिनामकरणमेतेषामध्यायानां सम्पन्नम्। यद्यपि तत्र भगवद्गीतास्विति बहुवचनं दृश्यते तथापि सौकर्याद् ग्रन्थनाम्न्येकवचनमेव संस्थापितम्। ननु सर्वा एवोपनिषदो भगवतैव गीता इति संप्रदायः, कथं तर्हि वैशिष्ट्येनात्र भगवदिति ग्रहणम्? एवमस्त्यत्र तत्त्वम्। न हि सर्वा उपनिषदो भगवता गीताः। प्रत्येकमुपनिषद उपदेष्टा पृथक्पृथगेवर्षिः। ऋषयस्तु न भगवान्। श्रीकृष्णस्तु भगवत्त्वेन प्रथित एव। ततस्तद्गीता इमा अष्टादशोपनिषदो भगवद्गीताः सम्पन्नाः। यद्यपि प्रथमाध्याये नास्त्येकोपि शब्दो भगवन्मुखविनिस्सृतस्तथा च सप्तदशानामेवाध्यायानां भगवद्गीतात्वमुचितं तथापि प्रसिद्धिमनुरुध्याष्टादशानमेवाध्यायानां तथात्वमङ्गीकरणीयम्। भगवद्गीतासूपनिषत्स्विति बहुवचनं प्रत्यध्यायमाश्रित्य वेदनीयम्। वस्तुतस्तु गीताया उपनिषत्त्ववादः श्रद्धकथनानुसन्धेयः। एवं च श्रीमद्भगवद्गीतात्र मया भगवद्भाष्येणालङ्क्रियते। तस्याः प्रथमाध्यायस्यायमादिमः श्लोकः—

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

कुरुक्षेत्रादागतमनामयं सञ्जयमभिज्ञाय धृतराष्ट्र उवाच धर्मक्षेत्रे तपःक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे युद्धस्थले युयुत्सवो योद्धुमिच्छवः समवेताः सङ्गता मामका मत्पुत्रा मत्पुत्रसहायकाश्च पाण्डवाः पाण्डुपुत्रा युधिष्ठिरादयः किमकुर्वत किमन्वतिष्ठन्निति सामस्त्येन श्रावय मां हे सञ्जय । अत्र कुरुक्षेत्रशब्देन न शतपथीयं प्रवर्गप्रकरणपठितं 'तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास' ति (१४।१।१।२) कर्मकाण्डीयं कुरुक्षेत्रं ग्रहीतव्यम् । न वा 'अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदन' मित्यत्रोक्तं कुरुक्षेत्रं ग्राह्यम् । अस्य ब्रह्मसदनत्वाभावात् । किमकुर्वतेत्यस्य व्याख्यानं ते सन्धिं कृतवन्तो युद्धमेवेति वेति न रमणीयमविचारितरमणीयं च । धृतराष्ट्रस्य सविध आगत्यैव 'सञ्जयोहं महाराज नमस्ते भरतर्षभ । हतो भीष्मः शान्तनवो भरतानां पितामहः ॥' इतिसञ्जयवचनात्तथाविधप्रश्नानवकाशः स्फुट एव । तैः किं कृतमिति साकल्येन जानानस्यापि धृतराष्ट्रस्यौद्विग्न्याद्वा पुनः श्रवणकुतूहलाद्वा दुःखभारेण विस्मरणाद्वा प्रश्नोपपत्तिः । धृतराष्ट्र उवाचेति वाक्यं व्यासस्येति मन्तव्यम् ॥ १ ॥

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

तदा युद्धारम्भसमये पाण्डवानां सैन्यं व्यूढं वज्राख्यव्यूहरचनया स्थितं दृष्ट्वा राजा दुर्योधन आचार्यं द्रोणमुपसंगम्योपेत्य वचनं रहस्ययुक्तं हार्दं विकृण्वद्वचनमब्रवीदुक्तवान् । ननु स्वानीकमदृष्ट्वैव पाण्डवानीकावलोकनमयुक्तमिवाभाति । सत्यमयुक्तं स्याद्यदि तथैव स्यात् । न च तथा । स्वसैन्यानि दृष्ट्वैव पाण्डवसैन्यावलोकनमकरोद्दुर्योधनः । कुतो ज्ञायते ? तुना

ज्ञायते । तुरित्यानन्तर्ये । कस्यानन्तरम् ? स्वसैन्यावलोकनस्यैवेत्यर्थादायातम् । द्रोणो दुर्योधनस्यापि गुरुरासीत् । गुरोः सविधे शिष्यस्य दुर्योधनस्य गमनं स्वहृदयोद्घाटनं च युक्तमेव । भीष्मस्तु प्रथमत एव पाण्डवानां जयकाम आसीत्तेन तमगत्वैवाचार्यसमीपे गमनमित्यपि वेदितव्यम् । तत्र गत्वा कीदृशं वचनमब्रवीत, तदग्रे वक्ष्यति । सञ्जय उवाचेतिवचनं व्यासस्य महाभारतकर्तुः ॥ २ ॥

दुर्योधनो गुरोः पुरतः स्थित्वा यदुक्तवांस्तदनुवदति सञ्जयः—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य, पाण्डुपुत्राणां युधिष्ठिरादीनामेतां पुर उपस्थितां महतीं मनसाचिन्तितां चमूं सेनां पश्य निरीक्षस्व । किंभूताम् ? तवैव शिष्येण धीमता बुद्धिमता युद्धकलाविदा न तु स्वल्पज्ञानेन द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन व्यूढां व्यूहरचनया स्थिताम् । अस्मिन्नेव भीष्मपर्वण्येकोनविंशेध्याये 'धार्तराष्ट्राण्यनीकानि दृष्ट्वा व्यूढानि पाण्डवः । अभ्यभाषत धर्मात्मा धर्मराजो धनञ्जयम् ॥ एतद्वचनमाज्ञाय महर्षेर्व्यूहं पाण्डव । एतच्छ्रुत्वा धर्मराजः प्रत्यभाषत पाण्डवः ॥ एष व्यूहामि ते व्यूहं राजसत्तम दुर्जयम् । अचलं नाम वज्राख्यं विहितं वज्रपाणिना ॥" इत्यादिवचनाद्धनञ्जयकृतो व्यूहो न तु द्रुपदात्मजकृत इति प्रतीयते तथापि द्रुपदपुत्रेणेत्यत्र कथनं पूर्ववैरस्मृतिप्रदानेन द्रोणक्रोधानलप्रदीपनार्थमित्यवगम्यते । स्वापेक्षया न्यूनामपि पाण्डवचमूं महतीमिति विशिषतो दुर्योधनस्य व्याकुलत्वं स्पष्टमेवेति सूचितम् । तव शिष्येणेति कथनेनापि धृष्टद्युम्नस्यार्जुनस्य वा शौर्यं धीमत्त्वं द्रोणशिष्यत्वं च स्मृत्वोदीयमानं स्वहृदयस्थं भयमाविष्करोतीत्यप्यवगम्यते ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

अत्र पाण्डवसेनायां भीमार्जुनसमा भीमेनार्जुनेन च तुल्या महेष्वासा इषवो बाणा अस्यन्ते येभ्यस्त इष्वासा धनूंषि । महान्त महान्ति इष्वासा

धनूंषि येषां ते महाधनुर्धरा इत्यर्थः। युधि युद्धे च शूराः शत्रुसैन्यविशरणकर्तारो युयुधानः सात्यकिर्विराटो द्रुपदश्चेत्येते सन्ति। महारथ इति प्रत्येकं युज्यते। युयुधानादयस्त्रयो भीमोर्जुनश्चेति सर्व एव महारथाः "एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स वै प्रोक्तो महारथः॥" इतिलक्षणलक्षिताः॥ ४॥

नैत एव, अन्येपि सन्तीत्याह—

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥

धृष्टकेतुः कैकेयश्चेकितानः काशिराजः पुरुजित्कुन्तिभोजः शैब्यश्चेति सर्वे वीर्यवन्तोत एव नरपुङ्गवा नरवीराः॥ ५॥

अन्येपि सन्तीत्याह—

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

विक्रान्तो विक्रान्ता विशेषण क्रमणकर्ता युधामन्युर्वीर्यवानर्यसहिष्णुरुत्तमौजाः सौभद्रः सुभद्रायाः पुत्रोभिमन्युर्द्रौपदेयाः द्रौपद्याः प्रतिविन्ध्यो धर्मराजपुत्रः श्रुतसोमो भीमपुत्रः श्रुतकीर्तिरर्जुनपुत्रः शतानीको नकुलपुत्रः श्रुतकर्मा सहदेवपुत्र इत्येते पञ्च पुत्राः सर्व एव महारथा अत्र शत्रुसेनायां दृश्यन्ते। एतानि विशिष्टानामेव वीराणां नामान्युक्तानि॥ ६॥

इदानीं स्वबलस्वरूपमाह—

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते॥ ७॥

तुरिति चार्थे। अस्माकं च ये विशिष्टा योद्धारस्तान् हे द्विजोत्तम ब्राह्मणश्रेष्ठ निबोध नितरां जानीहि मत्त इति शेषः। मम सैन्यस्य ये नायका नेतारः सन्ति तांस्ते तव संज्ञार्थमवगत्यर्थं ब्रवीमि। अत्रेदं विचारणीयम्, दुर्योधनेन पूर्वमस्माकमिति बहुवचनं प्रयुक्तम्, तत्त समी-

चीनमेव । तत्पक्षीयाणां तस्य च सर्वेषामेव ते सैनिकाः । परं नायका मम सैन्यस्येत्यत्र ममेत्येकवचनप्रयोगे किं रहस्यमिति । वैयग्र्यमन्तरेण न हि किंचित्कारणान्तरं पश्यामः । तस्य पूर्वग्रह आसीत्पाण्डवानां पक्षे न केपि स्थातारः । ये केचित्सहायका आगमिष्यन्ति त अल्प एव भविष्यन्तीति । इदानीं तु महतीं सेनामदीनां च दृष्ट्वा तस्य पूर्वग्रहनिग्रहणेन व्याकुलीभूतं मनः । किं कुत्र वक्तव्यमित्यपि स विसस्मार । अत एव क्वचिदस्माकमिति क्वचिच्च ममेति प्रयोगे न स संचुकोचेति । ननु तान्निबोधेतिकथनेनैव संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते इति चतुर्थं चरणं पर्यवसितार्थं कुतः पुनस्तदुच्चारणमिति चेदुक्त एव हेतुर्वैयग्र्यमिति । अस्माकं सैन्यस्य ये विशिष्टा नायकास्तान् हे द्विजोत्तम निबोध । मम ते तव च संज्ञार्थं तान्ब्रवीमीत्यपि योजना शक्यते कर्तुम् । नन्वस्यां योजनायां मम संज्ञार्थमित्यस्य किं स्यात्तात्पर्यम् ? उच्यते । पुनःपुनरुच्चारणेन मम ज्ञानं स्थिरं स्यात्तव च तेषां ज्ञानं स्यादिति मन्तव्यम् ॥ ७ ॥

स्वस्य विशिष्टसेनानायकानाह—

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव ÷ च ॥ ८ ॥

औचित्यात्प्रथममाचार्यनामादत्ते । भवान् द्रोणाचार्यो भीष्मः पितामहः कर्णः कृपोऽश्वत्थामा विकर्णः स्वभ्राता सौमदत्तिः सोमदत्तपुत्रो भूरिश्रवाः । समितिञ्जय इति प्रत्येकं संबध्यते । सर्व एवैते समितिञ्जया युद्धविजेतारः ॥ ८ ॥

किंच—

अन्येपि बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

एतदतिरिक्ता अन्ये चापरेपि शूरा वीरा मदर्थे मद्विजयाय मच्छ्रेयसे वा त्यक्तजीविता जीवनं त्यक्तुमुत्सुका गृहीतमरणदीक्षा इत्यर्थो न तु

÷ तथैव चेत्यस्य स्थाने जयद्रथ इत्यपि क्वाचित्कः पाठः ।

त्यक्तं जीवितं यैस्त इत्यर्थः। त्यक्तजीवितो हि मृत इत्युच्यते। मृतैर्युद्धे किमपि न सिध्येदिति न परोक्षं केषामपि। ते च सर्वे नानाशस्त्रप्रहरणा नाना बहुविधानि शस्त्राणि खड्गभल्लादीनि प्रहरणानि गदादीनि येषां ते। युद्धविशारदा युद्धकौशलकोविदाः। विशिष्टान् वर्णयितुमुद्यतः सोविशिष्टानन्याञ्शूरान् वर्णयितुं प्रवृत्त इति नायुक्तम्। स्वबलाधिक्यवर्णन एव तात्पर्यात्। "शकुनिः सौबलः शल्य आवन्त्योथ जयद्रथः। विन्दानुविन्दौ कैकेयाः काम्बोजस्य सुदक्षिणः॥ श्रुतायुधश्च कालिङ्गो जयत्सेनश्च पार्थिवः। बृहद्बलश्च कौशल्यः कृतवर्मा च शाश्वतः॥ दशैते पुरुषव्याघ्राः शूराः परिघबाहवः। अक्षौहिणीनां पतयो यज्वानो भूरिदक्षिणाः॥ एते चान्ये च बहवो दुर्योधनवशानुगाः। राजानो राजपुत्राश्च नीतिमन्तो महारथाः॥ सन्नद्धाः समदृश्यन्त स्वेष्वनीकेष्ववस्थिताः। बद्धकृष्णाजिनाः सर्वे बलिनो युद्धशालिनः॥" (भीष्म० १६।१५।१९) इत्येवं भारते पूर्वोक्तानां महारथानां कथमेकस्यापि नामागणयता दुर्योधनेन सप्तानामेव जयद्रथेन सहाष्टानामेव वा नामानि श्रावितानीति प्रश्नस्योत्तर तस्य वैकल्यमेवेति। स्वापराधेन स्वनैर्बल्यमनुस्मरतस्तस्य सर्वं बलमपि विस्मृतमिति ॥९॥

वैकल्यमात्मनः प्रकटयन्नाह—

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

तत्तस्मात्पाण्डवानां चमूर्महत्यस्तीतिकारणादस्माकं बलं सैन्यं भीष्माभिरक्षितमप्यपर्याप्तमबलम्। एतेषां तु किन्तु रणायोद्यतं बलमिदं भीमाभिरक्षितं पर्याप्तमस्माञ्जेतुमलम्। अत्र पर्याप्तापर्याप्तशब्दार्थयोर्महान् विवादः। केषांचिन्मते पर्याप्तमल्पमिति। केषांचिन्मते पर्याप्तमनल्पमिति। पर्याप्तमनल्पमित्येव च वयम्। तत्र हेतवः। तव शिष्येण धीमतेति द्रुपदपुत्रस्य विशेषणात्, पाण्डवानां महतीं चमूमितिवर्णनात्, शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा इतिकथनात्, महारथशब्दस्यासकृदभिधानात्, सप्तदशमहारथानां परपक्षीयाणां परिगणनात्, स्वपक्षेष्टानामेव विशिष्टानां वीराणां परिगणनात्,

शूरमहारथादिशब्दानामप्रयोगात्, परिगणनीयानामपि वीराणामत्रानुक्तत्वाद्-भयविक्लवस्य दुर्योधनस्य सैन्यमसमर्थमेवेति तस्याभिप्रायः। भीष्माभिरक्षित-मित्युक्त्यापि तद्बलमसमर्थमेवेत्येव प्रतीयते। भीष्मे तस्य बहुलविश्वासाभावात्। 'कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सित' मितिकोषाच्चापि पर्याप्तमलमर्थक-मेवेति। यद्यपि पाण्डवसेनाया नायकत्वं धृष्टद्युम्न आसीत्तथापि प्राथमिकस्य वज्रव्यूहस्य रक्षको भीम एवासीदितिभीमाभिरक्षितमित्युक्तम् ॥१०॥

अत्यावश्यकं कृत्यमादिशति—

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

पतत्रिव्यूहरचनयावस्थितस्य सैन्यस्यायनेषु प्रवेशमार्गेषु यथाभागं भागं नियतस्थानमनतिक्रम्यावस्थिताः स्थिरा भवन्तः सर्व एव भीष्ममेवाभि-रक्षन्तु परिरक्षन्तु। हिर्निश्चये। इदमपि वचनं दुर्योधनस्य हृदयभीतिं स्फोटयति। पाण्डवानां सेनायाः प्राबल्यं भीष्मस्य सप्तत्यधिकशतवर्षायु-ष्कस्य वृद्धत्वं शिखण्डिना सह न योद्धव्यमितिगृहीतप्रतिज्ञस्य तस्य शिख-ण्डिनः सकाशान्मृत्युभयमित्यादयस्तस्य भयहेतवः। हते भीष्मे जयाशाल्पी-यस्येवेति मानसिकं दौर्बल्यमपि भयहेतुः ॥११॥

सङ्गरारम्भं वर्णयति—

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

हे पृथिवीपते इति सम्बोधनपदमष्टादशाच्छ्लोकादूगृह्यते। तस्य बहुधा विषण्णस्य दुर्योधनस्य हर्षं सञ्जनयन्नुत्पादयन् गतहर्षं दुर्योधनं हर्षयन्नित्यर्थः। हेत्वर्थे शता। कुरुवृद्धः कुरुषु मत्या शक्त्यायुषा च वृद्धो भीष्मपितामहः सिंहनादं विनद्य समूलकाषं कषतीतिवत् णमुलन्तस्य सिंहनादपदस्य विनद्येत्यनुप्रयोगः। प्रतापवान्सन्नुच्चैर्वेगेन शङ्खं कम्बुं दध्मौ ध्मातवान्। अयनेष्विति तस्येति च श्लोकनिहिततात्पर्यानुसन्धानादप्यपर्याप्तशब्दस्यानलमित्य-र्थएव समीचीनः ॥१२॥

'उदग्रमनसः के वा के वा दीना विचेतस' इति धृतराष्ट्रकृतप्रश्नस्योत्तरमभिधाय 'के पूर्वं प्राहरंस्तत्र युद्धे हृदयकम्पने। मामकाः पाण्डवेया वा तन्ममाचक्ष्व संजये'तिप्रश्नस्योत्तरमाख्यातुं संजय उवाच—

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

ततो भीष्मशङ्खध्मानानन्तरं बहवः शङ्खा भेर्यो ढक्काः पणवा वाद्यविशेषाः। 'वाद्यप्रभेदा डमरुमड्डुडिण्डिमझर्झराः। मर्दलः पणव' इत्यमरः। आनकाः पटहा गोमुखा वाद्यविशेषाः। 'गोमुखं कुटिलागारे वाद्यभाण्डे' इति कोषः। सहसैवातर्किता एव। 'अतर्किते तु सहसे'त्यमरः। अभ्यहन्यन्ताभिहताः। कर्मकर्तरि प्रयोगः। स शब्दो वाद्यानां रणवाद्यानां शब्दस्तुमुलो व्याकुलतासम्पादकोऽभूत् ॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

वाद्यानां तुमुलशब्दोत्थानानन्तरं श्वेतैर्विजयसूचकश्वेतवर्णैर्हयैरश्वैर्युक्ते समन्विते स्यन्दने रथे स्थितावुपविष्टौ माधवः कृष्णः पाण्डवोऽर्जुनश्च पाञ्चजन्यं देवदत्तं च दिव्यौ परमोत्कृष्टौ शङ्खौ प्रदध्मतुर्ध्मातवन्तौ ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

हृषीकेशो हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशः स्वामी नियतेन्द्रियो जितेन्द्रियो वा पाञ्चजन्यमेतन्नामानं शङ्खं धनञ्जयोऽर्जुनश्च देवदत्तं देवदत्तनामानं भीमकर्मा भयङ्करकर्मकर्ता शत्रुभयप्रदाता वृकोदरो वृकाख्योऽग्निरुदरे जठरे यस्य स भीमः पौण्ड्रं पौण्ड्रनामानं महाशङ्खं महाशब्दकरं दध्मौ ध्मातवान्। दध्माविति प्रत्येकमन्वेति ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरो राजानन्तविजयमनन्तविजयनामानं स्वशङ्खं दध्मौ । नकुलः सुघोषं सुघोषनामानं सहदेवश्च मणिपुष्पकनामानं शङ्खं दध्मौ ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

परमेष्वासो महाधनुर्धरः काश्यः काशिराजो महारथः शिखण्डी धृष्टद्युम्नो विराटोऽपराजितः सात्यकिश्च शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथगित्युत्तरेणान्वयः ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

द्रुपदो द्रौपदेया द्रौपद्याः पञ्च पुत्राः सौभद्रः सुभद्रायाः पुत्रो महाबाहुर्महान्तौ बाहू यस्य स महाबलवानित्याशयः । अभिमन्युः पृथक् पृथक् शङ्खान्दध्मुः ॥१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

नभो गगनं पृथिवीं पृथिवीशब्देन दिश उपलक्षिताः सर्वा दिशश्चेतिभावः । व्यनुनादयन्विशेषेण प्रतिध्वनयंस्तुमुलो व्याकुलताजनकः स घोषः कृष्णार्जुनयोर्युधिष्ठिरादीनां तत्सैन्यानां च शङ्खघोषो धार्तराष्ट्राणां धृतराष्ट्रपुत्राणां दुर्योधनादीनां हृदयानि प्रत्येकमुपलक्ष्य बहुवचनम् । व्यदारयद्विशेषेण दारितवानिव । तेषां हृदयं भयतोऽतिविह्वलं बभूवेत्याशयः । इदं सर्वमप्यपर्याप्तशब्दार्थनिर्णायकम् । ननु स घोषस्तव पुत्राणामितिवक्तव्ये धार्तराष्ट्राणामितिकथनं धृतराष्ट्रस्य पुरस्तात्कथमौचित्यं सन्धत्त इति चेत्, शृणु । न केवलं दुर्योधनादीनामेव धिक्करणं तत्पितुर्धृतराष्ट्रस्यापीति तथोच्चारणम् ॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

'क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन' (म० भी० १।३१) इति परस्परं कृतं समयमनुस्मृत्य कपिध्वजः कपिचिह्नं ध्वजे पताकायां यस्य स पाण्डवोऽर्जुनः शस्त्रसंपाते शस्त्राणां सम्पातो यस्मिंस्तस्मिन्युद्धे प्रवृत्ते सति प्रवर्तिष्यमाणे सतीतिभावः । शङ्खघोषसमकालमेव युद्धप्रवृत्तिः संजातेति मत्वा प्रवृत्त इत्युक्तम् । धनुः शरासनमुद्यम्योद्यतं कृत्वा, अथानन्तरं धार्तराष्ट्रान्व्यवस्थितान्व्यवस्थयावस्थितान्दृष्ट्वा संवीक्ष्य, हे महीपते धृतराष्ट्र हृषीकेशं श्रीकृष्णं तदेदं वाक्यमाह । इदमिति किम्? हे अच्युताच्यवनशील, उभयोः कौरवपाण्डवसेनयोर्मध्ये मध्यभागे मे मम रथं स्थापय स्थितं कुर्विति । सर्वत्रैवात्रार्जुन उवाचेत्येव पाठः । स चाशुद्धः । सञ्जयस्य नाप्रत्यक्षमर्जुनवचनम् । परोक्षे हि लिड्भवति न प्रत्यक्षे । तथापि स एव पाठो मयापि रक्षितः ॥२०।२१॥

अवशिष्टमर्जुनवचनमाह—

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

किमर्थमुभयोः सेनयोर्मध्ये रथः स्थापयितव्य इत्याह—यावद्यत एतान् योद्धुकामान् योद्धुं कामयन्ते इति योद्धुकामास्तान् । 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । योद्धुमिच्छतोऽवस्थितानुपस्थितानहं निरीक्षे विलोकयामि नाम्ना वयसा सम्बन्धेन च परिचिनोमीति । किमर्थमयं परिचय आवश्यकः? उच्यते । कैर्वीरैर्मया सह योद्धव्यं मया वा कैः सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे युद्धोद्योग इत्यपि द्रक्ष्यामीति ॥२२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

अत्र युद्धे दुर्बुद्धेर्मलिनमनीषस्य धार्तराष्ट्रस्य धृतराष्ट्रपुत्रस्य दुर्योधनस्य प्रियचिकीर्षवः प्रियमेव कर्तुमिच्छवो न हितं कर्तुं य एते समागतास्तानितिशेषः । योत्स्यमानान्युद्धं करिष्यमाणानहमवेक्षेवलोके । ननु एतच्छब्दः पुरोवर्तमानपदार्थसूचनाय प्रयुज्यते । एवं च ते योद्धारः पुरो दृश्यन्त एव कथं तर्हि तानवेक्षेहमिति? उच्यते । यद्यपि ते पुर एव वर्तमानाः परन्तु तेषां संख्याया आधिक्यादधिकेषु देशेषु प्रसृतत्वाद्रथस्थितेन साकल्येन द्रष्टुमशक्यत्वादवेक्षेहमुभयोः सेनयोर्मध्ये स्थित्वेति न विस्मर्तव्यम् । नन्वयं श्लोकः पूर्वेणैव श्लोकेन गतार्थः किमर्थं तर्ह्यस्यारम्भः? श्रूयताम् । पूर्वस्मिञ्श्लोके तु केवलं योद्धुकामानां दर्शनेच्छा प्रकटिता, अत्र तु दुर्योधनस्य प्रियचिकीर्षूणां दर्शनमभीप्सितम् । अस्य दुर्मतेर्ये प्रियचिकीर्षवस्तेपि दुर्मतय एवेति दुर्मतीनामविवेकवतां दर्शनमिष्टमितिभेदः । किं च यैः सह योद्धव्यं तेषां स्वरूपपरिचयेन योद्धव्या एते न वेति ज्ञानेच्छयापि पूर्वश्लोके दिदृक्षा प्रकटिता, अत्र तु योद्धृयोद्धव्यविचारमन्तरेण, केवलमविवेकिनां दर्शनमिष्टमित्यपि भेदोवगन्तव्यः ॥२३॥

सञ्जय उवाच–

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच..

हे भारत भरतकुलोत्पन्न धृतराष्ट्र, गुडाकेशेन गुडाकाया निद्राया ईशेन विजितनिद्रेणार्जुनेनैवमुक्तः प्रार्थितो हृषीकेशो जितेन्द्रियो वासुदेव उभयोः सेनयोर्मध्ये भीष्मद्रोणप्रमुखतो भीष्मद्रोणप्रमुखाणाम् । सार्वविभक्तिकस्तसिः । सर्वेषामन्येषां च महीक्षितां राज्ञां मध्ये पुरो वा रथं स्थापयित्वावरोध्योवाचोक्तवान् । उवाचेत्यार्षः प्रयोगः । सञ्जय उवाचेति व्यासवचनम् ॥२४।२५॥

भगवानुवाच—

......पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

हे पार्थ पृथापुत्र समवेतान्संगतानेतान्पुर उपस्थितान्योत्स्यमानान् कुरून्कुरुवंशजान्पश्य निरीक्षस्वेति ॥२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

पार्थः पृथायाः पुत्रोऽर्जुनः । ननु कथं पितृव्यपदेशं विसृज्य मातृव्यपदेश इति ? अस्त्येवात्र बहु वक्तव्यं परं नोच्यते । केवलमेतावतैव सन्तोष्टव्यं यद्भारतवर्षे कस्मिंश्चित्काले कस्मिंश्चित्प्रदेशे केनचित्कारणेन मातुरेव प्राधान्यान्मातृव्यपदेशः प्राचीनसम्प्रदायसिद्धः । अत एव कौन्तेयसौमित्र्यादयोऽपि निर्देशा नाश्चर्यकरा इति । कैर्मया सह योद्धव्यमितिदिदृक्षुरर्जुनस्तत्र शत्रुपक्षे न तु स्वपक्षेऽपि । स्वपक्षीया न केऽपि तेन सह युयुत्सव आसन्न वा स तैः सह युयुत्सुरासीत् । पितॄन् पितृतुल्यान्पितृव्यादीन्भूरिश्रवःप्रमुखान् पितामहान्भीष्मादीनाचार्यान्द्रोणादीन्मातुलाञ्शल्यादीन्भ्रातॄन्दुर्योधनादीन् पुत्रांल्लक्ष्मणादीन् पौत्रांल्लक्ष्मणादिपुत्रांस्तथा सखीन्समानख्यातानश्वत्थामादीन् स्थितान्युयुत्सयेतिशेषः । अपश्यत् ॥२६॥

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

श्वशुराञ्श्वशुरतुल्यान्दुर्योधनादीनां श्वशुरानित्यर्थः । सुहृदो मित्राणि कृतवर्मादीनेतांस्तान्सर्वान्बन्धून्सम्बन्धिन एवावस्थितान्समीक्ष्य दृष्ट्वा स कौन्तेयः कुन्तीपुत्रः । न स कुन्तीपुत्रस्तथापि धर्मराजाविशेषात्तस्य कुन्तीपुत्रत्वं तस्मिन्नप्यारोपितम् । परया महत्या कृपया स्नेहेन कार्पण्येन वा न त्वनुकम्पया । विषीदन्विषादमनुभवन्निदं वक्ष्यमाणमब्रवीदुक्तवान् । ननु कैर्मया सह मया वा कैः सह

योद्धव्यमितिजिज्ञासयैव प्रवृत्तस्यार्जुनस्योभयोः सेनयोरवस्थितानां सम्बन्धिनां वर्णने को नामोपयुक्तो हेतुः ? उच्यते । न कोप्युपयुक्तो हेतुः । स्वसेनायां के क आसन्निति तस्य नैवासीदविदितम् । परसेनायां के क आसन्नित्येवाविदितमासीत् । ततस्तेन परसैन्यस्यैव दर्शनं कृतं न तु स्वसैन्यस्यापि । ननु तर्हि सेनयोरुभयोरपीति कथनमसंगतं स्यादिति । न स्यात् । उभयोः सेनयोरपि मध्येवस्थितः सोर्जुन इत्यर्थस्य स्फुटत्वात् । अथवा दर्शनं तु परसेनाया एव । समीक्षा तूभयोरपि सेनयोः । समीक्षा विचारः । उभयोरपि सेनयोरवस्थितानां सर्वेषामेव बन्धूनां विचारं कृत्वा स विषीदन्नुवाचेत्यर्थसगतिः । विचारस्तु एतेषामकारणमेव मरणं भविष्यति युद्ध इति, अन्याय्यपक्षाश्रयणेन मृत्युरवश्यम्भावी सर्वेषामिति, मृतेषु चैतेष्वेतदाश्रितानां का दशेत्यादिप्रकारः ॥२७॥

किमब्रवीदित्याह—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

हे कृष्ण वासुदेव युयुत्सुं योद्धुकाममिमं पुरतो वर्तमानं स्वजनम् । पाण्डवाहितविरोधिनामेषां शत्रुपक्षे स्थितानामपि स्वजनत्वं परमार्थतो न व्यभिचरति । सामस्त्यवचनो जनशब्दः । इमान् युयुत्सून् स्वजनान्समुपस्थितान्दृष्ट्वा मम गात्राणि शरीरावयवाः सीदन्त्यवसन्ना निश्चेष्टा भवन्ति । मुखं च परिशुष्यति परितः सर्वथा शुष्कं भवति । मे मम शरीरे वेपथुः कम्पो रोमहर्षो रोमाञ्चश्च जायत उत्पद्यत इति ॥२९॥

अपरञ्च—

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

गाण्डीवं प्रसिद्धं मदीयं धनुर्हस्तान्मे हस्तात्स्रंसते स्रस्तं भवति, त्वक्छरीरावरकं चर्म परिदह्यते । शोकावेशवशाज्ज्वलन्तीव प्रतीयते मे

त्वक् । एवकारः पादपूरकः । मनश्च मे मम भ्रमतीव भ्रमदिव प्रतीयते। एतेषां परिणाममाह—अवस्थातुं न च शक्नोमि । पतिष्याम्येवेत्यनुभूयते ॥ ३० ॥

अपरं च—

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

हे केशव शोभनकेश । सखित्वादतिपरिचितत्वाच्चैतत्सम्बोधनं नानौचित्यं वहति । कश्चेशश्च विधिकपर्दिनौ वात्युपदेशादिना नियमयतीति केशव इति व्याख्यानं त्वविचारितरमणीयम् । अद्यावधि कृष्णे ब्रह्मत्वस्याभानात् । विपरीतानि वामाङ्गस्फुरणादीनि निमित्तानि दुःशकुनानि च पश्याम्यनुभवामि । चेति हेतौ । अत आहवे युद्धे स्वजनं स्वसम्बन्धिनो हत्वा निहत्य निष्प्राणान् गतदेहान्वा कृत्वा श्रेयः कल्याणं स्वस्यापि परस्यापि च नानुपश्यामि न भावयामि । स्वजनशब्द उभयपक्षावस्थितलोकानाह । ननु परपक्षीयानुद्दिश्य हत्वेति तु संगतम् । स्वपक्षीयानुद्दिश्य तु कथं हत्वेत्येतस्य संगतिः ? न हि स्वपक्षीयानपि स हनिष्यतीति । सत्यम् । युद्धे परपक्षस्यैव विनाशो नियत इति तु न शक्यते वक्तुम् । स्वपक्षस्यापि विनाशो नियत एव । एवं च युद्धोपक्रमकर्तृत्वात्स्वपक्षीयाः परैर्निहता अपि मयैव निहता इतिकल्पनस्यौचित्यात्तथोक्तम् । अथवा घातयित्वेत्यध्याहार्यम् । ननु युद्धारम्भे विषादस्य किं कारणम् ? दुर्योधनपक्षोन्याय्य एवेतिनिश्चप्रचम् । तत्सहायकैरप्यन्याय्यमार्गपक्षपातिभिरेव भाव्यम् । अन्यायानामन्यायिनां च वधे प्रजासन्तोषाद्धर्म एव नाधर्मः । तर्हि कोयं विषादावसरः ? इत्थम् । न स्वयमुत्थितो विषादो महावीरस्यार्जुनस्य । उत्थापित एव स सञ्जयेन । भीष्मानुमत्या धृतराष्ट्रेण प्रेषितः सञ्जय उपप्लव्यमधितिष्ठितां पाण्डवानां सविधे गत्वा शमवार्तां योजयन्नुवाच—

सर्वक्षयो दृश्यते यत्र कृत्स्नः पापोदयो निरयोभावसंस्थः ।
कस्तत्र कुर्याज्जातु कर्म प्रजानन्पराजयो यत्र समो जयश्च ॥

ते चेत्कुरूननुशिष्याथ पार्था निर्णीय सर्वान्द्विषतो निगृह्य ।
समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्यज्जीवध्वं ज्ञातिवधे न साधु ॥
सोहं जये चैव पराजये च निःश्रेयसं नाधिगच्छामि किञ्चित् ।
कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः ॥
सोहं प्रसाद्य प्रणतो वासुदेवं पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धम् ।
न चेद्भागं कुरवोन्यत्र युद्धात्प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो ॥
भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ।
अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये महास्रावं नित्यदुःखं चलं च ॥
भूयश्च तद्यशसो नानुरूपं तस्मात्पापं पाण्डव मा कृथास्त्वम् ।
पापानुबन्धं को नु तं कामयेत क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः ॥
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्याद्यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ।
कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च ॥
एतान्हत्वा कीदृशं तत्सुखं स्याद्यद्विन्देथास्तदनुब्रूहि पार्थ ।

इत्यादीनि संजयवचनानि महारथस्यार्जुनस्योत्साहविभङ्गसम्पादकानीति ज्ञेयम् । 'न च श्रेयोनुपश्यामी'ति पार्थविदनं केवलं 'निःश्रेयसं नाधिगच्छामि किंचित्' (महा० उ० अ० २५ श्लो० १२) इतिसंजयोपदेशस्य प्रतिबिम्बनम् ॥३१॥

अन्यच्च—

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

हे कृष्ण स्वजनहनने न श्रेयः पश्यामीतिहेतोर्विजयं न काङ्क्षे नेच्छामि विजयानन्तरं भविष्यद्राज्यं माहीपत्यं सुखानि चानायासेनैव प्राप्तानि जीवनसौकर्याण्यपि नेच्छामि । द्वितीयश्चोप्यर्थे । हे गोविन्द गोपाल श्रेयोप्रतिपत्त्या नोस्माकं राज्येन किम् ? भोगैर्भोग्यवस्तुजातानुभवैः किम् ? न कोपि लाभ इति तात्पर्यम् ॥३२॥

अन्यच्च—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

येषां बन्धूनां सम्बन्धिनां मित्राणामर्थे हितार्थाय नोस्माकं राज्यं काङ्क्षितमिच्छाविषयीभूतं भोगाः वाञ्छिता अभिलषिताः सुखानि चाभिलषितानि त इमे सर्वे धनानि स्वोपार्जितानि पैतृकाणि च त्यक्त्वा प्राणान्प्राणनमोहमपि परित्यज्य युद्धेस्मिन्त्समरेवस्थिताः । प्राणानित्यस्य प्राणनमोहमित्यर्थकरणेन जीवत्स्वपि तेषु प्राणांस्त्यक्त्वेतिकथनं कथं संगच्छत इति शङ्काया अनवसर एव ॥३३॥

अन्यच्च—

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

स्पष्टः । श्यालशब्दस्तालव्यादिर्लोके । दन्त्यादिर्वेदे । अत एव— 'अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां बिजामातुरुत वा घा स्यालात्' इति (ऋ० १।१०९।२) स्यं शूर्पं तस्माल्लाजानावपति विवाहकाल इति स्यालः कन्याभ्रातेति सायणाचार्याः । स्य.ल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः । स्याल्लाजानावपतीति वा । लाजा लाजतेः । स्यं शूर्पं स्यतेः । इति यास्काचार्याः । श्यालाः स्युर्भ्रातरः पत्न्या इत्यमरः । श्यायते । श्यैङ् गतौ । बाहुलकात्कालन्निति तत्रैव भानुजिदीक्षिताः । अथवा क्षीरस्वाम्याद्यनुरोधात् स्यालसालसमसूरसूरय इति कविप्रयोगाच्च दन्त्यादिरपि ॥३४॥

अन्यच्च—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

हे मधुसूदन, घ्नतोपि हिंसतोपि, अस्मानिति शेषः । एतान्सम्बन्धिनस्त्रैलोक्यराज्यस्यापि त्रयाणामपि लोकानां राज्यस्य हेतोरपि हन्तुं विशसितुं

नेच्छामि किंतु किमुत महीकृते पृथिव्या एकलोकरूपायाः कृते । अत्रा-प्येवंविधसंवादे 'धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं महाप्रतापः सवितेव भाति । हीनो हि धर्मेण महीमपीमां लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धि'रिति सञ्जयोपदेश एव हेतुः ॥३५॥

अन्यच्च—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन, धार्तराष्ट्रान्निहत्य हत्वा नोस्माकं तद्भ्रातृणामेव का प्रीतिः प्रसन्नता स्यात् ? आततायिनोपि विश्वासघातिनोप्येतान्हत्वास्मान् पापमेवाश्रयेत्सज्जेत । आततायिन इत्यत्र 'अपी'त्यध्याहार्यम् । तथैव मया व्याख्यातम् । आततायिनस्तु-'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारहरश्चैव' इत्येते षट् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चनेति शास्त्रे सत्यपि तेषां वधदोषदर्शनं संजयस्य 'ते चेत्कुरूननुशिष्याथ पार्था निर्णीय सर्वान्द्विषतो निगृह्य । समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याज्जीवध्वं ज्ञातिवधेन साधु ॥ (म० उ० २५।९) इत्युपदेशस्य परिणामरूपम् ॥३६॥

अन्यच्च—

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

तस्मात्पापमेवाश्रयेदस्मानिति हेतोः स्वबान्धवान्स्वसम्बन्धिनो धार्तराष्ट्रान् दुर्योधनादीन् हन्तुं प्राययितुं वयं नार्हा नार्हामः । हि यतः हे माधव स्वजनं हत्वा कथं केन प्रकारेण सुखिनः स्याम वयम् ? 'कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः' इति 'संपश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः' इति च सञ्जयोपदेशमनुसरति वचनमिदमर्जुनस्येति ॥३७॥

अन्यच्च—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

लोभोपहतचेतसो लोभेन राज्यलोभेनोपहता विवेकशून्या जाता चेतो विचारशक्तिर्येषां त एते दुर्योधनादयो यद्यपि कुलक्षयकृतं कुलानां वंशानां क्षयेण कृतं सम्पादितं दोषमनिष्टं मित्रद्रोहे बान्धवैः सह विद्रोहे विरोधे पातकं च न पश्यन्ति न विचारयन्ति, परन्तु हे जनार्दन, कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जानानैरस्माभिरस्मात्पापाद्दोषान्निवर्तितुं पृथग्भवितुं कथं न ज्ञेयं न विचारणीयम् ? एवमत्र तत्त्वम् । युद्धं क्षत्रियाणां स्वाभाविको धर्मः । धर्ममनुष्ठातुर्न भवितुमर्हति कदाप्यधर्मः । तथाप्यत्र क्षत्रियो घोरे युद्धे पापं निरीक्षत इत्यवश्यमत्र केनचित्कारणेन भाव्यम् । अस्त्येव कारणम् । एकं तु सञ्जयोपदेश एव कारणम् । अपरं तु मानवताया जागृतिः । क्षत्रियधर्मः स्वाभाविकः । मानवधर्मः स्वाभाविकतरः । कृते करिष्यमाणे च हिंसाकर्मणि विचारमाचिन्वानोतिक्रूरोपि क्रौर्यं परिजिहीर्षत्येव । मृत्युर्न भवति कस्यापि प्राणिनः प्रियः । यथा स स्वस्य दुःखाय तथान्यस्यापीति तत्त्वतो विचारयतामवश्यमेव सहृदयानां क्रौर्यान्निवृत्तिः स्यात् । वनवासपरितापतापितोपि समनाः सुमनाश्चार्जुनो युद्धे सर्वविनाशः परिणामे दुःखावह इति मनुष्यताप्रेरणाप्रेरितः स महानपि वीरो विरन्तुं युद्धात्काम-यांचकारेत्यत्र न किंचिदपि दुरासदम् । मानवधर्मः प्रबलः । स एव सहजः । क्षमानुकम्पे अतिशयाते एव सर्वान् गुणान्धर्मांश्च । ततोनुकम्पापरवानर्जुनो युद्धे दोषं निरीक्षाञ्चक्रे । क्षात्त्रधर्मः कृत्रिमः कल्पितः । स्वाभाविकेन मानवधर्मेण कृत्रिमस्य बाधे न काप्यनुपपत्तिरिति ॥३८।३९॥

कुलक्षयकृतान्दोषानाह—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोभिभवत्युत ॥४०॥

कुलक्षये सति सर्वेषां पुरुषाणां मरणे जाते सति सनातना बहोः कालात्प्रवृत्ता धर्माः प्रणाल्यः प्रणश्यन्ति लुम्पन्ति । धर्मे कुलधर्मे नष्टे सति कृत्स्नमखिलं कुलमधर्मोभिभवत्याक्राम्यति । उतेति खेदे । अत्र किञ्चिद्विशिष्टं विचारणीयम् । कुलधर्माः सनातना भवितुमर्हन्ति न वा ? तेषां नाशो भवितुमर्हति न वा ? साकल्येन कुलक्षयो भवितुमर्हति न वेति ? कुलधर्मशब्दार्थो विचारणीयः पूर्वम् । सन्ध्यावन्दनपञ्चमहायज्ञादिकं न कुलधर्मः, शास्त्रधर्मो हि तत् । सति शास्त्रे न भवितुमर्हति तस्य नाशः । सत्यदानादिकं नाद्यावधि कस्यापि कुलस्य धर्मत्वेन प्रसिद्धम् । वैयक्तिकोयं धर्मः । विष्णुशिवशिवादित्यगणपत्यादीनां पूजनं भवति कुलधर्मः परं तस्य नैयत्यं न क्वापि दृष्टचरम् । विष्णूपासकाः शंकरोपासका भवन्ति शङ्करोपासकाश्च विष्णूपासकाः । एवमन्येप्यन्ये भवन्ति । एत उभयेपि विष्णुशंकरावपास्य दुर्गादीनां चरणमाश्रयन्ते । अर्जुनो नासीच्छाक्तः शक्त्युपासकस्तथापि युद्धारम्भे भगवान् कृष्णस्तं देवीस्तोत्रमपाठयत् । किं च महाभारतयुद्धकाले रामकृष्णादीनामुपासना प्रचलितासीदित्यत्र नास्त्येव किञ्चित्प्रमाणम् । अवशिष्यते पितृतर्पणादि । अत्रैवार्जुनस्य वैशेषिकी चिन्ता । इदमेव तस्य कुलधर्मत्वेनात्राभिमतम् । महाभारतान्नावगम्यते पाण्डवैः पाण्डोः स्वपितुः कदापि कुत्रापि वार्षिकं श्राद्धं कृतं न वेति । धृतराष्ट्रेण पूर्वजानां श्राद्धं मृतानां कृतं न वेति, व्यासेनापि स्वपूर्वजेभ्यो जलपिण्डादिकं दत्तं न वेति, श्रीकृष्णेनापि वसुदेवनन्दादिभ्यः प्रत्तं तन्न वेति । ऋषीणामाश्रमेष्वपि क्वचिदपि पितृभ्यो जलपिण्डादिप्रदानं न श्रूयते । तर्हि पितृतर्पणादिकं तदानीं कुलधर्मत्वेन लोके प्रसिद्धमासीन्न वेति विचारणीयम् । इदं गीताप्रकरणमेव तत्प्रसिद्धौ प्रमाणमिति तु न वक्तव्यं, बहूनां विदुषां मते प्रथमाध्यायस्य प्रक्षिप्तत्वप्रवादात् । अत एव च श्राद्धतर्पणादिप्रश्नस्य गीतायां क्वापि भगवान्नोत्तरं प्रणयति स्म । महाभारतमुपलभ्यमानमिदानीं व्यासेनैव निखिलं व्यरचीत्यत्र नैकमत्यम् । समुद्रगुप्तराज्यपर्यन्तं तस्य रचनाकार्यं प्रावर्तिष्टेति बहुशः प्रमाणम् ।

अथर्ग्वेदस्याथर्ववेदस्य च महाभारतात्प्राचीनत्वेविवादात्तत्र च पितृतर्पणादिव्यवहारप्रतिपादनान्महाभारतकाले पितृतर्पणादि स्यादेवेति महान् प्रश्नः। आलोचनीयात्त्रोभौ वेदौ। तत्र पितर इतिबहुवचननिर्देशेन बहवो मन्त्रा बहवश्च विषयाः प्रतिपादिताः सन्ति। तत्र पितृशब्दो न केवळ मृतानामेव पितृपितामहादीनां वाचकः किन्त्वन्येषामपि। तथा हि–

प्र नु वोचा सुतेषु वां वीर्या यानि चक्रथुः।
हतासो वां पितरा देवशत्रव इन्द्राग्नी जीवथो युवम् ऋ०६।५।९।

अस्मिन्मन्त्रे पितरो हिंसका इति सायणः। पीयतिर्हिंसा कर्मा। देवशत्रव इति पितृविशेषणम्।

"चारु वदानि पितरः संगतेषु" अथ० ७।१२।१॥

अत्र पितरः पालकाः पितृभूता वा हे सभासदो जनाः इति सायणः।

"स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः" ऋ० ६।७५।९॥

अत्र पितरो रथस्य पालयितार इति सायणः।

"मृताः पितृषु संभवन्तु" अथ० १८।४।१८॥

इदानीन्तनाः पितरः स्वपूर्वजान् पितॄन् संयुञ्जन्त्विति सायणः। न कुत्रापि दृश्यते पितृभ्योवस्त्रादीनां दानविधानम्। परन्तु शुक्लयजुर्वेदे

"वह वपां जातवेद पितृभ्यो मेदसः कुल्या उप तान्स्रवन्तु" ३।५।२०॥

अत्र वपाया मेदसश्च दानं श्रूयते।

"अपूपवांश्चरुरेह सीदतु" अथ० १८।४।२०॥

अस्मिन्मन्त्रेपूपदानं मांसदानं च श्रूयते तच्च चरुरूपम्।

भवतु नाम पितृभ्यः पिण्डोदकक्रिया मा वा भूत्। तां विना तेषां पतनं भवतीति तु सर्वथैवावैदिकम्। तेन पिण्डोदकक्रियारूपकुलधर्मस्य क्षये न किञ्चिच्छिन्न भवति पितॄणाम्।

साकल्येन कुलक्षयस्तु गगनकुसुमायित एव। युद्धे युद्ध्यमानानां सर्वेषां वीराणामेव मरणं भवतीति कथनं लोकेतिहासविरुद्धम्। को नु प्रत्येष्यति महाभारतयुद्धे सर्व एव कालं गताः पञ्चषा एवावशिष्टाः पञ्च पाण्डवाः षष्ठश्च कृष्ण इति। यदि सर्वे वीरा मृता इति स्वीक्रियेत तथापि वीराणामल्पवयस्का भ्रातरः पुत्रा भ्रातृपुत्राः सर्वे त्ववशिष्टा एव भवेयुः। कथं नाम तर्हि कृत्स्नकुलनाशः? रामरावणयोर्युद्धेपि नासीत्कस्यापि साकल्येन कुलक्षयः। देवदानवयुद्धेपि नासीत्सर्वकुलक्षयः। युद्धे सर्वकुलक्षयो नास्त्येव। तर्हि का भीतिः कुलक्षयस्य? एवमस्ति तेन सनातनाः कुलधर्मा अपि न नश्येयुरिति स्पष्टमेव। किंच नास्ति कश्चन सनातनो धर्मः। बहवो धर्माः प्राचीना बहवश्च मध्यकालीना बहवश्च नवीनाः। धर्माणां स्थैर्यं नास्ति। प्राचीनोपगतो भवति नवीनश्च तत्स्थानं गृह्णाति। जननं मरणं चेत्येव सनातनो धर्मो नान्य इति ॥४०॥

अपरं च—

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण, अधर्माभिभवादधर्मेण धर्मस्याभिभवात्कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति व्यभिचारकर्मप्रवृत्ता भवन्ति। हे वार्ष्णेय वृष्णिकुलोत्पन्न स्त्रीषु दुष्टास्वसतीषु सम्पन्नासु सतीषु वर्णसङ्करो जायते। अयमपि श्लोको निरर्थक एव। युद्धे सर्वेषां पुरुषाणां वृद्धानां यूनां बालकानां मरणाभावात्कुलस्त्रीणां दुष्टत्वाप्रसङ्गात्। वर्णानां साङ्कर्यस्य च चिन्तार्जुनस्य मनस्यजनीति परा काष्ठाश्चर्यस्य। जायते वर्णसङ्कर इत्येकवचनं हृदयस्यौद्विग्न्यं सूचयति ।४१।

अपरं च—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

सङ्करो वर्णसङ्करः कुलघ्नानां नराणां कुलस्य च घातितस्य नरकायैव भवति नरकप्राप्तिकारणं भवतीति भावः । कुलस्यापि स नरकहेतुः । कस्य कुलस्य ? कुलघ्नानामेव । कुलघ्ना न स्वकुलं घ्नन्ति, परेषामेव कुलम्, कथं तेषां कुलस्य नरकावाप्तिः ? परेषां कुलं स्वकुलमेवेति मत्वा स्यान्नरकप्राप्तिः । कुलघ्नैः कुलं तु विनाशितमेव । नावशिष्टं कुलम् । कस्य तर्हि नरकावाप्तिः ? कुलेवशिष्टानां स्त्रीणामेव तर्हि । नैतत्समाधानं साधु । कुलस्त्रियस्तु स्त्रीकृतापराधेनैव नरकगामिन्यो भविष्यन्ति न तु कुलघ्नानामपराधेन । तर्हि कथमस्य वचनस्य सङ्गतिः ? अर्जुनो जानातु भगवान् व्यासो वा । न वयं विजानीमः । हिर्निश्चये । एषां पितरो लुप्तपिण्डोदकक्रिया अलब्धपिण्डोदकाः सन्तः पतन्ति । एषामित्युच्यते । केषाम् ? पुरोवस्थितानां परेषाम् । न युष्माकम् ? अस्माकमपि । कथं तर्ह्येषामिति ? बुद्धिस्थानेतानस्मांश्चाप्युद्दिश्यैषामिति । एवं चैषां कौरवाणां कौरवपक्षीयाणामस्माकमस्मत्पक्षीयाणां च पितरः पतिष्यन्तीत्याशयः ॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

कुलघ्नानां कुलघातिनां वर्णसङ्करकारकैर्वर्णसङ्करोत्पादकैरेतैर्दोषैर्जातिधर्माः कुलधर्माश्चोत्साद्यन्त उच्छिद्यन्ते । एतैर्दोषैरित्युक्तम् । के ते दोषाः ? कुलस्य हननं सनातनकुलधर्मविलोपनमधर्माभिभवः कुलस्त्रीषु दोषप्रवृत्तिर्वर्णसङ्कराणामुत्पत्तिर्लुप्तपिण्डोदकक्रियाणां च पितॄणां निपात इत्यादयः । नैते दोषाः । न भवति सनातनकुलधर्मविलोप इति प्रागुक्तम् । सनातनश्च विलोपश्चेति विप्रतिषिद्धमित्यपि ज्ञेयम् । अधर्माभिभव इत्यत्राधर्मशब्देन व्यभिचारस्यैव ग्रहणसम्भवात्सर्वलोकानां नाशाभावान्न व्यभिचारसंभव इति तादृक्कथनमयुक्तमेव । वर्णसङ्कराणामुत्पत्तौ न शोभते चिन्तार्जुनस्य । सङ्करोत्पत्तिश्च न साङ्कर्योत्पादिका । असवर्णस्त्रीपुंससंयोग एव सङ्करोत्पादे कारणम् । तत्र तु सवर्णतैव सम्पन्ना । तर्हि वर्णसङ्करोत्पादे कानि कारणानि ? न कान्यपि । कथं तर्हि वर्णसङ्करकारकैरित्युक्तम् ? मनोस्वास्थ्यादिति ब्रूमः । किं च

सङ्करसन्तानेन जातिधर्मा उत्साद्यन्त इति लोकेतिहासविरुद्धम्। कर्णः सङ्कर एवासीत्। जातिधर्मस्तु तत्र प्रज्वलित एव। पाण्डवाः सङ्करा एव तथापि जातिधर्मः क्षत्रतेजस्तत्राप्यविनश्वरमेव दृश्यते। तर्हि गीताया मन्दता प्रतीयेत। न प्रतीयेत। नेदं गीतावचनम्। अर्जुनस्य वचनमेतत्। गीता तु प्रवर्तिष्यते ततो यतः श्रीकृष्णवाणी प्रवर्त्स्यतीति ॥४३॥

अपरं चोक्तवान्—

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां येषां कुलधर्मोवसन्नो विनष्टस्तेषां मनुष्याणां हे जनार्दन नियतमवश्यं वासो निवासो नरके भवतीत्यनुशुश्रुम शृणुमो वयम्। इदमप्यतथ्यम्। कल्पिता एव कुलधर्माः। द्रोणकृपादीनां ब्राह्मणानां न युद्धं कौलो धर्मः। ज्ञानदानमेव तेषां कुलधर्मः। स तु तेषां युद्धप्रवृत्तानामुत्सन्न एव। न चासीत्तेषां नरकनिवासः। संन्यासिनां विरक्तानामपि कुलधर्मा अवसन्ना एव भवन्ति। न भवति तेषां नरकागारे बन्धः। ननु संन्यासोपि तेषां कुलधर्म एव। तस्य पालनान्नरकबन्धान्निवृत्तिरिति। नैवम्। संन्यासो न कुलधर्म आत्मधर्म ह्येषः। उत्पन्ने हि वैराग्ये संन्यासी भवति नानुत्पन्ने। नातः कुलधर्म एषः। उत्सन्नकुलधर्माणामित्युच्यते। तर्हि का भीतिरर्जुनस्य? तस्य कुलधर्मस्तु सुरक्षित एव यावत्स मरिष्यति। अन्येषां युधिष्ठिरादीनां बन्धूनां च सद्भावात्। सर्वेषां सकृदेव मृतिर्भविष्यतीतिचिन्तनं नितरां जाड्यमेव। तर्हि न स्वार्था भीतिरर्जुनस्य परार्थैव सा। दुर्योधनादीनां कृते सा चिन्ता। हन्त कथं तेनावगतं दुर्योधनकुले न कोपि स्थास्यतीति? महानेषोभिमानः। तर्हि नैतद्वचनं युक्तम्। एवं, नैव युक्तम्। कथं तर्ह्यर्जुनेन भगवद्भक्तेनातीव विनम्रेणैतदुक्तम्? मनसोऽस्वास्थ्यात्। अनुशुश्रुमेति लिटः प्रयोगोपि तस्य विह्वलतां ज्ञापयति। नास्ति शासनमुत्तमे पुरुषे लिटः। प्रयुक्तश्च तेन स शासनविरुद्धः। तेन

ज्ञायते नासीत्तस्य मनः स्वस्थं सुस्थं चेति। किं च श्रीकृष्णोपदेशानन्तरं युद्धे तस्य प्रवृत्तिरपि ज्ञापयतीमाः सर्वा एव तदुक्तयो मोहपरिणामा इति ॥४४॥

अपर च—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥

बतेति पश्चात्तापे। अहो इत्याश्चर्ये। वयं धर्मतत्त्ववेत्तारो महत्पापं स्वजनवधरूपं कर्तुं व्यवसिता व्यवसायवन्तोभूमेत्याश्चर्यमेव। कीदृशं तन्महत्पापम्? उच्यते। यद्राज्यसुखलोभेन राज्यात्राप्त्या जनिष्यमाणस्य सुखस्य स्वैराहारविहारस्य लोभेन स्वजनं हन्तुमुद्यताः सज्जीभूताः। इयमप्युक्तिः सञ्जयोपदेशसन्ततिः। सञ्जयेन पूर्वमुक्तम् 'अन्तं गत्वा कर्मणां मा प्रजह्याः सत्यं दमं चार्जवमानृशंस्यम् इति' (महा० उद्यो० २७।१५) कर्मणामन्तं गत्वा हिंसाकर्माणि स्वीकृत्येति भावः। सत्यं दमम् आर्जवम् आनृशंस्यं च मा प्रजह्या इत्यर्थकम्। 'निबन्धनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव (म० उ०२७।५) इति च ॥४५॥

धर्मभीरुरर्जुनः पुनराह—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥

यदि धार्तराष्ट्रा दुर्योधनादयो मामप्रतीकारं प्रतीकारं स्वरक्षणोपायमकुर्वाणं स्वयं प्रतीकारं कुर्वाणाः, एवं मामशस्त्रं विन्यस्तशस्त्रं स्वयं शास्त्रपाणयो हस्ते गृहीतायुधा रणे रणभूमौ हन्युर्घातयेयुर्हिंस्युस्तत् तेन मे मम क्षेमतरमतिशोभनं स्याददतिशयेन श्रेयो वा स्यात्। ममापराधिनः क्षेमाय भवेदिति भावः। ननु दुर्योधनादयो रणेऽर्जुनमशस्त्रमप्रतीकारं हन्युस्तर्हि तेषामेव पापं स्यात्, एवमर्जुनेन पूर्वोक्तप्रवचनानुसारेण कुलक्षयदोषस्तानेवाश्रयेत्। ततश्च ते नरकाधिकारिणो भवेयुरेव, तत्केयं दयालुतार्जुनस्य?

स्वयमपापं कृत्वा स्वर्गेप्सया तांश्च पापं कारयित्वा नरकाधिकारिणः कुर्वन्नर्जुनो दयालुताया वर्त्मनः प्रच्युतो भवत्येव । अत्रैतत्तात्पर्यम् । अर्जुनो मनुतेहमेव मुख्यो योद्धा पाण्डवानाम् । कदाचिन्मां घातयित्वा हत्वा वा कौरवा विरमेयुः । ततश्चावरुद्धो भवेदय दारुणः संग्रामः । न भवेयुः सर्व एव निरयगामिनः । यो हि हन्तार्जुनस्य स एक एव निरयमियात्, नान्ये । एवं च न भवेत्कुलनाशः, न भवेयुः पितरो लुप्तपिण्डोदकक्रिया-पीडिताः न च स्याद्वर्णसङ्करप्रजानां जन्मेत्येवमादिकं सर्वं हृदये कृत्वैवार्जुनेन मामित्येकवचनं प्रयुक्तम् । हन्युरिति संभावनायां लिङ् । 'क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचनेति' (भीष्म० १।३१) समयमनुसृत्य नैव ते निःशस्त्रमर्जुनं हन्तुकामा भवेयुरिति विश्वासोर्जुनस्य ॥ ४६ ॥

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

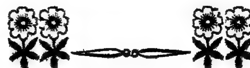
इति महाभारते श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विषादयोगो नाम प्रथमोध्यायः ॥

सञ्जयोधुनार्जुनोक्तं सर्वं धृतराष्ट्रं श्रावयित्वा, स्वदृष्टमाह—संख्ये युद्धे प्रारभ्यमाने एवमुक्तप्रकारेणोक्त्वा शोकसंविग्नमानसः शोकेन विषादेन संविग्नमुद्विग्नं मानसं यस्य सोर्जुनो विसृज्य सशरं शरेण सहितं चापं धनू रथोपस्थे रथमध्यभागे उपाविशदुपविशति स्म । पूर्वं मयोक्तं सर्वं समर्थयते शोकसंविग्नमानस इतिवचनमिति ॥ ४७ ॥

समुत्सार्यैव मनसो भयं निरयकारणम् ।
यः सत्यमनुसन्धत्ते स कृतार्थो भवेद् भुवि ॥ १ ॥

इति श्रीमहाभारते श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीमत्परमहंसपरिव्राजक-पण्डितराज—स्वामिश्रीभगवदाचार्यप्रणीते भगवद्भाष्ये

प्रथमोध्यायः



अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

सञ्जय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रोऽपि दौष्ट्यविष्टरासीन एवासीत् । ततोऽर्जुनविषादं तत्कृतशरसायकादिप्रक्षेपं च निशमय्य सर्वं निष्कण्टकमिति मन्वानं शान्तं शीतलं च निश्वसन्तं तमाह सञ्जयः—तमर्जुनं तथा तेन प्रकारेण कृपया कार्पण्येनाविष्टं परिपूर्णमश्रुपूर्णाकुलेक्षणमश्रुभिः पूर्णे आकुले ईक्षणे चक्षुषी यस्य तं विषीदन्तं विषादं कुर्वन्तं मधुसूदनः श्रीकृष्ण इदं वाक्यं वचनमुवाच । * उवाचेत्यार्षं क्रियापदम् । अवोचदित्यनेन भाव्यम् । व्यासप्रसादात सञ्जयस्य श्रीकृष्णवचनं युद्धे प्रोक्तं न परोक्षमासीत् । सर्वं तेन श्रुतं दृष्टं च । परोक्ष एव लिटो विधानादपरोक्षे तस्य प्रयोगो न साधुः । सञ्जय उवाचेति तु व्यासवचनं महाभारते । तद्वचनं व्यासस्य नासीदपरोक्षमिति लिड् युज्यते । कृपेह नानुकम्पा । सा तु दीनेष्वधीनेषु शरणागतेषु च निधीयते । दुर्योधनो न दीनो नाधीनो न वा शरणमागतः । अतः कृपात्र कार्पण्यम् । न च कृपापात्रं मा दुर्योधनो भूत्, अन्ये कथं न स्युस्तत्पक्षीया इति । अन्येऽपि नानुकम्पापात्रम् । सर्व एव वीरा महारथाः सोत्साहाश्च । अतः कृपा कार्पण्यमेवेह । कार्पण्यं च कादर्यम् । स्नेहोऽपि न कृपाशब्दार्थः । स्नेहः स्निग्धता । सा वात्सल्यस्पर्शिनी । नास्ति तस्या इहावकाश इति ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

हे अर्जुन, अकीर्तिकरमयशःसम्पादकमस्वर्ग्यं स्वर्गायाहितमत एवानार्यजुष्टमनार्यैरश्रेष्ठैर्जुष्टं सेवितमाश्रितमिदं कश्मलं मोहो विषमेनवसरे

---

* श्लोकारम्भे सञ्जय उवाच भगवानुवाचार्जुन उवाचेत्यादि लेखनस्य परिपाटी । ततस्तत्र कालविचारो न कर्तव्यः । श्लोके तु कर्तव्य एव ततो मया स विचारः कृतः । (भाष्यकारः)

त्वा त्वां कुतः कस्मात्समुपस्थितमुत्पन्नः । त्वं तु शूर आर्यश्च । न ह्यार्याणामयं सदाचारो युद्धं घोषयित्वा युद्धात्पलायनमिति । अयं विषमः कालः । नायं कालः कश्मलाधानस्य निधानस्य शौर्यस्य तवेति ॥ २ ॥

सान्त्वयत्यर्जुन कारुण्यतारुण्य लयो भगवान्—

श्रीभगवानुवाच—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ ३ ॥

हे पार्थ पृथापुत्र क्लैब्यं दौर्बल्यं मा स्म गमो मा स्म गाः । एतद्दौर्बल्यं त्वयि महावीरे मदाश्रिते च नोपपद्यते न युज्यते । हे परन्तप परेषां शत्रूणां परितापक क्षुद्रं क्षुद्रजनैरवलम्बनीय न कुलीनैः हृदयदौर्बल्यं हृदयस्यैव दौर्बल्यं नैर्बल्यं न तु पराक्रमस्य, त्यक्त्वा परिहृत्योत्तिष्ठ युद्धायोद्यतो भव ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

गीताग्रन्थे सम्बोधनपदविषये किंचिदालोचनीयम् । सर्वत्र सम्बोधनमेवेष्टम् । श्लोकाक्षररक्षणपुरस्सरं यथावकाशं किंचिदपि सम्बोधनपदं पात्रबोधाय निवेष्टव्यम् । तत्र नास्त्यर्थाग्रहः । ततस्तदर्थसम्पादनेन ग्रन्थकर्त्रानभिध्यातमपि यत्किञ्चिद्रहस्य प्रकाशयितुं न मयाग्रहो न्यषेवि । यथा वासुदेवशब्देन वासयति स्वस्मिन्स्थापयति सर्वानिति वासुः । वासुश्चासौ देवश्च वासुदेवः सर्वाधारः कृष्णपरमात्मेत्येतादृगर्थे न ममादरः । नासीदेव परिज्ञानमर्जुनस्य श्रीकृष्णः परमात्मेति । नाजानता तेन शक्यते तथा संबोधयितुमिति । अधुना श्लोकार्थो विचार्यते । हे मधुसूदन संख्ये युद्धे भीष्मं भीष्मपितामहं द्रोणं द्रोणाचार्यमस्मद्गुरुं च पूजार्हौ समर्चनीयावेतावेषुभिः शरैरहं तत्स्नेहपरिपालितस्तच्छिष्यश्च कथं कया रीत्या प्रतियोत्स्यामि प्रतिभटो भूत्वा योत्स्ये । तौ माननीयौ नावमाननीयौ । युद्धे तौ लक्ष्यीकृत्य शरसन्धानेपि स्यादेवावमाननेति । ननु भीष्मः क्षत्रियो द्रोणो ब्राह्मण आचार्यश्चार्जुनस्य । कथं ब्राह्मणस्याचार्य-

स्य च द्रोणस्य पश्चान्नामग्रहणं पूर्वं च भीष्मस्य क्षत्रियस्येति ? उच्यते । तस्मिन्काले क्षत्रियापेक्षया ब्राह्मणस्य नासीच्छ्रैष्ठ्यमित्यनेन प्रतीयते । विद्यावयोभ्यां श्रैष्ठ्यमादाय तन्नामग्रहणस्य प्राथम्यमिति चेन्न । द्रोणे ब्राह्मणत्वस्य विद्यायाश्चापि सत्त्वात् तन्नामप्राथम्यस्यैवौचित्यात् । वयसा श्रैष्ठ्यं तु क्वाचित्कम् । अतः 'कथं द्रोणमहं संख्ये भीष्मं च मधुसूदन' इत्येवंवचनस्यौचित्येपि तदनुष्ठानं ज्ञापयत्येव तत्काले क्षत्रियस्यैव श्रैष्ठ्यम् । अत एव मुख्यौ रामावतारः कृष्णावतारश्च क्षत्रियावेव न ब्राह्मणौ । न च दुर्जनविनाशायैवावतारो भवति । स च क्षत्रियसाध्य एवेति क्षत्रियावतार इति वाच्यम् । परशुरामकृपद्रोणाश्वत्थामादिषु ब्राह्मणेष्वपि दुर्जनसंहारसामर्थ्यस्य सत्त्वात् ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्,
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव,
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

अर्थकामानर्थं कामयन्त इति तान् गुरून् हत्वेहैवास्मिन् हस्तिनापुर एव रुधिरप्रदिग्धान्रक्ताक्तान् भोगान् भुञ्जीयानुभवेयमेतदपेक्षयार्थकामांस्तान्महानुभावान्महाप्रभावान् । गुरून् पूज्यानहत्वा न हिंसित्वेह हस्तिनापुरे लोके जनेषु भैक्ष्यं भिक्षाकदम्बकमपि भोक्तुं श्रेयः प्रशस्तम् । गुरूनित्युपलक्षणम् । तेन सर्वानेव प्रतिभटानित्यर्थः । न हि भीष्मद्रोणावेव संकेतयति गुरुशब्दः । एतान्न हन्तुमिच्छामीति पूर्वोक्त्या गुरुशब्दस्योपलक्षणविधयार्थकरणे याथार्थ्यं रक्षितं भवति । द्वयोरेवार्थे द्विवचनमेव युक्तं न बहुवचनमित्यपि ध्यातव्यम् । रुधिरप्रदिग्धशब्दो भोगानामन्यायोपार्जितत्वं ब्रूते । न हि भोगा एव रुधिरप्रदिग्धाः । हिंसयोपलब्धानि सर्वाण्येव वस्तूनि रुधिरप्रदिग्धान्येवेति मन्तव्यम् । भिक्षाचरणं संजयोपदेशाच्छिक्षितम् । 'न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो । भैक्ष्यचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥' इत्यादिसञ्जयवचनमनुसन्धेयम् ॥५॥

धर्मे परमपुरुषे संमूढं चेतो यस्येति व्याख्यानं स्थूलबुद्धीनाम् । कृष्णं परमात्मानं परं ब्रह्म मन्वानोऽर्जुनस्तमुपससादेत्यपि व्याख्यानमविचारपरायणानाम् । अद्यावधि कृष्णो ब्रह्मेति ज्ञानस्यानुदयादर्जुनस्येति ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्,
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं,
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

भूमौ पृथिव्यां मानवानामितिभावः । असपत्नं प्रतिद्वन्द्विरहितमृद्धं सम्पन्नं राज्यं सुराणां देवानामपि चाधिपत्यं स्वामित्वमिन्द्रत्वं स्वर्गस्वाम्यमित्यर्थः । अवाप्याधिगत्य । तत्किञ्चिन्न पश्यामि न जानामि यदिन्द्रियाणामुच्छोषणमतिपीडयितारं मम शोकमपनुद्यात् । एवमस्ति तत एव त्वां शरणमागतोऽस्य कृत्याकृत्यविवेकायेति । हिमालयप्रदेशः कैलासाद्रिः स्वर्गः । तत्स्था लोकाः सुरा इति । षुञ् अभिषवे । हिमालयेषूद्भवन्तीनामोषधीनां रसेन ते जीवन्ति स्मेति ॥ ८ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

हे परन्तप धृतराष्ट्र गुडाकेशो विजितनिद्रोऽर्जुनो हृषीकेशमिन्द्रियाधीशं श्रीकृष्णमेवं पूर्वोक्तरीत्योक्त्वा संभाष्य न योत्स्ये युद्धं न करिष्यामीति गोविन्दं गोपालमुक्त्वा तूष्णीं बभूव मौनमगृह्णात् । अत्र किञ्चिद्विचारणीयम् । मां त्वां प्रपन्नं श्रेयः शाधीति पूर्वमुक्तम् । कार्पण्यदोषोपहतस्वभावत्वाद्धर्मसंमूढचेतस्कत्वाच्च श्रीकृष्णे शरणान्वेषणमर्जुनस्येत्यवगतम् । कृत्याकृत्यनिर्णयासमर्थोऽर्जुनः कृष्णं कर्तव्यमार्गं पृष्ट्वा तत उत्तरमलभमानः कथं वक्तुं शक्नोति न योत्स्य इति? इदं तु स्वनिश्चयप्रकाशनम् । यदि स्वाध्वा तेन निश्चित एव कृष्णप्रपदनमनर्थकमेव स्यात् । कृते च प्रपदने स्वाभिप्रायप्रकाशनमयुक्तं स्यात् । किं च स्वविचारस्य गौरवप्रदर्शनेन पूर्वकृता प्रपत्तिः सापत्तिरेव स्यात् । कथं तर्ह्यस्य श्लोकस्यात्रावस्थानसंगति?

किञ्च न योत्स्य इत्युक्त्वा नार्जुनो विरराम प्रपत्ति स्वीकृत्यैव तस्य विरतिः। कथमस्य श्लोकस्य याथार्थ्यरक्षणं स्यात्? इत्थम्। न हि सोन्ते स्वनिश्चयं प्राचीकशत्। पूर्वमेव न योत्स्ये इत्यर्थत उक्त्वा पश्चाच्च प्रपत्तिमङ्गीकृत्य स तूष्णीं बभूवेति श्लोकयोजना। सञ्जयस्तु धृतराष्ट्रस्यैव जन आसीत्। युद्धात्पूर्वं युद्धाद्विरन्तुमर्जुनं बहूक्तवान्सः। इदानीं तस्य समीहितं गगनकुसुमायितं तेन खिन्नचेतसस्तस्य सर्वत्र वाक्यस्खलनं जातम्। अतो न योत्स्ये इति पदमत्र न स्थाने। यदि मन्यते स्थाने तर्हि मद्रीत्यैव व्याख्येयोयं श्लोक इति। व्यासप्रसादात्सञ्जयस्य युद्धगतसर्ववृत्तान्तानां प्रत्यक्षत्वाद्बभूवेत्यत्र 'हशश्वतोर्लङ् च' त्यनेन लिट्। सञ्जयोक्तोवाचेत्यादयो यथाकथञ्चिन्महाभाष्यकाररीत्या समाधेयः।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

उभयोः कौरवपाण्डवीययोः सेनयोर्मध्ये विषीदन्तमर्जुनं प्रहसन्निवोपहसन्निव हे भारत भरतकुलोत्पन्न धृतराष्ट्र हृषीकेशः श्रीकृष्ण इदं वच उवाचावोचत्। इदं वच उवाच, इदं वाक्यमुवाचेत्यादि सर्वत्र कथनं तु सञ्जयस्य स्वभावसिद्धम्। प्रहसन्निति स्मितपूर्वभाषित्वं श्रीकृष्णस्याभिव्यनक्तीति विवरणं जाड्योपहतानाम्। प्रहासो न स्मितं भवति। "ईषद्विकसितैर्दन्तैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः। अलक्षितद्विजद्वारमुत्तमानां स्मितं भवेदि"ति स्मितलक्षणम्। 'हासोट्टहास' इतिशब्दरत्नावली। हासो हास्यमित्यमरः। "अलक्ष्यदशनज्योत्स्नं तदुत्तमानां स्मितं भवेत्। उत्फुल्लमाननं यत्र विकसद्गण्डमण्डलम्॥ लक्ष्यमाणद्विजं यत्स्यात्तदेव हसितं भवेत्। आकुञ्चिताक्षगण्डं यन्मुखरागसमन्वितम्॥" इति स्मितहासलक्षणं भावप्रकाशने। स्मितपूर्वभाषित्वं भवतु नाम महापुरुषलक्षणम्, न त्विदं लक्षणं कृष्ण इदानी दृश्यते। तत्र तु प्रहसन्निति पदम्। तत्तूपहासार्थकं प्रसङ्गानुरोधात्। न तु स्मितार्थकं प्रसङ्गानुपयोगात्। इवेति पदं मदुक्तमेवार्थं द्रढयति। न हि स्मितभाषण इवोपयोगः कोपि। अतः प्रहास इहोपहास एव। अग्रे प्रज्ञावादांश्च भाषस इत्युपहास एव॥ १०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन त्वमशोच्याञ्छोकानर्हान्सम्बन्धिनो गुरुजनांश्चान्वशोचोनुशोचसि । आर्षो लङ् । प्रज्ञावादान् बुद्धिवादान् । बुद्धया प्रकल्पितान्वादान्सिद्धान्तांश्च भाषसे । आश्चर्यमेतत् । अशोच्या हि सर्वे सम्बन्धिनो द्रोणादयो गुरवश्च । अशोच्यत्वे तेषां हेतुद्वयम् । स्वयमन्यायमाचरतामन्यायमाचरतामन्येषां च समुत्साहं वर्धयतां तेषां वधे न ते शोच्याः । दुरात्मनां वधस्तु न पातकाय भवति, भवति च पुण्याय प्रजास्वास्थ्याय च । अशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्युक्तम् । तत्राशोच्येष्वंशद्वयम् । देह आत्मा च । न केवलं देहः किञ्चित्करोति न वा केवल आत्मा । उभौ संगत्यैव च कार्यं निर्वाहयत इति जीवब्रह्मभेदवादिनः । आत्मा तु अविनाशीत्यनुपदमेव वक्ष्यते । देहांशश्च जडो नियतकालश्च । न तस्य वधे दोषो घटादेरिव । जीवहिंसैव पापाय भवति न जडहिंसा । ननु शरीरमन्तरेण कदा कुत्र जीवस्य हिंसावलोकिता केनापि ? यत्र हिंसाविचारस्तत्र शरीरेणावश्यं भाव्यम् । देहो जडः । आत्मानश्वरः । एवं चाहिंसाधर्म एव विलुप्येत । अतो देहहिंसैव पापात्मिका ! देहरक्षणमेवाहिंसात्मकम् । कथं तर्ह्युच्यते देहवधे पापाभाव इति ? उच्यते । इदमत्र तात्पर्यम् । सम्बन्धिनोनुशोचतोर्जुनस्य मते न देहाद्भिन्नः कश्चन नित्यात्मा । देह एवात्मेति तस्य निश्चय इव । एवं च देहवधेपि प्रत्यवायः स्यादर्जुनमते । भगवान् कृष्णो देहाद्भिन्न आत्मेति स्वीकृत्याशोच्यानित्याह । नह्यविनश्वरस्यात्मनो वधः केनाप्युपायशतैरपि कर्तुं शक्यते । कृष्णमते देह एवावशिष्टः । न तस्य वधे कोपि दोषो जडत्वाद्विनाशित्वाच्च तस्य । नन्वेवं सत्यपि सोहिंसाधर्मोच्छेदप्रश्नस्तु तदवस्थ एव । भवतु तर्हि पूर्वमेव व्याख्यानमुचितम् । अशोच्याः खलु दुरात्मानो हताः सन्तः । तांस्त्वं शोचसि, अकर्तव्यं करोषि । तथापि प्रज्ञावादान् प्रज्ञाप्रधानवादान् प्रज्ञाप्रकल्पितान्वादान्वा न सिद्धान्त-

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

हे अर्जुन त्वमशोच्याञ्छोकानर्हान्सम्बन्धिनो गुरुजनांश्चान
शोचसि । आर्षो लङ् । प्रज्ञावादान् बुद्धिवादान् । बुद्ध्या प्रकल्पितान्वाद
न्तांश्च भाषसे । आश्चर्यमेतत् । अशोच्या हि सर्वे सम्बन्धिनो द्रोणादयो
अशोच्यत्वे तेषां हेतुद्वयम् । स्वयमन्यायमाचरतामन्यायमाचरताम
समुत्साहं वर्धयतां तेषां वधे न ते शोच्याः । दुरात्मनां
पातकाय भवति, भवति च पुण्याय प्रजास्वास्थ्याय च । अशोच्य
चस्त्वमित्युक्तम् । तत्राशोच्येष्वंशद्वयम् । देह आत्मा च । न दे
किञ्चित्करोति न वा केवल आत्मा । उभौ संगत्यैव च कार्यं
इति जीवब्रह्मभेदवादिनः । आत्मा तु अविनाशीत्यनुपदमेव
देहाश्च जडो नियतकालश्च । न तस्य वधे दोषो घटादेरिव
हिंसैव पापाय भवति न जडहिंसा । ननु शरीरमन्तरेण कदा कुत्र
हिंसावलोकिता केनापि ? यत्र हिंसाविचारस्तत्र शरीरेणावश्यं
देहो जडः । आत्मानश्वरः । एवं चाहिंसाधर्म एव विलुप्येत
देहहिंसैव पापात्मिका ! देहरक्षणमेवाहिंसात्मकम् । कथं तर्ह्युच्यते
पापाभाव इति ? उच्यते । इदमत्र तात्पर्यम् । सम्बन्धिनोनुशोच
मते न देहाद्भिन्नः कश्चन नित्यात्मा । देह एवात्मेति तस्य निश्च
एवं च देहवधेपि प्रत्यवायः स्यादर्जुनमते । भगवान् कृष्णो दे
आत्मेति स्वीकृत्याशोच्यानित्याह । नह्यविनश्वरस्यात्मनो वधः
पायशतैरपि कर्तुं शक्यते । कृष्णमते देह एवावशिष्टः । न त
कोपि दोषो जडत्वाद्विनाशित्वाच्च तस्य । नन्वेवं सत्यपि सोहिंसाध
प्रश्नस्तु तदवस्थ एव । भवतु तर्हि पूर्वमेव व्याख्यानमुचितम् ।
खलु दुरात्मानो हताः सन्तः । तांस्त्वं शोचसि, अकर्तव्यं
तथापि प्रज्ञावादान् प्रज्ञाप्रधानवादान् प्रज्ञाप्रकल्पितान्वादान्वा न

वादांल्लुप्तपिण्डोदकक्रियाः पितरः पतिष्यन्तीत्यादिकान्, एते पूज्यास्ततो न वध्याः एतेषां वधे बहवोनर्थाः सम्भाव्यन्त इत्यादिकांश्च त्वं भाषसे प्रतिपादयसि । हन्त ते पाण्डित्यम् । पण्डितास्तु गतासून् गता निर्गता असवो येषां तान्नानुशोचन्ति । नैतावदेव । अगतासूंश्चागतासूनपि, न गता असवो येषां तानपि जीवतोपीत्यर्थः । नानुशोचन्ति । सासुशरीरा निरसुशरीराश्चोभयेपि न शोच्याः । ननु विरुद्धमेतदुच्यते । मा शोच्यन्तां निरसुशरीराः, सासुशरीराः कथं न शोचनीया इति । तेपि न शोचनीयाः । शोकस्य कारणाभावात् । यदि ते दुःखितास्तेषां दुःखनिवारणं कर्तव्यं न शोकः । तत्र दया कर्तव्या न तु शोकः । गतासूनां न दययोपकारो न वा दुःखनिवारणयोगः । तत्रापि शोको न युज्यते । अतो भगवता सूक्ष्मक-मगतासवो गतासवश्चापि न शोच्याः पण्डितैरिति । पण्डिता न खलु केवलं शास्त्रिणः । तत्त्वज्ञानशालिनोपि ते । अशोच्या हि दुराचाराः । न तदर्थं तव प्रज्ञावादाः श्रेयस्करा इति । देहा नश्वरा इति न तदर्थं शोकः कर्तव्यः । अनश्वरश्चात्मेति न सोपि शोच्य इति भगवतस्तात्पर्यम् । यद्येवं स्याद्दयादानादिकर्तव्योपदेशवैफल्यान्निखिलस्यैव शास्त्रस्य नैरर्थक्यं दुर्निवारम् । आत्मा न दीनः कथं तत्र दयाया अवकाशः ? निरपेक्षो ह्यात्मा कथं तस्मै किञ्चिद् देयम् ? सर्वसामर्थ्योपेतो हि स स्वकार्यसम्पादने कथं तर्हि तस्य साहाय्यप्रदानम् ? चित्त्वाद् ज्ञानसामान्यो ह्यात्मा कथं तर्हि कश्चिदध्यापनीयः ? अतो देह एव दयादानादिभिर्युज्यते । 'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानीति,' 'अहिंसा परमो धर्म' इति चापि देहमाश्रित्यैवोपदेशो न त्वात्मानम् । अतोर्जुनस्य शोकः सकारण एव, न निष्कारणः । अशोच्याः शोच्या वा सशरीरा आत्मान इत्येव भगवदाशयः । अवन्नाद्यभावात्पितॄणां पतनं भविष्यतीत्याद्यर्जुनवचनं प्रज्ञावादो बोद्धव्य इति ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

भगवांस्तत्त्वमुपदिशति । अहं कृष्णो वासुदेवो न जात्वासं न कदाचिदभवम् ? न तु, नैतत् । आसमभवमेव । तर्हि त्वं जातु नासीः ?

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन त्वमशोच्याञ्छोकानर्हान्सम्बन्धिनो गुरुजनांश्चान्वशोचोनुशोचसि । आर्षो लङ् । प्रज्ञावादान् बुद्धिवादान् । बुद्ध्या प्रकल्पितान्वादान्सिद्धान्तांश्च भाषसे । आश्चर्यमेतत् । अशोच्या हि सर्वे सम्बन्धिनो द्रोणादयो गुरवश्च । अशोच्यत्वे तेषां हेतुद्वयम् । स्वयमन्यायमाचरतामन्यायमाचरतामन्येषां च समुत्साहं वर्धयतां तेषां वधे न ते शोच्याः । दुरात्मनां वधस्तु न पातकाय भवति, भवति च पुण्याय प्रजास्वास्थ्याय च । अशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्युक्तम् । तत्राशोच्येष्वंशद्वयम् । देह आत्मा च । न केवलं देहः किञ्चित्करोति न वा केवल आत्मा । उभौ संगत्यैव च कार्यं निर्वाहयत इति जीवब्रह्मभेदवादिनः । आत्मा तु अविनाशीत्यनुपदमेव वक्ष्यते । देहांशश्च जडो नियतकालश्च । न तस्य वधे दोषो घटादेरिव । जीवहिंसैव पापाय भवति न जडहिंसा । ननु शरीरमन्तरेण कदा कुत्र जीवस्य हिंसावलोकिता केनापि ? यत्र हिंसाविचारस्तत्र शरीरेणावश्यं भाव्यम् । देहो जडः । आत्मानश्वरः । एवं चाहिंसाधर्म एव विलुप्येत । अतो देहहिंसैव पापात्मिका ! देहरक्षणमेवाहिंसात्मकम् । कथं तर्ह्युच्यते देहवधे पापाभाव इति ? उच्यते । इदमत्र तात्पर्यम् । सम्बन्धिनोनुशोचतोर्जुनस्य मते न देहाद्भिन्नः कश्चन नित्यात्मा । देह एवात्मेति तस्य निश्चय इव । एवं च देहवधेपि प्रत्यवायः स्यादर्जुनमते । भगवान् कृष्णो देहाद्भिन्न आत्मेति स्वीकृत्याशोच्यानित्याह । नह्यविनश्वरस्यात्मनो वधः केनाप्युपायशतैरपि कर्तुं शक्यते । कृष्णमते देह एवावशिष्टः । न तस्य वधे कोपि दोषो जडत्वाद्विनाशित्वाच्च तस्य । नन्वेवं सत्यपि सोहिंसाधर्मोच्छेदप्रश्नस्तु तदवस्थ एव । भवतु तर्हि पूर्वमेव व्याख्यानमुचितम् । अशोच्याः खलु दुरात्मानो हताः सन्तः । तांस्त्वं शोचसि, अकर्तव्यं करोषि । तथापि प्रज्ञावादान् प्रज्ञाप्रधानवादान् प्रज्ञाप्रकल्पितान्वादान्वा न सिद्धान्त-

वादांल्लुप्तपिण्डोदकक्रियाः पितरः पतिष्यन्तीत्यादिकान्, एते पूज्यास्ततो न वध्याः एतेषां वधे बहवोनर्थाः सम्भाव्यन्त इत्यादिकांश्च त्वं भाषसे प्रतिपादयसि। हन्त ते पाण्डित्यम्। पण्डितास्तु गतासून् गता निर्गता असवो येषां तान्नानुशोचन्ति। नैतावदेव। अगतासूंश्चागतासूनपि, न गता असवो येषां तानपि जीवतोपीत्यर्थः। नानुशोचन्ति। सासुशरीरा निरसुशरीराश्चोभयेपि न शोच्याः। ननु विरुद्धमेतदुच्यते। मा शोच्यन्तां निरसुशरीराः, सासुशरीराः कथं न शोचनीया इति। तेपि न शोचनीयाः। शोकस्य कारणाभावात्। यदि ते दुःखितास्तेषां दुःखनिवारणं कर्तव्यं न शोकः। तत्र दया कर्तव्या न तु शोकः। गतासूनां न दययोपकारो न वा दुःखनिवारणयोगः। तत्रापि शोको न युज्यते। अतो भगवता सुष्ठूक्तमगतासवो गतासवश्चापि न शोच्याः पण्डितैरिति। पण्डिता न खलु केवलं शास्त्रिणः। तत्त्वज्ञानशालिनोपि ते। अशोच्या हि दुराचाराः। न तदर्थं तव प्रज्ञावादाः श्रेयस्करा इति। देहा नश्वरा इति न तदर्थं शोकः कर्तव्यः। अनश्वरश्चात्मेति न सोपि शोच्य इति भगवतस्तात्पर्यम्। यद्येवं स्याद्दयादानादिकर्तव्योपदेशवैफल्यान्निखिलस्यैव शास्त्रस्य नैरर्थक्यं दुर्निवारम्। आत्मा न दीनः कथं तत्र दयाया अवकाशः? निरपेक्षो ह्यात्मा कथं तस्मै किञ्चिद् देयम्? सर्वसामर्थ्योपेतो हि स स्वकार्यसम्पादने कथं तर्हि तस्य साहाय्यप्रदानम्? चित्त्वाद् ज्ञानसामान्यो ह्यात्मा कथं तर्हि कश्चिदध्यापनीयः? अतो देह एव दयादानादिभिर्युज्यते। 'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानीति,' 'अहिंसा परमो धर्म' इति चापि देहमाश्रित्यैवोपदेशो न त्वात्मानम्। अतोर्जुनस्य शोकः सकारण एव, न निष्कारणः। अशोच्याः शोच्या वा सशरीरा आत्मान इत्येव भगवदाशयः। अबन्नाद्यभावात्पितॄणां पतनं भविष्यतीत्याद्यर्जुनवचनं प्रज्ञावादो बोद्धव्य इति ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

भगवांस्तत्त्वमुपदिशति। अहं कृष्णो वासुदेवो न जात्वासं न कदाचिदभवम्? न तु, नैतत्। आसमभवमेव। तर्हि त्वं जातु नासीः?

न त्वेवम् । आसीरेव । इमे जनाधिपा नरपतयो न जातासन् ? नैतत् । आसन्नेव । वरम्, तर्हि वयं सर्वतः परमस्माच्छरीरात्परं न भविष्यामः ? न चैव । भविष्याम एवेति । अत्र तत्त्वं विवेचनीयम् । आत्मनो नित्यत्वे नायं प्रश्नः संभवति, अहमासं न वा, एते भूपाला आसन्नवेति भविष्यामो न वेति च । ततो देहमादायैव प्रश्नो देहमादायैवोत्तरम् । अहं शब्देनात्र न वासुदेवः कृष्णो ग्रहीतव्यः । देह एव ग्राह्यः । इदं कृष्णशरीरमिति व्यवह्रियमाणं शरीरं पूर्वमप्यासीत्केनचिदपरेण नाम्ना प्रसिद्धम् । पश्चादपि मरणोत्तरं शरीरं भविष्यत्येव यदि मोक्षो न स्यात् येन केनाप्यपरेण नाम्ना । एवमिदमर्जुनशरीरमपि पूर्वमासीदेव पश्चादपि भविष्यत्येव । एतेषां नराधिपानां शरीरमपि पूर्वमासीदतः परं च भविष्यत्येव । शरीराण्युद्दिश्यैव ते विषादः । शरीराणि तु पुनर्भविष्यन्त्येव । कस्तावच्चिन्तावसरः ? किंनिमित्तो विषादः ? अत्यन्तमसमञ्जसमेतत् । केनचिद्विशिष्टेन शरीरेण सह चिरसम्बन्धस्तच्छरीरापगमे सम्बन्धिनो हृदयं भिनत्तीति सर्वप्रसिद्धम् । लभ्यतां नाम कामं पुनर्द्वितीयं शरीरं पूर्वं शरीरं परित्यज्य गतवतात्मना । तेन किं दुःखं न स्यात् ? न हि पुनस्तदेव शरीरं दृष्टिगोचरं भविष्यतीति सर्वप्रत्ययः । न हि कश्चित्पूर्वं शरीरमपासीन उपासीनश्चापरं शरीरं विजानात्यस्य शरीरमिदमासीदिति । काममथवा जानातु, पूर्वशरीरदिदृक्षा तु वर्तिष्यत एव । प्रेमाश्रयो हि तच्छरीरं, नैतच्छरीरम् । एतच्छरीरे नाक्राम्यति तच्छरीरीयं प्रेम । तदेतेन कृष्णवचनेन कथं स्यात्सन्तोषोऽर्जुनस्येति न विद्मः । म्रियमाणं कंचित्पुत्रमनुलक्ष्य शोकार्तस्य पितुर्नायमुपदेशः शोकापनोदाय भवति पुनरयं जनिष्यत इति । काममुत्पद्यन्तां दुर्योधनादयो युधिष्ठिरादयो भीष्मद्रोणप्रभृतयश्च । किं तेन ? न सोऽर्जुनस्तान् परिचेष्यत्यन्यस्मिञ्जन्मनीति । कथं तर्हि शोककशाताडितमर्जुनमेतादृशेन वचनेन निरस्तशोकं विधातुमर्हति भगवान् । निरर्थकमेवेदमाश्वासनम् । आत्मनो नित्यत्वं पुनश्च शरीरधारणमित्युक्तं भगवतैतेन श्लोकेन ॥१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

हे अर्जुन, यथा देहिन आत्मनोस्मिन्देहे कौमारं कुमारावस्था यौवनं युवावस्था जरा वृद्धावस्था क्रमेणागच्छति गच्छति च । तत्र न कश्चिच्छोकं कुर्वाणो दृश्यते मम कौमारं गतमिति वा यौवनं गतमिति वा जरागतेति वा । एकस्या अवस्थाया अनन्तरं नियतमेवावस्थान्तरम् । तथा तेनैव प्रकारेण देहान्तरप्राप्तिर्विगत एकस्मिन्देहेन्यस्य देहस्य प्राप्तिर्भवत्येव । तत्र मृत्युविषये धीरो विद्वान्न मुह्यति मोहं न गच्छति वैचित्त्यं नाप्नोतीति । इदमप्ययुक्तमाश्वासनम् । कौमारादारभ्य जरापर्यन्तं मृत्युपर्यन्तं च स एव देहस्तिष्ठति । कौमारे यस्मिन्देहे प्रीतिर्यौवनेपि तस्मिन्नेव जरायामपि तस्मिन्नेव । प्रत्यक्षमेवावस्थान्तरप्राप्त्या एकस्या विगमेन्यस्याश्चागमे न भवति संमोहः कस्यापि । मृत्युरूपावस्था तदनन्तरमन्यजन्मप्राप्तिरूपावस्था ततो विषमा । मृत्योरनन्तरं न भवति स देहोन्यस्मिँश्च जन्मनि न परिचीयते केनापि देवदत्तोयं पुरासीदित्यादि । यथा यस्मिन्नेव देहे कौमार्यं तस्मिन्नेव यौवनमेवं यदि यस्मिन्नेव देहे मृत्युस्तस्मिन्नेव देहे पुनर्जन्मावस्था भवेन्न तदाभवेन्मोहहेतुरिति । न च लिङ्गशरीरं सूक्ष्मशरीरं वा न भवति परिवर्ति स्थूलशरीरानुकार्येव तिष्ठतीति सूक्ष्मशरीरमादायैवेदमुदाहरणमिति वाच्यम् । सूक्ष्मशरीरस्याप्यप्रतीयमानत्वादपरिचितत्वात्कार्यकारित्वाभावाच्चायुक्तमेवोदाहरणम् । किं च लिङ्गशरीरमस्त्येवेत्यत्र नास्ति किञ्चित्प्रबलं प्रमाणम् । लिङ्गसरीरस्य ये घटकास्तेषामिन्द्रियादीनां कर्मणां च तावत्पर्यन्तमनवस्थानात् ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

हे कौन्तेय कुन्तीपुत्र मात्रास्पर्शा मीयन्ते विषया आभिस्ता मात्रा इन्द्रियाणि ज्ञानजनकानि तेषां स्पर्शा विषयाः शीतोष्णसुखदुःखदाः शीतमिवोष्णमिव च सुखदुःखदा इष्टानिष्टप्रदा भवन्ति । शीतं हेमन्ते दुःखदं ग्रीष्मे च सुखदम् । उष्णं हेमन्ते सुखदं ग्रीष्मे च दुःखदं यथा तथैवेन्द्रियविषयाः सर्वे कदाचित्सुखदा भवन्ति कदाचिच्च दुःखदाः । किं च ते आगमापायिन आगमवन्तोपायवन्तश्च भवन्ति । सुखानि दुःखानि

चोपयन्त्यपयन्ति च । न तेषां कदापि नियतत्वम् । ततो हे भारत भरतकुलोत्पन्न तांस्तितिक्षस्व सहस्व । तांस्तितिक्षस्वेत्युक्तम्, तत्र तान् कान्? मात्रास्पर्शानिति । इन्द्रियाणां विषयान्दर्शनस्पर्शनादीन्सहस्व । मृते मर्त्ये दर्शनं स्पर्शनमेवालभ्ये भवतः । पदार्थेषु मृतेषु विनष्टेषु गन्धादयोपि नश्यन्ति । ये विषया गता न ते पुनरावर्तिष्यन्त इति तान्सहस्व मर्षय विस्मरेत्यर्थः ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

एत ऐन्द्रियकविषया हे पुरुषर्षभ पुरुषेषु श्रेष्ठार्जुन यं समदुःखसुखं समानमेव दुःखं सुखं च यस्य, यो दुःख आगते न विषण्णो भवति सुखे चागते न प्रसन्नो भवति, एवंभूतं यं धीरं धैर्यवन्तं पुरुषं न व्यथयन्ति न पीडयन्ति मनोव्यथावन्तं न कुर्वन्ति सोमृतत्वाय मोक्षाय कल्पते समर्थो भवति । ननु कथमिह पुरुषमेव लक्ष्यीकृत्यामृतत्वप्राप्तिरुदीरिता न तु स्त्रियमपीति? उच्यते । न पुरुषशब्देनेह पुमानुच्यते किन्तु पारिभाषिकः पुरुषो गृह्यते । पूर्षु पुरीषु वसतीति पुरुष आत्मा । अष्टौ पुरोन्यत्र प्रसिद्धाः । तथा हि–'कर्मेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथापराणि ज्ञानेन्द्रियाणि मनआदिचतुष्टयं च । प्राणादिपञ्चकमथो वियदादिकं च कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः' ॥ इति । ज्ञानेन्द्रियपञ्चकमेका पूः । कर्मेन्द्रियपञ्चकं द्वितीया । मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराख्यमन्तःकरणचतुष्टयं तृतीया । प्राणापानव्यानोदानसमानाख्यं प्राणपञ्चकं चतुर्थी । वियद्वायुतेजोप्पृथिव्याख्यं महाभूतपञ्चकं पञ्चमी । काम इच्छा । सा च षष्ठी । कर्म क्रिया । सा च सप्तमी । तमोज्ञानम् । तच्चाष्टमी । एतासु पूर्षु पुरीषु वसति स आत्मा पुरुषशब्देन गृह्यते । एवं च स्त्रीपुंसयोरुभयोरेव ग्रहणम् । इदमत्र रहस्यम् । इमा अष्टौ पुर्य एव संसारः । संसारे निवसन्नपि यो मात्रास्पर्शैरस्पृष्टो जलेन कमलमिवासङ्गस्तिष्ठति स सांसारिकं कर्म कुर्वन्नपि तज्जन्येन सुखेन दुःखेन वा न स्पृश्यमानो जीवोमृतत्वाय कल्पते । अनेन संसारत्यागो नोपदिष्टः ।

संसारे वर्तमानानामपि जीवानां मनसि संयम उपदिष्टः । अत्र पुरुषस्य समदुःखसुखत्वं धीरत्वं च मोक्षहेतुरित्युक्तम् । संसारे निवसन्नित्यस्य योग्यानि सांसारिककर्माणि कुर्वन्नित्यर्थः । ननु कीदृशानि कर्माणि ? उच्यते । हितबुद्धया स्वसामर्थ्यानुकूलानि परपीडनादिव्यतिरिक्तानीति । ननु कर्मभ्यस्तु बन्धो जायते कथं तत्करणोपदेश इति तत्करणान्मोक्ष इति च ? उच्यते । न कर्ममात्रं बन्धहेतुः । दुरितं हि कर्म बन्धाय भवति सत्कर्मतु मोक्षायैवेति । ननु ज्ञानादेव मुक्तिरिति श्रौतः सिद्धान्तः कुप्येत । न कुप्येत । 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा' इति वेदेनैवोक्तत्वात् । ज्ञानं तु सच्चारित्र्यमेवेति गृहाण । नन्वस्ति कश्चिदेवं यः समदुःखसुखः सन् धीरोपि सन्नैन्द्रियकैर्विषयैः पीड्यते ? यद्येवंभूतोपि पीड्यते तर्हि समदुःखसुखत्वं धीरत्वं चाकिञ्चित्करमेव । यदि तथाविधः पुरुषो न विषयैः पीड्यते तर्हि किमर्थमत्र यत्तदोः प्रयोगः ? सत्यम् । निष्प्रयोजन एव तयोः प्रयोगः । समदुःखसुखो धीरश्च पुरुषो न पीड्यते विषयैरित्येष एव श्लोकार्थोपेक्षितः ॥ १५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

किं च यदि मन्यत एव भवो भविकाश्च विषया, अनित्या असन्तश्च तर्हि तदर्थं शोको नोचितः । यतोसतो वस्तुनो न विद्यते कदापि भावः । भवनं भावः । अस्तित्वम् । यदि चाभिमन्यते नित्य एवात्मा तर्हि नित्यस्य सतोभावो न भवितुमर्हति । सदसतोरात्मदेहयोरुभयोरपि, उभयोरेवानयोः । अपिरेवार्थकः । तत्त्वदर्शिभिस्तत्त्वज्ञैः सदसद्विचारनिपुणैर्विद्वद्भिरन्तो याथार्थ्यं दृष्टोनुभूतम् । ननु किमिदमुच्यतेसतोनित्यस्य भावो नास्तीति ? असतोपि रज्जौ फणिनः प्रतीतिरस्त्येवेति । तत्र भयमुपजायमानं दृश्यते । न ह्यभावाद्भयं भवति । सतो नाभाव इत्यपि न सत्यम् । अभावोप्रतीतिः । सतोप्यात्मनो न भवति सर्वजनीना प्रतीतिः । यस्याप्रतीतिस्तद्दृशि स्यादेवात्मनोभावः । एवं च सतोप्यभावो दृश्यते ।

उच्यते । सर्पस्य रज्जौ प्रतीतिर्नासतः, सत एव । पञ्चीकरणप्रक्रियया सर्वस्य वस्तुजातस्य प्रयोजकानि भूतानि सर्वस्मिन्नेव वस्तुजाते विद्यन्त एव । एवं च रज्जौ सर्पत्वप्रयोजकानि पृथिव्यबादीनि भूतानि सन्त्येव । तेन सत एव प्रतीतिर्नासतः सर्पस्य । नन्वेवं घटेपि पटेपि चैत्रदेहेपि सर्पत्व-प्रयोजकानां तत्त्वानामनिवार्यतया तेष्वपि तत्त्वप्रतीतिर्दुर्वारा स्यात् । न । लौकिकप्रत्यये बलवत्त्वस्य कारणत्वम् । घटप्रतीतिरेव घटे वास्तविकी । घटप्रयोजकानामवयवानामेव तत्र बलवत्त्वात् । बलवता निर्बलः पराभूयते । सर्पप्रयोजका अवयवा घटे नितान्तमल्प एव । सतोप्यात्मनोप्रतीतिर्भवतु नामाज्ञानोपहतानाम् । न किञ्चिच्छन्नं भवति । ज्ञानिनां प्रतीतेरेव बल॰वत्त्वात्तेषामात्मप्रतीतेः सद्भावादात्मनः सद्भावोबाधित एव सन्तिष्ठते । एवमत्रोपदिष्टं भवति—असतामैन्द्रियकविषयाणामल्पकालावस्थायिनां भावो नियतास्तित्वं चिरकालस्थायित्वं वा नास्ति । सतश्चात्मनो नियतं नास्तित्वं नास्ति । विपर्ययेण प्रतीयमानानामपि सदसतां भावाभावयोर्यत्तत्त्वं तत्तत्त्व-दर्शिभिर्याथार्थ्येन निर्णीतमेव । तत्त्वदर्शिनां निर्णयो न सन्देग्धव्य इति भावः ॥१६॥

सन्तमात्मानमुद्दिश्योपदिशति—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

येनात्मना सर्वमिदं प्राणिदेहजातं ततं व्याप्तं तत्तमविनाशि त्वविना-शिनमेवानश्वरमेव विद्धि जानीहि । अस्याव्ययस्याविनश्वरस्यात्मनो न कश्चिद्विनाशं कर्तुमर्हति । इदमुक्तं भवति—सर्वेष्वेव देहेषु व्याप्तस्यात्मनो विनाशाय न कश्चिदप्यलमिति । ननु कथमुच्यते सर्वं प्राणिजातमात्मना व्याप्तमिति ? आत्मनोणुपरिमाणवत्त्वेन व्याप्तेरसम्भवात् । हन्त कथं ज्ञायते कृष्णस्यात्माणुत्वमेवाभिमतमिति । 'न चाणुरेष आत्मे'त्युपनिषद-नुरोधेन तस्याणुत्वमेवाभिमतं कृष्णस्येति दृढं वक्तुं शक्यते । न । अणुरित्यस्य सूक्ष्म इत्यस्याप्यर्थस्य सम्भवात् । अथवा यया कयापि रीत्या

व्याप्तं वस्तु व्याप्तमित्येवोच्यते । तर्हि कया रीत्या व्याप्तो देहे स आत्मा ? व्यापकेन स्वधर्मभूतज्ञानेनेति ब्रूमः । स्वयमणुरपि स्वधर्मभूतज्ञानस्य विभुतया तद्द्वारा सर्वं देहं प्रभवत्येव व्याप्तुमिति । ननु ततमित्यस्य व्याप्तमित्यर्थ एव कुतः ? तनु विस्तारे । ततमित्यस्य विस्तृतमित्यर्थः । तेन ज्ञायत आत्मा देहे विस्तृतत्वाद्देहपरिणाम इति । उच्यते । यदि तनुधातोर्व्याप्त्यर्थो न स्वीक्रियते न क्षतिः । येन हेतुभूतेनात्मना सर्वं शरीरजातं ततं विस्तृतं सोविनाशीत्यर्थः । यद्यात्मा न स्यात्, कर्माणि न स्युः । कर्माभावे शरीराभावः । एवं शरीरविस्तारे य आत्मा हेतुः सोविनाशीत्यर्थः । नात्मा देहपरिमाणः । एकस्मिंश्छिन्ने देहावयवे छिन्न एव स्यादात्मावयवः । एवं च विकृतिधर्मा भवेत्सः । तच्च सर्वार्यशास्त्रविरुद्धमिति । अर्जुनशोकापनुत्तये विनाशमव्ययस्यास्येत्युक्त्यापि सूच्यते नात्मा संमतो देहपरिमाणो भगवतः । स्वीकृते तथात्मनो विनाशो नियत एव विकारित्वात्तस्य । अत्रान्यदपि किञ्चिद्विवेचनीयम् । सर्वमिदं ततमिति वाक्यं गीतायां बहुशः प्रयुक्तम् । तथा हि—'येन सर्वमिदं ततम्' (८।२२), अत्र पुरुषः स परः पार्थ इत्युपक्रमात्परमेश्वरायेदं प्रयुक्तमिति स्पष्टम् । 'मया ततमिदं सर्वम्' (९।४) इत्यत्र स्पष्टमेव परमेश्वरायेदं वचनं, परमेश्वरेणैवोक्तत्वात् । 'येन सर्वमिदं ततम्' (१८।४६) इत्यत्र 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' इत्युत्तरवाक्यात्परमेश्वरायैवेदमपीति स्पष्टम् । अत्र प्रस्तुते व्याख्यातव्यश्लोके तु येन सर्वमिदं ततमिति स्पष्टमेव जीवात्मन इदं वचनम् । यदेव विशेषणं ब्रह्मणस्तदेव जीवस्यापीति दृष्ट्वा जायते सन्देहो जीवब्रह्मणोरभेदोपि स्यादभिमतः कृष्णस्येति । न कर्तव्यस्तथा सन्देहः । कुतः ? प्रकरणविरोधात् । जीवं प्रस्तुत्यैवार्जुनस्य व्यामोहः । जीवमाश्रित्यैव भगवतस्तद्व्यामोहस्यापासाय प्रयासः । अतो नात्र परमेश्वरस्य ग्रहणम् । ननु जीवो ब्रह्मैव नापर इत्युद्घोषाज्जीवोपि वस्तुतो ब्रह्मैव परमात्मैवेति न प्रकरणविरोधः । नैवम् । जीवोपि ब्रह्मैवेति सिद्धान्तो नाभिमतो भगवद्गीतायाः । अत एवात्मनो नित्यत्वं समुपदिश्यार्जुनायान्ते–'अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृत' मित्यात्मनोशाश्वतत्वमपि स्मारितम् । न हि जीवब्रह्माभेदे जीव–

स्याशाश्वतत्वप्रतिपादनं साम्प्रतं स्यात्। वस्तुतस्तु विभिन्नदृष्ट्या जीवब्रह्माभेदवादो जीवब्रह्मभेदवादो जीवानित्यत्ववादो जीवनित्यत्ववाद ईश्वरास्तित्ववाद ईश्वरनास्तित्ववादो जीवानेकत्ववादो जीवैकत्ववाद इत्यादयः सर्वेपि वादाः प्राचीनार्याभिमता एवेति वेदितव्यम्। यो यस्मै रोचते स तं वादमङ्गीकुरुते नात्र कुत्सा कर्तव्या न वा विचिकित्सा ॥ १७ ॥

इदानीमसन्तं देहमुद्दिश्योपदिशति—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोप्रमेयस्य तस्माद्युद्धयस्व भारत ॥ १८ ॥

नित्यस्यापि शरीरिणः कर्मफलानुसारेण प्राप्तदेहस्यात्मन इमे देहास्तच्छोकविषया अन्तवन्तोनित्या उक्ताः। सर्वैर्विद्वद्भिरित्यध्याहार्यम्। दृश्यमाने देहे भागद्वयं विद्यते देह आत्मा चेति। देहाः सर्वे नश्वरा इत्युक्तम्। अवशिष्टश्च द्वितीयो भाग आत्मेति। तद्विषय उच्यते विशेषणद्वारेण। अनाशिनो नाशधर्मरहितस्य ध्वंसाप्रतियोगिनोप्रमेयस्यात एव मृत्युरहितस्य। अनाशिनोप्रमेयस्य नित्यस्य शरीरिण इमे देहा अन्तवन्त उक्ता इति योजना। हे अर्जुन देहास्तु विनष्टव्या एव, अद्य वा श्वोवा कालान्तरे वा। तव शोकस्तु देहनिमित्तक एव। जाड्यमेतत्। करणीयमुपदिशति। तस्मादुक्तहेतोः, हे भारत युद्धयस्व युद्धं कुरु। देहिनां देहनाशो न युद्धस्य प्रतिबन्धक इति भावः। शरीरिण इति स्वर्गो स्वस्त इतिवत्प्रयोगः। न हि शरीरसहितस्यात्मनोविनाशित्वमप्रमेयत्वं च। नन्वप्रमेयस्येत्युक्तम्। प्रमातुं योग्यः प्रमेयः। न प्रमेयोप्रमेयः। किं न भवति स आत्मा प्रमायोग्यः ? यद्येवमकिञ्चित्कर एव स्यात्प्रमाया अयोग्यत्वात्। प्रमा हि यथार्थज्ञानम्। यद्यात्मा न भवति यथार्थज्ञानस्य विषयो हीयेतैव स्वरूपात्। सत्यम्। अप्रमेयस्येत्यस्य परिमाणानर्हस्य व्यापकस्येत्यर्थः। नन्वात्मा न व्यापकोणुपरिमाणत्वात्। न। स्वधर्मभूतज्ञानद्वारा व्यापकत्वं तस्य पूर्वमुक्तम् ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

हन्तृहन्तव्यभावो नात्मनीति भगवानुपदिशति । य एनमात्मानं हन्तारं हननकर्तारं वेत्ति जानाति मन्यत इति वा । यश्च कोप्येनमात्मानं हतं येन केनापि निहतं मन्यत उभौ तौ न विजानीतः । आत्मस्वरूपमिति शेषः । स्वरूपमेवोपदिशति । अयमात्मा न कमपि हन्ति न वा-केनापि हन्यते । एवं च तद्विषये हन्तृहन्तव्यज्ञान तत्प्रयुक्तशोककरणं च मौर्ख्यविलसितमेवेति । त्वमात्मानमेषां सर्वेषां हन्तारं मन्यसे, एते त्वया निहता भविष्यन्तीति त्वं मन्यसे तद्विरुद्धमेव । ननु कथं विरुद्धम् ? एकोपरस्य हन्ता दृश्यत एव । सत्यं दृश्यते परं न तत्रात्मा हन्ता न वात्मा हतो भवति । आत्मसन्निधानेन क्रियाशीलो देह एव कमपि देहं हन्ति देह एव कश्चिन्निहन्यते । न तत्रात्महननसंसर्गः संभावनीयः । अहिंसाधर्मस्य का कथा भविष्यतीति सर्वथा पूर्वं चारु विवेचितम् । नन्वात्मसंसर्गेण क्रियाशीलो भूत्वा देहोपरं देहं निहन्तीत्युक्तम् । तत्र हननदोषभाक्कः, आत्मा वा देहो वा ? न पूर्वः पक्षः । भगवतात्मनो वध-कर्तृत्वं स्वयं व्यपोहितम् । तर्हि देह एव हननदोषभाक् । तर्हि देहस्या-नित्यत्वान्मरणोत्तरं तद्देहस्यास्तित्वाभावात्तद्दोषस्य फलभोगकर्तृत्वाभावाच्च कृतविप्रणाशो दोषः प्रसक्तः । न प्रसक्तः । जीवत्येव देहे सर्वकर्मफलभोगः सम्पन्नो भवतीतिसिद्धान्तमाश्रित्य सर्वं समाधेयम् । ननु एतज्जन्मनि कृतं कर्म परस्मिन्नेव जन्मनि फलेन युज्यत इति सिद्धान्तविरोधः स्यात् । न । सिद्धान्तोयमविचारितरमणीयः । न किमपि कर्म तस्मिन्नेव जन्मनि फलमदत्त्वा स्थातुमर्हति । सर्वं कर्म तदानीमेव फलेन युज्यत एवेतिपूर्वं विस्तरेणोक्तम् ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

अखिलकौरववनलवनकामो भगवान् पापीयसीमपि पुनरुक्तिं नाजो-गणत्स्वमित्रमर्जुनं तत्त्वार्थं बोधयितुं तद्धृदये तद्दृढयितुं च । अत आह न

जायत इति । अयमात्मा न जायतेजन्मा हि सः । न म्रियतेमरणधर्मा हि सः । कदाचिदित्युभयत्रान्वेति । भूत्वा जनित्वा भूयोयं न वा भविता न जनिष्यतीत्यपि न । जनिष्यतीत्येव । न जायत इत्यत्र हेतुमाह अज इति । न म्रियत इत्यत्र हेतुमाह नित्यः शाश्वत इति । शाश्वतशब्देन किमुच्यते ? बहुतरमुच्यते । अनित्येष्वपि नित्यशब्दः प्रवर्तते नित्यं सन्ध्यायति नित्यं वन्दत इति । नित्यं भुङ्क्ते नित्यं जागर्तीति । शाश्वतशब्दो द्रढयति न नित्यशब्दो लौकिकव्यवहार इवेह प्रयुक्तः किन्तु शाश्वतार्थे प्रयुक्त इति । एवं च नित्य आत्मा नानित्य इति । पुराणशब्देन च किमुच्यत ? पुरा नवं भवतीत्यर्थबोधनपुरस्सरमात्मन एकरसत्वं सूचयति । किंचायमात्मा हन्यमाने शरीरे स्थितोपि न हन्यते न हिंस्यते । ननु नित्यश्चेदात्मा कथं नायं भूत्वा भविता वा न भूय इत्युक्तम् ? भूधातुरुत्पत्त्यर्थक इह प्रयुक्तः । घटो भवतीतिवत् । यदि जनिमानात्मा मरणधर्मा च, न जायते म्रियत इत्यादि स्यादेवोन्मत्तप्रलपितम् । सत्यं स्यादेव तथा यदि नायं भूत्वा भविता वा न भूय इत्यात्मार्थमेवोपदिष्टं स्यात् । तदेव तु नास्ति । भवनं जन्म । तच्च देहात्मसंयोगः । भवनस्यादर्शनं मृत्युः । स च देहात्मवियोगरूपः । एवं च नायमात्मा देहसंयोगमेत्य भूयो देहविगमानन्तरं न भविता देहसंयोगं नैष्यति इति न । भूयो देहसंयोगं प्राप्स्यत्येव । नात्रात्मनो जनिमृतिमत्त्वं ज्ञाप्यते । भूयो भूयो देहसंयोगरूपं भवनमेवामुक्तेर्विद्यते । सुतरां च तन्नित्यत्वं बोध्यते । अत्र देहदेहिनोरभेदमाश्रित्य देहानां भवनमात्मन्युपचर्यत इत्यपि साधु समाधानं स्यात् । अहं बालोहं युवाहं वृद्ध इति लोकव्यवहार एवास्मिन्नभेदे प्रमाणम् । एकं शरीरमुत्सृज्यापरं प्रवेक्ष्यन्त्येव भीष्मादिदेहस्था आत्मान इतिभगवदाशयः । अत्र शङ्कासमाधी तु पूर्ववद्द्रष्टव्यौ । न हन्यते हन्यमान इति फलितार्थकथनम् । यतः सोजः शाश्वतः पुराणस्ततो हन्यमाने शरीरे न हन्यते । कृष्णस्यायमाशयः । आत्मा नित्यः । अनित्यो देहः । आत्मा न हन्यते देहस्तु हन्यते । गौर्न हन्तव्या, ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादिषु यद्यपि देहवधोपि पापायैव निर्दिष्टस्तथापि दुर्योधनादिदेहानामाततायित्वेनान्याय्याचारित्वेन च

तेषां वधे पापाभाव इति । अन्यथा हिंसाहिंसाविचार एवास्तं व्रजेत् । मा हिंस्यात्सर्वाभूतानीत्यादिरुपनिषदामुद्धोप एव नैरर्थक्यमुपयायेत् । जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीति षण्णां भावविकाराणामात्मनि निषेधं समपीपददनेन श्लोकेन पुण्यश्लोको भगवान् । अधिकं तु अष्टादशभ्यो वर्षेभ्यः प्राग्विरचिते मया गीताभूषणाख्ये गुर्जरभाषाभाष्ये द्रष्टव्यम् ॥ २० ॥

पुनरपि शब्दान्तरेण पूर्वोक्तमेवार्थं निश्चाययति भगवानश्रमः—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पार्थ, यः पुरुषो जीव एनमात्मानमविनाशिनमविनशनशीलमव्ययमजमजन्मानमविपरिणामिनं नित्यं च वेद जानाति स कथं केन प्रकारेण साधनेन वा कं घातयति कञ्चिद्धन्तुं प्रेरयति कं च हन्ति हिनस्ति स्वयम् ? य आत्मस्वरूपं याथार्थ्येन न वेत्ति स एव कथञ्चिदन्येन घातयतीति कंचिच्च हन्तेति मन्यते । नियत आत्मा न कथञ्चिद्धननस्य कर्तृत्वमारोहति न वा कर्मत्वमधिकरोति । अर्जुन यदि त्वं मन्यसे सर्वेषामेतेषां सम्बन्धिनां त्वं हन्ता भविष्यस्यथवा स्वसैनिकैरेतैरेतान् घातयिष्यसीत्युभयमप्यज्ञानविजृम्भितमेव । जानन्नपि कृष्णोऽर्जुनं व्यामोहयतीव तत्सद्विचारधारां व्यपोहतीव वा प्रतीयते । अर्जुनः कथयति सम्बन्धिनो गुरूंश्च न हनिष्यामीति । सम्बन्धिनो गुरवश्च नात्मा देहा एव । द्रोणो वा भीष्मो वेति नामात्मनोऽस्तीति न मन्यतेऽर्जुनोऽपि । आत्मानात्मविवेकवान्सोऽपीति न तिरोहितं विपश्चिताम् । नातीवमूर्खताकदम्बक्रोडे रममाण इवासीत्सः । देह एवात्मेत्यपि न दृढं सोऽमंस्त, अत एव 'सीदन्ति मम गात्राणि, वेपथुश्च शरीरे मे, भ्रमतीव च मे मनः' इत्यादिषु स्थलेषु भेदिकां षष्ठीं प्रायुङ्क्त । कथं तर्हि भगवांस्तं बलाद्देहात्मवादिनं व्यवातिष्ठिपतेति न ज्ञायते ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा--
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

यथा नरो मानवो जीर्णानि जीर्णीभूतानि वासांसि वस्त्राणि विहाय परित्यज्यापराणि नवानि नूतनानि गृह्णाति परिदधाति तथा देही जीवात्मा जीर्णानि शरीराणि विहायान्यानि नवानि शरीराणि संयाति संप्राप्नोति । वस्त्रान्तरमिव देहान्तरमेव भवति नात्मान्तरम् । विषमः खलु दृष्टान्तः । देही स्वस्यैकस्मिन्नेव जन्मनि शतकृत्वः सहस्रकृत्वो वा स्वदेहाज्जीर्णानि वस्त्राण्यपनुदति नवानि च धारयति तेनाभ्यस्तोयमस्यां क्रियायां हानोपादानाख्यायाम् । मरणक्रियापूर्वकजीर्णदेहत्यागे न भवति जीवः कोप्यभ्यस्तः । नूतनजन्मग्रहणस्य प्रतीतिः कस्यापि न भवतीत्येव प्रामाणिकं वचः । कथं तर्हि दृष्टान्तो वाञ्छितार्थप्रत्यायकः स्यादिति कथं न भगवानचिन्तितेतिपरमाश्चर्यास्पदम् ॥ २२ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

पुनरपि पुनरुक्तिप्रियो माधवो वक्ति—एनमात्मानं शस्त्राण्यस्यादीनि न छिन्दन्ति द्विधा कुर्वन्ति । पावकोपि नैनं दहति दग्धुं न शक्नोति । आपोपि चैनं न क्लेदयन्त्यार्द्रीकर्तुं शक्ता भवन्ति । मारुतः पवनोपि नैनं शोषयति शोषयितुं समर्थो भवति ॥ २३ ॥

कुतः शस्त्रादीनि स्वकार्यं न कुर्वन्ति तत्रेत्याह—

अच्छेद्योयमभेद्योमक्लेद्योशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः ॥ २४ ॥

अयमात्माच्छेद्यश्छेत्तुमनर्हः । अभेद्यो भेत्तुमनर्हः अक्लेद्यः । क्लेदयितुमनर्हः । अशोष्यः शोषयितुमनर्हः । इदमपि कुतः । यतः स नित्यः । न हि नित्ये वस्तुनि छेदभेदक्लेदनादयो युज्यन्ते । किं च स सर्वगतः सर्वत्र गतः । विषमोयं प्रयोगः । जीवात्मनः सर्वगतत्वं कुतः ? सर्वगतत्वं

व्यापकत्वम् । तच्चात्मनो नास्त्येव । स्यान्नाम भगवान् गौतमकणादावि-वात्मविभुत्ववादप्रियः । नेतोन्यत्र कुत्रापीदृशः स्पष्टः प्रयोग आत्मविभुत्व-परिचायको भगवता प्रायोजि । अथवा सर्वं सम्पूर्णं शरीरं गतं सर्वगतम् । मध्यमपदलोपी समासः । अथवा धर्मभूतज्ञानद्वारा सर्वगतत्वं विज्ञेयम् । स्थाणुः स्थिरस्वभावः । अचलो निश्चलो गमनस्वभावविरहितः । तथा चायं सनातनो नित्यः शाश्वत इतिवन्नित्यः सनातन इति प्रयोगः । सर्वगतस्थाण्वादिविशेषणैरात्मनो व्यापकत्वं निश्चित्याणुत्ववादिनो विह्वला भवन्ति । उपायं च कुर्वन्ति तदणुत्वसिद्धये । कश्चासावुपायः ? नित्यः सर्वगतस्थाणुरितिसमस्तपाठो नाम । नैतद्युक्तम् । एतादृशो कठोरोन्नता-वनता सरणिः क्वापि श्रीकृष्णेन नाङ्गीकृता । एतादृक्पाठकल्पने जीवाणुत्व-वादिनां व्यामोह एव । कोसौ व्यामोहस्य हेतुः ? सर्वगत इत्यत्र विसर्गरहितः पाठ एवेति गृहाण । विसर्गराहित्यप्रयोजकं तु "खर्परे शरि वा-विसर्गलोपो वक्तव्य" इतिकात्यायनवार्तिकम् । आत्मनोणुत्वे शिरसि वेदना, पादे मे वेदनेत्यादिरनुभवो न स्यादिति धर्मभूतज्ञानव्याप्ति-कल्पना । सा च व्याप्तिः शरीरपर्यवसायिन्येव न तु शरीरादन्यत्रगामिनी । निष्प्रयोजनत्वात् । एवं यदि ज्ञानव्याप्तिद्वारा तस्य सर्वगतत्वं साध्यते तर्हि कथं न व्यापकत्वं तस्यैव स्वीकर्तव्यम् ? व्यापकत्वे प्रमाणाभावादणुत्वे च प्रमाणसद्भावादणुत्वस्वीकार इति चेत् । न । अणुत्वापादकप्रमाण-स्याप्यभावात् । 'अणुरेष धर्म' इत्येव प्रमाणमिति चेत् । न । अणुशब्दस्य सूक्ष्मार्थेपि वर्तमानत्वात् । 'अणोरणीयान्महतो महीयानि'त्यादा-वणुशब्दः सूक्ष्मार्थक एव । किं चाणुशब्देन कोर्थोभिलषितः ? परमाणुस्तु न शक्यो ग्रहीतुम् । अणुपरमाण्वोर्भेदस्वीकारात् । अणुत्व-स्वीकारे जीवदर्शनापत्तेः, अणूनां साक्षात्कारविषयत्वात् । ओमिति ब्रूषे चेत्साकारत्वादनित्यत्वापत्तेः । न च भौतिकाकारवत एवानित्यत्वं न त्वभौतिकाकारवतोपीतिवाच्यम् । अभौतिकाकारे प्रमाणाभावात् । ननु भगवत आकारोभौतिक एवेति चेत् । न । तस्यापि साध्यकोटौ प्रविष्ट-

त्वात् । वेदेषु परमात्मन आकारस्य निषिद्धत्वात् । पुराणान्याकारं भगवतो वर्णयन्तीति सत्यं, परं वेदविरुद्धत्वात्तद्वचो नादरणीयमेव। भगवता स्वकीयं विराट्स्वरूपं प्रदर्शितमेत्युक्तत्वात् तदेव प्रमाणमिति वाच्यम् । तत्स्वरूपदर्शनस्य सर्वं मय्येवावस्थितमितिसिद्धावेव तात्पर्यात् । सर्वमहमेवे-त्येव प्रत्यायनीयत्वाच्च । तर्हि भगवान् कृष्णोपि परमात्मैवेत्यायातम् । तस्य च साक्षाच्छशरीरवत्वात्परमात्मन आकारः स्वीकर्तव्य एवेति चेत् । न । 'पुरुषः स परः पार्थ' (८।२२) परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन् पुरुषः परः' (१३।२२) 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्येत्युदाहृतः' (१५।१७) इत्यादिभगवद्वचनबलेनैवाकारवतो भगवतः कृष्णास्यापेक्षया कश्चिदन्यः पुरुषोत्तमः स च परमात्मेत्युदाहृतः । स चास्मिन्देहे तिष्ठतीति नासावाकारवान् । न साकारः कश्चन विभुर्मानवदेहे स्थातुमर्हतीति ॥ २४ ॥

अव्यक्तोयमचिन्त्योयमविकार्योयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

पुनस्तदेवावर्तयति । अयमात्माव्यक्तः । व्यक्त इन्द्रियप्रत्यक्षयोग्यस्त-द्भिन्नोव्यक्तः । अचिन्त्यश्चिन्तयितुमनर्हश्चेतसागम्यः । अविकार्यो विका-रयितुमनर्ह उच्यते तद्विद्भिरित्याशयः । यत एवमस्ति तस्मादेनमात्मानमे-वमव्यक्ताचिन्त्याविकार्यादि विदित्वा ज्ञात्वा मत्वा, एनमात्मानमनुशोचितुं तमुपलक्ष्य शोकं कर्तुं नार्हसि योग्यो न भवसि । ननु परमाव्यक्तः परमात्मा परमात्मभक्तैः प्रत्यक्षितो भवतीति सर्वत्र श्रूयते । 'मनसैव विजानीया' दित्यौपनिषदवचसा च मानसः प्रत्यक्षः परमात्मनो न विरुद्धः । कथं तर्हि जीवात्मा सर्वथाव्यक्त एव तिष्ठति कैरप्युपायैः कथं न स व्यज्यते ? ईश्वरापेक्षया स्थूलत्वात्कथं न सोपि मनसा मन्तव्यः स्यात् ? उच्यते । केनापि भक्तेन परमात्मा प्रत्यक्षीकृत इति न हि सच्छास्त्रतोधिगम्यते । वेदेषु परमेश्वरेहागच्छेत्युक्तं बहुशः परन्तु स कुत्राप्यागत इति न प्रत्यपादि क्वापि । अवतारादीनां दर्शनं तु न परमात्मदर्शनम् । अत एव भगवता कृष्णेनापि विराट्स्वरूपमेवार्जुनाय आदर्शि । विराट्स्वरूपमवतार-

स्वरूपतो भिन्नमित्यायातमनेन । विराटस्वरूपमपि न परमात्मस्वरूपम् । न तत्कस्यापि भक्तस्यापि ज्ञानिनोपि महात्मनोपि नयनाञ्जने निपतति । तत्तु केवलमनुभवनीयं मनसा न तु निर्वचनीयम् । तत्तल्लोके तत्तद्रूपेण हस्तपादादिमान्सोवलोक्यते मुक्तैर्जीवैरिति तु प्रलोभनमात्रम् । 'मनसैव विजानीयादि'ति परमात्मनोनुभवगम्यतामाह । तादृगनुभवो मानसिकस्तु जीवात्मनोपि भवत्येव । आधुनिकैस्तु शरीरान्निस्सरञ्जीवः प्रतिकृतिग्राहकयन्त्रेण नियन्त्र्यत इति सर्ववित्तमेव । अविकार्य इति तु प्रौढिवादः । दुर्गतिः सद्गतिरेवात्मनो विकारः । दुराचारेण दुर्गतिः सदाचारेण सद्गतिरात्मन इति सर्वशास्त्राणां डिण्डिमः । पतन्ति पितरस्तेषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया इत्यर्जुनेनापि पितृपदेन जीवानां पतनमुपन्यस्तम् । नरके निपतितानां तेषां महती वेदनेति पुराणानामुद्घोषः । नरके जीवा एव निपात्यन्ते न शरीराणि । यैः शरीरैः पापान्यात्मभिश्चरितानि तानि त्विहैव भस्मतां गतानि । यद्यन्यैः कैश्चिच्छरीरैः सहात्मानो नरके निपीड्यन्ते तर्हि महदन्याय्यम् । अन्याय्याचरणस्वीकारापेक्षया न्याय्यस्यैव जीवनिपीडनरूपस्य कृत्यस्याङ्गीकारे मानुष्य रक्षितं भवति । यदि पिण्डोदकानुभवाशया पापाचारजनितनरकाधिवासादयो न स्वीक्रियन्ते तर्हि तिष्ठन्तु नामात्मनोविकार्यता, न तत्र विवादः । नानुशोचितुमर्हसीत्यपि प्रौढिवाद एव । नार्जुनो जीवात्मनोनुशोचति देहांस्तु शोचति । देहविनाश चिन्ताजनितशोकापनोदाय तु नाद्यावधि किञ्चिदुपकृतं भगवतेत्येव सत्यम् ॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

आत्मनित्यत्वपक्षमाश्रित्य शोकानवसरं प्रतिपाद्यात्मानित्यत्वपक्षेपि न शोकप्रसरावसर इति वक्तुमारभते श्लोकत्रयेण भगवान् । अथ यदि नास्ति ते रुचिकर आत्मनित्यत्ववादो ज्यायसी च श्रद्धा तदनित्यत्ववादे तस्माच्चेत् । चकारश्चेदर्थे । एनमात्मानं नित्यजातं नित्यमेव जातं जायमानं च मृतं म्रियमाणं च मन्यसे । वेति चार्थे । नित्यं जातं वा

नित्य मृतं वेत्यर्थे न सौरस्यम् । अन्यतरोक्तेनान्यतरस्यावश्यसिद्धत्वात् । तथापि हे महाबाहो महावीर, एनं शोचितुं नार्हसि । अत्र किञ्चिद्विवेचनीयम् । आत्मनो नित्यजन्ममरणवादोपन्यासेन तस्मिन् समय एतस्यास्तित्वं सूच्यते । तर्हि नित्यजातो नित्यो वा मृतः—नित्यजनिधर्मा नित्यमृतिधर्मा च क इति प्रश्नः स्वभावादेवोपतिष्ठते । देहो वा मनो वेन्द्रियाणि वा ? न देहस्तावत् । गर्भारम्भ देहसत्त्वेपि चैतन्याननुभवात् । नेन्द्रियाणि । कतमस्येन्द्रियस्यात्मत्वमित्यनिर्णयप्रसङ्गात् । न सर्वाण्येवेन्द्रियाण्यात्मा । आत्मानेकत्वप्रसङ्गात् । क्रियाप्रसरप्रसङ्गाच्च । अवशिष्ट च मन एवात्मेति गृहाण । उत्पन्ने चाविनष्टे च मनसि सर्वा एव क्रियाः पर्यायेण प्रवर्तन्ते । विनष्टे च मनसि देहसत्त्वेपि क्रियानारम्भो दृश्यते । समाधिस्थे मनसि क्रियाभावः। सुषुप्तौ चापि बाह्यक्रियाभाव एव । मृत इति च व्यवह्रियते । ततो मन एवात्मत्वेन संमतमासीदिति । वेदेपि तावत्—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः० ॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः० ॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः ०॥
यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः० ॥

(यजु० ३४।१–५)

इत्येभिः पञ्चभिर्मन्त्रैर्मनस एव माहात्म्यं श्रावितम् । अतो मन एवात्मेति वैदिकः पन्थाः । नात्र मनःशब्देन कस्यचिच्चित्स्वरूपस्य पदार्थान्तरस्य नित्यस्य ग्रहणम् । मनस एव आत्मत्वात् । आत्मधर्मत्वेन प्रसिद्धानां सर्वेषामेव धर्माणां मनस्येवोपवर्णनाच्च । मनस उत्पत्तिविपत्ती शास्त्रप्रसिद्धत्वादात्मनो जनिमृती उक्ते संगच्छेते । ननु नित्यजातं नित्यमृतमित्युभयत्र भूतक्तनिर्देशे किं प्रयोजनम् ? न किंचित्प्रयोजनम् । नित्यं जायते नित्यं म्रियत इति वक्तव्ये नित्यं जातं नित्यं मृतमित्युक्तम् । न च कौरवाणां जातानां प्रत्यक्षं दृश्यमानानामुद्दिश्य समूहं जातमिति भूते क्त इति वाच्यम् । नित्यं मृतमित्युक्तस्यानिर्वाहात् । जातानुद्दिश्य क्तप्रत्ययस्यौचित्यसाधितेपि, अद्यावध्यमृतानुद्दिश्य नित्यं मृतमित्यस्यौचित्यस्यासाधनीयत्वात् । एनमित्येकवचनं तु सर्वत्रात्मत्वजातौ बोध्यम् । कृष्णमते नियतमात्मबहुत्वमेव । इदमपि तत्त्वं ध्यातव्यम् । देहात्मवादमर्जुने समारोपयतापि भगवता नार्जुनो भर्त्सितोभवन्न चापि देहात्मवादः । मन्यत आर्येषु तदानीन्तनेषु देहात्मवादोपि प्रचलित एवासीत् । अत एवायं वादो न कस्यापि क्षोभाय समजायत । अन्यथानार्यजुष्टोयं वाद इत्युक्त्वा भगवतावश्यं तिरस्क्रियेत । न दृश्यते तिरस्क्रिया प्रत्युत सत्क्रियैव । अत एव महाबाहो इति सम्मानितं सम्बोधनम् । अस्य वादस्याभिभवे न प्रावर्तिष्ट भगवानित्येतेन भगवतोपीष्टः कथंचित्स्यादयंवाद इत्यपि वक्तुं शक्यते । न च ययमेव वादस्तस्य स्वीकृतः स्यात्कथं देहात्पृथक्कृत्यात्मनो नित्यत्वसमर्थने तत्प्रवृत्तिरितिवाच्यम् । विदुषां सर्व एव वादा अभिमता एवेत्यस्य सिद्धान्तस्योदारचरितेषु सर्वत्र दर्शनात् । आत्मनित्यत्ववादस्य कर्णेहत्य समर्थनात्तस्य प्राचुर्येण स्यान्नाम प्रचारस्तदा, इत्यनवहेलनीयम् ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

हे अर्जुन, जातस्यात्मनो मृत्युर्मरणं ध्रुवो ध्रुवं निश्चितम् । मृतस्य चात्मनो जन्मापि ध्रुवमेव । अयमर्थोपरिहार्यः । न केनापि

कथमपि परिहर्तुं शक्यः । तस्मादपरिहार्येर्थेवश्यंभाविनि वस्तुनि । विषय-सप्तमी । अवश्यं भाविवस्तुविषये त्वं शोचितुं नार्हसि । जातस्य हि ध्रुवो मृत्युरितिसत्योक्तिः । परं ध्रुवं जन्म मृतस्येतिकथनं न प्रमाणपदवी-मारोहति । जातस्य मृत्यौ यथा ध्रौव्यं न तथा मृतस्य जनने । को नाम प्रमाणयितु शक्नोति मृतस्यास्येदं जन्मेति । मोक्षपदस्वीकर्तॄणां मतेपि न मृतस्य जन्मनि ध्रौव्यम् । सर्वथैव जनेरभावात् । देहात्मवादे विनष्ट एक-स्मिन्देहे परस्य देहस्य प्रारम्भो भवतीत्येव सत्यम् । परं विनष्टस्यैव देहस्य पुनरुत्पत्तिरिति बलादेव प्रत्यायितं भवेत् । उत्पत्तिविपत्ती अपरिहार्ये एवेत्येव सत्यम् । दुर्योधनादिदेहेषूत्पन्ना चेतना मनःसंज्ञिकापि देहावान्तर-भागतया देहेषु विनष्टेषु विनष्टैव भविष्यतीति किमर्थः शोक इत्येव भग-वतस्तात्पर्यमवसेयम् ॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

अव्यक्त आदि :—अव्यक्ताद्यवस्था येषां तानि । अथवा न व्यक्तो न प्रतीतः कदाचिदप्यादिर्येषां तानि । अत्राव्यक्तशब्दोप्राकट्यपरोज्ञातव्यपरो वा । अव्यक्ताव्यञ्जनीया व्यञ्जयितुमशक्या वादिराद्यवस्था येषाम् । आदि-शब्द आद्यवस्थामाह । सामर्थ्यादौचित्याच्च । एवं व्यक्तमध्यानीत्यत्रापि व्यक्तशब्दः प्राकट्यपरः । मध्यशब्दो मध्यावस्थापरः । व्यक्ता व्यञ्जयितुं शक्या मध्यावस्था येषां तानि । अव्यक्तनिधनानीत्यत्राप्यव्यक्तशब्दार्थः पूर्ववत् । निधनशब्दो निधनानन्तर्यावस्थामाह । शब्दसामर्थ्यात् । सर्वेषु शब्देषु सामर्थ्यविशेषोवतिष्ठत एव । अत एव गोशब्देन भूम्यादिरुच्यते न मनुष्यादिर्गमनक्रियायाः सर्वत्र समानत्वेपि । एवं चाव्यक्तानिधनानन्तरावस्था येषां तान्यव्यक्तनिधनानि । भूतानि भूतकार्याणि । यदि देह एवात्मा तेऽभिमतस्तर्हि देहो भूतकार्यम् । भूतानि च सृष्टेः प्रागव्यक्तावस्थायां

तिष्ठन्ति । न केनापि दर्शयितुं शक्यत इमानि भूतानीति । देहनिधनानन्तरमपि प्रवर्तमानायामवस्थायां तान्यव्यक्तान्येव तिष्ठन्ति । न ज्ञापयितुं परिचाययितुं वा शक्यत इमानि भूतानीति । ननु अव्यक्तादिव्यक्तमध्यशब्दाभ्यां किं प्रतिपिपादयिषितम् ? उच्यते । आदौ नोपलभ्यन्ते न दृश्यन्ते इति न सन्ति तानि देहादौ । देहविगमेपि नोपलभ्यन्ते इति न सन्ति तानि देहान्तेपि । मध्य एव देहदशायामेतान्युपलभ्यन्ते । तदा तदानीमेव ते भवन्तीत्यायातम् । तर्हि हे भारत यानि भूतानि न भवन्त्यादौ देहसृष्टिप्रागवस्थायां, यानि च न भवन्ति देहनाशोत्तरदशायां केवलं च यानि देहसत्ताकाल एव प्रतीयन्ते तेषां कृते का परिदेवना ? किमिदमश्रुविमोचनम् ? यदि देहादौ देहान्ते च भूतानामभवनं तर्हि कथमभावाद्भावोत्पत्तिः ? न ह्यसतः सज्जायेतेति । सत्यम् । न ह्यसतः सज्जायेत । न हि भूतानां नितान्तमसत्त्वं प्रतिपिपादयिषितम् । किं तर्हि ? केवलं स्थूलावस्था प्रतिषिध्यते । यथा देहदशायां भूतानां स्थौल्यमिन्द्रियादिवेद्यत्वं तथा देहात्प्राग्देहात्परं च न भवतीत्येव प्रबुबोधयिषितम् । किमेतेनायातं तर्हि ? अदर्शनं देहानां पूर्वावस्था परावस्था च । मध्य एव तद्दर्शनम् । दर्शनान्तरं स्वप्रकृतिं गतेषु भूतेषु कोवसरः परिदेवनाया इति । अव्यक्तादर्शनयोः पर्यायत्वं महाभारतादेवावगम्यते ।

तथा हि—

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
नते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना ॥(स्त्री० २।१३)

एवम्—,

अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत ।
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥(स्त्री० २। ६)

अत्राभावशब्दो नात्यन्ताभावपरः। अभावाद्भावानुत्पत्तेः । अव्यक्तादर्शनाभाव-शब्दा पर्यायवाचका इति मन्तव्यम्। अथवाभावादेव भावोत्पत्तिः । नन्वनुप-पन्नमेतत् । नानुपपन्नम्। दृश्यते लोकेभावाद्भावोत्पत्तिः । क ? वृश्चिके.। दधिगोमयाभ्यां मिश्रिताभ्यां कालेन वृश्चिको जायते । न वा दधनि न वा गोमये वृश्चिको विद्यते । अविद्यमान एव कालेन विद्यमानतां गतः । सुधाहरिद्रासंयोगेन कङ्कुर्जायते । न वा सुधायां न वा हरिद्रायां कङ्कुरविद्यत । अविद्यमान एव कङ्कुर्विद्यमानतां गतः । हाइ-ड्रोजनाक्सिजनाभ्यां जलं जायते । न वा हाइड्रोजने जलं न वाक्सिजने । अविद्यमानमेवानयोर्जलं विद्यमानतां गतम्। नास्त्येतत् । दधनि गोमये चापि सूक्ष्मरूपेणासीदेव वृश्चिकः। संयोगविशेषेण दृश्यत्वं गतः। सुधायां हरिद्रायां चापि कङ्कुरासीदेव सूक्ष्मरूपेण । संयोगविशेषाद्दृश्यतां गतः । हाइड्रोजने आक्सिजने चापि सूक्ष्मं जलमासीदेव । उभयोः संयोगविशेषेण जलं दृश्यतां गतम्। किं च दधिगोमयसुधाहरिद्राहाइड्रोजनाक्सिजनादीनां पदार्थानां भाव एव नाभावः। अतो भावादेव भावोत्पत्तिर्नत्वभावात् । न। न केनापि साधनेन दधिगोमययोर्वृश्चिको दृश्यते । न वा केनापि साधनेन सुधाहरि-द्रयोः कङ्कुः। तददर्शनं तदभावं गमयति । अभावादेव भावोत्पत्तिः । किमत्र तथ्यम्? भावाद्भावोत्पत्तिरभावाद्वा ? उभयं सत्यम्। क्वचिद्भावाद्भा-वोत्पत्तिः । मृत्तिकासद्भाव एव घटोत्पत्तिः। क्वचिदभावाद्भावोत्पत्तिः। सृष्ट्यादौ भूतानामत्यन्ताभावादभावादेव भावोत्पत्तिः । न सदासीदिति वेदोप्यत्रानु-कूलः । नोभयं सत्यम् । भावादेव भावोत्पत्तिः । सृष्ट्यादौ न हि किञ्चि-दासीदिति न । प्रकृतिरासीत् । सैव कारण जातस्य पदार्थजातस्य । कार-णसद्भावे कार्यसद्भावः । न सदासीदिति नाभावाद्भाव जनयति। किं तर्हि ? सृष्टेः पूर्वावस्थां वोधयति । कथम्? इत्थम्—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो न व्योमापरो यत् ।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास॥

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥

ऋ० १०।१२९।१-३॥

अत्राय वेदाक्षरार्थः। नासदासीदित्यत्रासच्छब्दस्य नाभाव इत्यर्थः। कस्तर्ह्यर्थः? इदं जगत्तदानीमसदासीदिति न। कारणरूपेणासीदित्यर्थः। न हि वन्ध्यापुत्रवदसदासीदिति भावः। न सदासीदित्यत्र स्थूलरूपेण नासीदित्यर्थः। तदेव विवृणोति। नासीद्रजः। रजांसि लोका उच्यन्ते। रज इत्येकवचनमविवक्षितम्। इमे लोकास्तदा नासन्नित्यर्थः। न व्योमाकाशोपि नासीत्। येषां मत आकाशो नित्यस्तेषां मते व्योमशब्देन व्यवह्रियमाण किमपि नासीत्। व्यवहार्यव्यवहर्त्रभावात्। व्योम्नो यत्परः परस्ताद् द्युलोकादयस्तेपि नासन्। किमावरीवः किमावृणुयात्? नासीत्किञ्चिदावार्यमिति नासीदावारकोपीतिभावः। कुह क्व आवृणुयात्? प्रदेशाभावात्। कस्य जीवस्य शर्मन् शर्मणि। द्वितीयार्थे सप्तमी। शर्म सुखादिभोगमावृणुयात्। कर्मफलभोगनिमित्तं शरीरमधिष्ठायैव जीवाः सुखं वा दुःखं वा भुञ्जते। तादृक्छरीराभावाद्भोक्त्रभावेन न किञ्चिदावरणीयमितिभावः। गहनं गभीरमम्भो जलं किमासीत्? किमपि नासीदित्यर्थः। प्रलयावस्थायां मृत्युरपि नासीदमृतमपि नासीत्। रात्र्या अह्नश्च प्रकेतो ज्ञानं नासीत्। तदानीं किमपि नासीदित्यपि न। अवातमकम्प्यं ब्रह्म आनीत् अनिति स्म प्राणिति स्म वर्तते स्मेतिभावः। न केवलं ब्रह्मैव स्वधा मायापि तदानीमासीदेवेत्युक्तं स्वधयेति। स्वस्मिन्धीयत इति स्वधा माया। सर्व एव पदार्था ब्रह्माश्रिता मायापि। तस्मात्सृष्टेः पूर्वं प्रलयावस्थायां तदेकमेव मायासहितं ब्रह्मैवासीत्। अन्यत्किञ्चन न। सृष्टेः परः परस्तात्प्रतीयमानं

जगत्किमपि नास नासीत् । किं च तम आसीत् । तमःशब्देनाप्यत्र मायै-वोच्यते । माया च प्रकृतिः । तत्तमस्तमसाज्ञानेन गूढमासीत् । ज्ञात्रभावा-त्तमसा गूढमित्युक्तम् । एवं सृष्टेः प्राग्जीवसत्ता निषिद्धा प्रतीयते वेदेपि । अतः शरीरेण सहैव जायमाना काचिच्छक्तिरेव जीवपदवाच्या भवति । सृष्टेर्मूलकारणं पूर्वमप्यव्यक्तमासीत्पश्चादव्यक्तं भविष्यति । इदानीं यदस्ति तदपि न शोकहेतुः । कृतेऽपि शोके तद्विनङ्क्ष्यत्येव । अलमिह शोकेन ॥२८॥

आत्मनो दुर्विज्ञेयत्वमाह—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन--

माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति,

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कश्चिदेनमात्मानं पश्यति तदाश्चर्यवदाश्चर्यमिव भवति । तथैवान्यः कश्चिदेनं वदति तदप्याश्चर्यवद्भवति । अन्यः कश्चिदेन शृणोति तदप्या-श्चर्यवद्भवति । एनं श्रुत्वापि कश्चिदेनं न वेद न जानाति । 'आश्चर्य-मनित्ये' (६।१।१४७) इतिपाणिनिसूत्रेणानित्य इति वक्तव्ये आङ्पूर्वकस्य चरेः सुट् । वार्तिककारोत्र 'आश्चर्यमद्भुत इति वक्तव्यम्' इति वार्तिकं पपाठ । भाष्यकारस्तन्नाङ्गीचकार । अनित्यशब्द एवाद्भुत्यमाह तन्मते । विस्मयोद्भुतमाश्चर्यमित्यमरः । 'अद्भुते सुट्' इति सिद्धान्तकौमुदीकारो दीक्षितः । अनित्यतया विषयभूतयाद्भुतत्वमिह लक्ष्यते इति काशि-कारो वामनः । यद्यनित्येऽशाश्वतिक आश्चर्यमिति निपात्यते ततो घटादि-ष्वपि स्यादित्येतं दोषं परिजिहीर्षुराहानित्यतयेत्यादीति न्यासकारः काशि-काव्याख्यायाम् । अद्भुतं चित्रमित्युच्यते । यल्लोकेद्भुतं तच्चित्रम् । तस्य भावोद्भुतत्वम् । तस्य चान्यत्राभावादनित्यता विषयभूतेति तत्रैव ।

एवं च सूत्रेऽनित्यपदं नाशाश्वतिकार्थम् । ततश्च कश्चिदेनमात्मानमनित्यमिव पश्यतीति न व्याख्येयम् । आत्मानमाश्चर्यमिव पश्यतीत्यर्थोऽपि न । नाश्चर्यपदमात्मना युज्यते । अत एव महाभाष्यकार उदाजहार-आश्चर्यमुच्चता वृक्षस्येत्याश्चर्यग्रहणेन न वृक्षोऽभिसम्बध्यते । किं तर्हि ? उच्चता । सा चानित्या । आश्चर्यं नीला द्यौरिति नाश्चर्यग्रहणेन द्यौरभिसंबध्यते । किं तर्हि ? नीलता । सा चानित्येत्यादि । ततः सुष्ठु व्याख्यातमस्माभिः 'एनमात्मानं कश्चित्पश्यति तदाश्चर्यमिव भवती' ति । ननु निराकारस्य दर्शनमेव दुर्लभं कथं तर्हि 'कश्चिदेनं पश्यती'त्युक्तं स्यात् ? सत्यम् । तां दुर्लभतामाख्यातुमेवाश्चर्यवदित्युक्तम् । यदि कश्चिद्वदति 'दृष्टो मयात्मे' ति तदद्भुतमेव । न केनापि दृष्टो भवति स इत्येवात्र हार्दम् । ननु 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चिदि'त्युक्तम् । तत्र कथं 'श्रुत्वापी'त्येव ? कथं न दृष्ट्वापीति, उदित्वापीति भगवतोक्तम् ? सत्यम् । श्रुत्वाप्येनं न वेद कश्चिद्यथा तथैव दृष्ट्वाप्येनं न वेद कश्चिदिति, उदित्वाप्येनं न वेद कश्चिदिति च बोध्यमेव । य आत्मविषये किञ्चिद्वदन्ति ये चात्मविषये किञ्चिच्छृण्वन्ति ते तज्ज्ञा इति तु नैव मन्तव्यम् । न हि किञ्चिज्ज्ञानमात्मविषयकं कस्यापि भवतीतिभगवदाशयः । ननु कथं तर्ह्याश्चर्यवदित्युक्तम् ? वतेः किं प्रयोजनम् ? य आत्मानं पश्यति तदाश्चर्यवद्भवतीत्यस्य स्थाने तदाश्चर्यं भवतीति कुतो नोक्तम् ? नोक्तम् । स्वस्य नियोगानुयोगानर्हत्वात् । निरङ्कुशो हि भगवान् । यथेच्छं वदति । अथवा, आश्चर्यमिवैनं पश्यति वदति शृणोतीति योजना कर्तव्या । पश्यतीत्यस्य जानातीत्यर्थः । आश्चर्यमिवात्मानं जानाति वदतीत्यादि । ननु तथापि वतेः सार्थक्यं तु न साधितं भवति । साधितं भवतीत्येव । कथम् ? प्रथमदर्शने द्रष्टुराश्चर्यं भवति पश्चात्तु आश्चर्यमिवैव । प्रथमवदने भवत्याश्चर्यं किं मयोद्यत इति । पश्चात्तु सति ज्ञाने आत्मनो वदने आश्चर्यमेव भवति ।

वस्तुतस्तु श्लोकोऽयमपि 'अथ चैनं नित्यजातम्' इत्येतेन सम्बद्धोऽस्ति । तेनायमर्थः—कश्चिदेनं देहात्मानमाश्चर्यवदाश्चर्येण तुल्यमाश्चर्यमिव पश्यति ।

अयमात्मभूतो जडो देहः सर्वा क्रियाः करोति जानाति च सर्वमित्याश्चर्यम् । अस्मिन्नर्थे द्रष्टोः स्वार्थो रक्षितो भवति । तथैव तेनैव प्रकारेणान्य एनमाश्चर्यमिव वदति—अस्य सम्बन्धे किमप्याश्चर्यचकित इव वदतीति तात्पर्यम् । अन्यः कश्चन बघस्य देहात्मनः सम्बन्धे श्रृणोति तदाश्चर्यमिवैव । दृष्ट्वाप्युदित्वापि श्रुत्वापि कश्चिदेनं देहात्मानं न वेद न जानाति । देहात्मानं दृष्ट्वापि तद्विषये कुतश्चिच्छ्रुत्वापि कोपि तत्त्वत एनं न वेत्तु शक्तः ॥ २९॥

इदानीं स्वमतं स्थापयत्युपसंहारे—

देही नित्यमवध्योयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे भारत सर्वस्य प्राणिजातस्य देहे स्थितोयं देही नित्यमवध्योहन्तव्यो हन्तुमशक्यः । एवं च देहो वध्य इत्यायातम् । तस्मात्सर्वाणि भूतानि न केवलं भीष्मद्रोणादीनेव पशुविहगादीनपि त्वं शोचितुं नार्हसि । अनेनाहिंसा वराकी व्यपगता ॥३०॥

लोकमनुसृत्योपदिशति—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

अर्जुन त्वं क्षत्रियोसि । युद्धं तव स्वाभाविको धर्मः । तं स्वधर्ममपि चावेक्ष्य विचार्य त्वं विकम्पितुं मेतुं स्वधर्माद्विचलितुं वा नार्हसि । हि यतः । धर्म्याद्धर्मादनपेताद्युद्धादन्यच्छ्रेयः श्रेयस्करं क्षत्रियस्य न विद्यते । ननु धर्म्यादित्युक्तम् । कथमिदं युद्धं धर्मादनपेतमिति ? उच्यते । पाण्डवानामपि हस्तिनापुरराज्येधिकार आसीदेव । द्यूतेन पराजितो युधिष्ठिरः स्वबन्धुः सबन्धुः सदारश्च वनं गतः । वनवासावधौ समाप्ते पाण्डवाः स्वभागं राज्यादैच्छन् । न दत्तो दुर्यो-

अनेन । अन्याय्यं दुर्योधनपक्षे स्थितम् । अन्याय्यमधर्मः । न्याय्यं पाण्डवपक्षे स्थितम् । न्याय्यं धर्मः । युद्धादन्यायस्य पराजयो भविष्यतीति कृत्वास्य युद्धस्य धर्म्यत्वम् ॥३१॥

युद्धमेव प्रशंसति—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

या ऋच्छा यदृच्छा । स्वैरिता । स्वैरितयोपपन्नं प्राप्तं युद्धमपावृतमावरणरहितमुद्घाटितकपाटं स्वर्गद्वारं स्वर्गस्य द्वारमेव । स्वर्गः सुखविशेषः । तथैवोक्तं मीमांसकैः "यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्" इति । न हि स्वर्गनामा कश्चिल्लोकविशेषो देवस्थानम् । न वा नरकनामा कश्चिल्लोकविशेषो यमाधिष्ठितः । हे पार्थ, ईदृशमपावृतं स्वर्गद्वारमिव युद्धं सुखिनो भाग्यवन्तः क्षत्रिया लभन्ते प्राप्नुवन्ति । ननु नेदं युद्धं यदृच्छयोपपन्नम् । प्रयत्नेनैवोपस्थापितम् । कथं तर्हि यदृच्छयेत्युक्तम् ? बाढमुक्तम् । पाण्डवैर्युद्धाय न कश्चन प्रयत्नः कृतः । अत एव यदृच्छयेत्युक्तम् । कौरवैः कृत एव प्रयत्नो युद्धाय परं ते नात्रोपस्थिता न च त उपदेश्याः । उपदेश्योऽर्जुनः । तेन न कश्चन प्रयत्नः साधितो युद्धाय । युद्धनिवारणायैव प्रत्युतासीत्तस्य प्रयत्नः ॥३२॥

पापभयं दर्शयति—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अथ—एवमस्तु तथापि त्वं चेद्यदीममुपस्थितं धर्म्यं धर्मयुक्तं संग्रामं न करिष्यसि ततस्तस्मात्स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा त्यक्त्वा पाप-

मवाप्स्यसि प्राप्स्यसि । ननु पापमवाप्स्यसीत्युक्तम् । तत्कीदृशं पापम् ? उच्यते । कर्मणां द्विविधः प्रपञ्चः । पापं पुण्यं च । असत्कर्म पापम् । पुण्यं च सत्कर्म । सदसती न नियतस्वरूपे । एकस्यार्थे यदसत्तदेवान्यस्यार्थे सद्भवति । अन्यस्यार्थे यत्सत्तदेवान्यस्यार्थे भवत्यसत् । निषिद्धकर्मजन्यं (त० सं०) नरकदुःखादिदुःखानां साधनम् (सि मु०) दुःखायासाधारणं कारणम् (प्र० प्र०) इति नैयायिकाः पापस्वरूपमभिदधति । अत्र तु पापशब्देन निन्दा भगवतोभीप्सिता । नरकादिप्रापको न भवत्यधर्मः किन्त्वधर्माचरणम् । एवं धर्मोपि न स्वर्गाय भवति भवति च तदाचरणम् । स्वधर्मत्यागो नरकाय नैव स्यात् । स्वधर्मत्यागानन्तरमधर्मे प्रवृत्तिर्नरकाय भवति । न च स्वधर्मपरित्याग एवाधर्म इति वाच्यम् । जनकादिषु व्यभिचारात् । किं चात्र स्वधर्मेत्युच्यते । न सामान्यो धर्मः । सामान्यधर्मस्तु, "श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्" (मनु० २।१२) "धृतिः क्षमा दमोस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥" (मनु० ६।९२) इत्येवंरूपः । "सत्यान्नास्ति परो धर्मः" "वेदेन प्रयोजनमुद्दिश्य विधीयमानोर्थो धर्म (मी.न्या.) इत्येवरूपो वा । सामान्यधर्मत्यागान्मनुष्यो मानुष्याच्च्यवते न तु नरकादिदुरूहस्थानमधिकरोतीति । स्वर्गनरकादिलोको नास्त्येवेत्युक्तम् ॥ ३३ ॥

धर्मत्यागे मरणादधिका दुःखदाकीर्तिः प्रसरिष्यतीत्याह—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

अपि च, यदि त्वं कीर्तिं हास्यसि तदा भूतानि लोकास्ते तवाव्ययां चिरकालस्थायिनीमकीर्तिं कथयिष्यन्ति प्रथयिष्यन्ति । न च वक्तव्यं लोकैर्गीतायामकीर्त्यां किं मे भविष्यतीति, यतः सम्भावितस्य लब्धकीर्तेरकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते । मृत्योरप्यधिका सेति । पूर्वमुक्तं स्वधर्मं कीर्तिं च

हित्वा पापमवाप्स्यसीति । अत्र स्वधर्ममिति परित्यज्य कीर्तिं चोद्दिश्योक्तवानकीर्तिःमरणादधिकेति । तत्र विचार्यते स्वधर्मत्यागस्यापरं फलमत्र किं नोक्तमिति । कीर्तिःस्वधर्मानुष्ठानादेव भवति नान्यथा । स्वधर्माननुष्ठानेन कीर्तेरनुदयादकीर्तिरेव स्यात् । युद्धात्पलायनमकीर्तिकरमिति मत्वैतद्वचनम् । किं चात्र कीर्तिहानादकीर्तिप्रसारो भविष्यतीत्येवोक्तं न तु पापमपि भविष्यतीति । अतः सुष्ठु मयोक्तं पापशब्दार्थो निन्देति । किं चाकीर्तिः पापाय भवतीत्यत्र नोक्तम् । सा मरणादधिका भवतीत्येवोक्तम् । अतोवश्यं पापशब्दो निन्दापरः । अधर्मस्यापरं फलं तु नोक्तम् । तादृगधर्मस्य कृष्णेनाप्यननुमतत्वात् । यदि स्वधर्मस्य परित्यागे पापं भवेत्, तदनुष्ठाने स्याद्धर्मोपि । धर्मस्य फलं स्वर्गो न नरकः । युद्धं परिसमाप्ते कालेन स्वर्गारोहणसमयेर्जुनस्य नरकावाप्तिर्गम्यते । तेन ज्ञायते स्वधर्मपरित्यागे न भवत्यधर्मः केवलं लोकनिन्देति ॥३४॥

निन्दामेवाह—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

किं च महारथास्त्वां भयादेव हेतो रणादुपरतं पृथग्भूतं मंस्यन्ते । ततः किम् ? तत एतत् । येषां महारथादीनां त्वं बहुमतोसि तेषां बहुमतो भूत्वा लाघवं लघुतां यास्यसि । अत्राप्यकीर्तेर्लाघवमेव फलं न नरकावाप्तिः । अत्र द्वितीये पादे येषामित्यस्य स्थाने तेषामिति पाठे बह्वानुकूल्यमर्थे ॥३५॥

निन्दाभयमेव प्रदर्शयति—

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

तवाहिता हितमनिच्छन्तः शत्रवस्तव सामर्थ्यं पौरुषं निन्दन्त

उपहसन्तः कुत्सयन्तो वा बहून् बह्वीरवाच्यवादानवक्तव्योक्तीर्वदिष्यन्ति। अवचनार्हाणि वचनानि ते वदिष्यन्तीति भावः। ननु वदन्तु नाम ते तथा किं मे च्छिन्नं भविष्यति तेनेत्याह—ततो निन्दावचनाद् किं नु स्यादन्यद्दुःखतरम्? तदेव दुःखतरमितिभावः ॥३६॥

प्रलोभयत्यर्जुनम्—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

हे कौन्तेय, युद्धे युद्ध्यमानः संश्चेत्त्वं हतो भविष्यसि स्वर्गं प्राप्स्यसि। तथा हि ऋग्वेदे—'ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः। ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्।" (ऋ०।१०।१५४।३), यदि च त्वमेव जेता भविष्यस्यस्मिन्रणे तर्हि जित्वा सर्वानरीन्विजित्य सर्वान्निहत्येति तु हार्दम्। महीं पृथिवीं भोक्ष्यसे राजा भविष्यसीति। ननु कथमर्जुनः पृथिव्या भोक्ता भविष्यति विद्यमाने युधिष्ठिरे ज्येष्ठभ्रातरीति? उच्यते। भ्रात्रा भोक्ष्यमाणायां धरायां स एव भोक्ष्यतीत्येवमभेदप्रदर्शनमात्रमेतत्। एवं चोभयथा लाभस्तव पक्षे। तस्माद्युद्धाय कृतनिश्चयः, कोपि परिणामः स्यान्मया तु योद्धव्यमेवेति कृतो निश्चयो येन तथा भवन्नुत्तिष्ठ सन्नद्धो भव ॥३७॥

को जेष्यति कमितिविचारणावसरो नायमित्याह—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

युद्धविजयानन्तरं जनिष्यमाणं सुखं पराजिते च जनिष्यमाणं दुःखमुभे समे कृत्वा समाने अवबुद्ध्य सुखं प्रति रागं दुःखं प्रति द्वेषं च परित्यज्येति भावः। एवं लाभालाभौ जयाजयौ च समौ कृत्वा ततो

न तसिद्ध प्रयोजनाभावात् । तत्राप्रत्ययेनैनानन्तर्यार्थप्रसिद्धेः । एवमनेन प्रकारेण सुखदुःखलाभालाभजयाजयादिषु तटस्थो भूत्वा यदि युद्धं करिष्यसि न पापं निन्दामवाप्स्यसि । अत्र तु स्पष्ट एव पापशब्दो निन्दार्थकः ॥३८॥

उपायान्तरेणार्जुनं युद्धाय प्रवर्तयति—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे पार्थ, एषाद्यावधि या बुद्धिर्यज्ज्ञानमभिहितोपदिष्टं तत्सांख्ये सांख्यशास्त्रे प्रसिद्धमितितात्पर्यम् । योगे कर्मयोगे तु । विषयसप्तमी । कर्मयोगविषये तु इति यावत् । इमां वक्ष्यमाणं ज्ञानं शृणु । किं भविष्यति तच्छ्रवणेनेत्यत आह यया बुद्धया मदुक्तयेदानीं युक्तस्त्वं कर्मबन्धं प्रहास्यसि कर्मबन्धान्मुक्तो भविष्यसीत्याशयः । सांख्यशब्दः कापिलतन्त्रस्यैव बोधको न तु कस्यचिदन्यस्य ज्ञानशास्त्रस्येति बोध्यम् । महाभारतकाले सांख्यशास्त्रस्यैव प्राथम्यमासीन्नान्यस्य । तथाहि—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥
महा० शा० ३४९

शान्तिपर्वणि युधिष्ठिरो भीष्मं प्रार्थयाञ्चक्रे—

सांख्ये त्विदानीं कार्त्स्न्येन विधिं प्रब्रूहि पृच्छते ।

भीष्म उवाच—

शृणु मे त्वमिदं सूक्ष्मं सांख्यानां विदितात्मनाम् ।
विहितं यतिभिः सर्वैः कपिलादिभिरीश्वरैः ॥
पञ्च दोषान्प्रभो देहे प्रवदन्ति मनीषिणः ।
मार्गज्ञाः कापिला सांख्याः शृणु तानरिसूदन ॥

तमः श्वभ्रनिभं दृष्ट्वा वर्षबुद्बुदसंनिभम् ।
नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमिहावशम् ॥
रजस्तमसि संमग्नं पङ्के द्विपमिवावशम् ।
सांख्या राजन्महाप्राज्ञास्त्यक्त्वा स्नेहं प्रजाकृतम् ॥
ज्ञानयोगेन सांख्येन व्यापिना महता नृप ।
... ...
छित्वाशु ज्ञानशस्त्रेण तपोदण्डेन भारत ॥
... ...
ततस्तान्सुकृतीन्सांख्यान्सूर्यो वहति रश्मिभिः ।
... ...
तत्रापि तत्त्वं परमं शृणु सम्यङ् मयेरितम् ।
बुद्धिश्च परमा यत्र कापिलानां महात्मनाम् ॥
'सांख्या राजन्महाप्राज्ञ गच्छन्ति परमां गतिम्' ।
'तपांसि सूक्ष्माणि सुखानि चैव,
सांख्ये यथावद्विहितानि राजन् ।'
'हित्वा च देहं प्रविशन्ति देवं,
दिवौकसो द्यामिव पार्थ सांख्याः ।'
'सांख्यं विशालं परमं पुराणं,
महार्णवं विमलमुदारकान्तम् ।
कृत्स्नं च सांख्यं नृपते महात्मा,
नारायणो धारयतेऽप्रमेयम् ॥'

इत्यादीनि वचनान्यन्यानि च महाभारत एव द्रष्टव्यानि । सांख्या ईश्वरं नाङ्गीकुर्वन्ति । गीतायामद्यावधि पठितेषु श्लोकेष्वात्मन एव वर्णनं न तु परमेश्वरस्य । ततोऽपि सांख्यपदेन कापिलं शास्त्रमेव ग्रहीतव्यम् ॥ ३९ ॥

कर्मयोगबुद्धिं प्रशंसति—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

इह कर्मयोगे नास्त्यभिक्रमनाशः । अभिक्रम उपक्रम आरम्भ इति यावत् । तस्य नाशो नास्ति । कर्मयोगः प्रायेणोपकारप्रधान एव भवति । अन्येषां सांसारिककर्मणामुपक्रमस्य नाशो दृश्यते । परं परोपकार-रूपकर्मणः प्रारम्भस्य नाशो नास्ति । यत्किञ्चित्कृतं भवति तेनैवोपकृदुप-कार्ययोः क्षेम एव भवति । नाशो नाम फलानाधायकत्वम् । न कारणलयो न वा ध्वंसो न वादर्शनानुकूलव्यापारः । परोपकाराख्ये कर्मणि कृते तत्र फलानाधायकत्वं नास्ति । यावत्कृतं तावत्फलं लभ्यत एव । एवं तत्र प्रत्यवायो न विद्यते । प्रत्यवायोऽधर्मः । अन्यस्मिन्कर्मण्यधर्मस्यापि संभावना । अत्र तु न भवत्यधर्मलेशोऽपि । उपकारप्रवृत्तलोकानामुपकारप्रवणतैकशरणत्वान्न भवत्य-धर्मोदयः । अस्योपकाररूपस्य धर्मस्य स्वल्पमपि कृतं महतो भयाज्जन्म-मरणरूपात् त्रायते संरक्षति । जन्ममरणयोः प्रवृत्तिरेव भयम्, निवृत्ति-रभयपदम् । अल्पोऽपि साधित उपकारः जन्ममरणे समूलं विनाशयतीति ॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनन्दन कुरूणां नन्दन । इह कर्मयोगे व्यवसायात्मिका निश्चयात्मिका निश्चयस्वरूपैका बुद्धिः । सर्वं वाक्यं सावधारणमितिन्याया-देकैव बुद्धिरित्यर्थः । व्यवसायो निश्चयः । आत्मा स्वरूपम् । व्यवसायो निश्चय आत्मा स्वरूपं यस्याः सा व्यवसायात्मिका । एवं च कर्मयोग-मुपासीना व्यवसायिनो भवन्ति । अव्यवसायिनां ये च न सन्ति व्यवसायिनस्तेषां बुद्धयो बहुशाखा बह्वः शाखा यासु ताः । इदं करि-ष्यामीदं च भोक्ष्य इतिस्वरूपाः । अनन्ताश्च हि । ता अपि अनन्ता नास्त्यन्तो यासां ताः । ननु बुद्धय इति बहुवचनेनैवानन्त्यलाभात्कथं पुनर-

नन्ताश्चेत्युक्तिः ? सत्यम् । तस्यैव बहुवचनप्रत्ययस्य व्याख्यानमनन्ताइति विस्पष्टप्रतिपत्त्यर्थम् ॥ ४१ ॥

अव्यवसायिबुद्धीन्निन्दति—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

हे पार्थ, भोगैश्वर्यगतिं प्रति । भुज्यन्त इति भोगाः । ईश्वरस्य भाव ऐश्वर्यमीश्वरत्वम् । तस्य गतिः प्राप्तिः । तां प्रति तामुद्दिश्येत्यर्थः । नान्यदस्ति स्वर्गादधिकं किमपि फलं प्राप्यं नास्तीतिवादिन इतिवदनशीला वेदवादरता वेदानां ये वादा 'आयुराशास्ते' सुप्रजास्त्वमाशास्ते' 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिरूपाः । तेष्वेव रता निरता तान्वादान्सत्य मत्वा तत्रैवासक्तानाः । कामात्मानः कामा इच्छाः । तेषु कामेष्वेवात्मा मनो येषां ते कामपरायणाः । स्वर्गपराः स्वर्ग एव परं प्रधानं प्राप्य वस्तु येषां ते स्वर्गपराः । क्रियाणां विशेषाः क्रियाविशेषाः । ते बहुला बहवो यस्यां सा ताम् । जन्मकर्मफलप्रदां जन्म च कर्मफलानि च जन्मकर्मफलानि । तानि प्रददातीति जन्मकर्मफलप्रदाम् । यामिमां पुष्पितां मनोहरामितिभावः । अतिशयोक्तिपूर्णामिति तात्पर्यम् । ? स्वर्गकामो यजेत, वृष्टिकामः कारीर्या यजेत, इत्यादिरूपां ये वाच वदन्ति तेऽविपश्चिताः । विविधं पश्यन्ति ते विपश्चितः । न विपश्चितोऽविपश्चितः । ते मूर्खा इत्यर्थः । वेदवादेषु विश्वासं दधानानां मूर्खत्वकथनेन ज्ञायते न कृष्णस्य वैदिकयागादौ विश्वास इति ॥४२॥ ४३ ॥

वेदवादरतानामविपश्चित्त्वप्रतिपादनेनाप्यसन्तुष्यन्नाह—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां भोगस्वामित्वप्राप्तिप्रसक्तानामिति तात्पर्यम् । तया पूर्वोक्तया क्रियाविशेषबहुलया वाचापहृतचेतसामपहृतं पराधीनीकृतं चेतो येषां तेषामविपश्चितां समाधौ । समाधीयते विषयनिचयो यस्मिन्स समाधिर्मनस्तस्मिन् । व्यवसायात्मिका बुद्धिः निश्चयात्मिका बुद्धिर्न विधीयते न धार्यते न स्थाप्यते । डुधाञ् धारणपोषणयोः । निश्चयात्मिका बुद्धिर्विषय-वासनाकलुषितान्तःकरणानां न भवतीत्यभिप्रायः ॥४४॥

वेदांस्तिरस्करोति—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

त्रयो गुणास्त्रिगुणाः सत्त्वरजस्तमआख्याः । तेषां समाहारस्त्रिगुणम् । त्रिगुणस्य कर्म त्रैगुण्यम् । संसारः । स एव विषयो येषां तथाभूता वेदाः सन्ति । वेदाः संसारवर्धकाः सन्तीत्याशयः । ततस्त्वं हे अर्जुन निस्त्रैगुण्यो निर्गतं त्रैगुण्यं यस्मात्तथाभूतो निष्क्रान्तससारो भव । वेदविहितयागादीनां करणेन ससारो वर्धत एव न निवर्तते । तस्माद्वेदान् परित्यज्य तत्प्रतिपाद्यकर्मभ्यो विरज्य निर्द्वन्द्वो द्वन्द्वरहितो हर्षशोकादिरहितः, नित्यसत्त्वस्थो नित्यं सत्त्वं विद्यमानत्वं यस्य परोपकरणरूपं तत्र स्थितो भव । किं च निर्योगक्षेमो भव । अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः । प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः । अलभ्यलाभसहितं लब्ध-परिरक्षणमिति यावत् । योगक्षेमाभ्यां दूरे तिष्ठ । आत्मवांश्च निश्चलचित्तः सुदृढचित्तो वा भव । ननु किमुद्दिश्य वेदनिराकरणफलका इमे श्लोका अत्र पठिताः ? उच्यते । एते वध्या एते चावध्याः, एतान्निहत्य स्वपितॄन् लुप्तपिण्डोदकक्रियान् करिष्यामि, गुरुभिः सह योधनं पापं कर्म भविष्यतीत्या-दिचिन्तन श्रुतश्रुतेरेव फलम् । यावदयं—वेदवादेभ्यो न स्यात्पृथक्कृतस्ताव-दस्य बुद्धिः प्राप्तकर्तव्यस्य पालने न भविष्यति व्याप्टतेति विचार्य भगवान् वेदतिरस्कृतौ प्रावर्तिष्ट । मृतपतिकानां कुलस्त्रीणां विषये चिन्तां निवर्तयितुं निर्योगक्षेमो भवेत्युक्तम् । जेष्यामि जितो वा भविष्यामीतिचित्तद्वैविध्यमपा-

कर्तुमात्मवानित्युक्तम् । स्वर्गादिफलकानां वेदविहितयागादीनां तत्फलानां च न नित्यविद्यमानता । परोपकरणस्य तु नेहाभिक्रमनाशोस्तीत्युक्तम् । तदेव द्रढयितुं पुनर्नित्यसत्त्वस्थो भवेत्युक्तम् । ननु केचन व्याख्यातारस्त्रैगुण्यविषया वेदा अत्र विवदन्ते । तथा हि–त्रयो गुणास्त्रैगुण्यं सत्त्वरजस्तमांसि । सत्त्वरजस्तमःप्रचुराः पुरुषास्त्रैगुण्यशब्देनोच्यन्ते । तद्विषया वेदास्तमःप्रचुराणां रजःप्रचुराणां सत्त्वप्रचुराणां च तत्तत्सलतरतयैव हितमवबोधयन्तीति । अत्र त्रैगुण्यप्रचुरपुरुषविषया वेदा इति व्याख्यातं तत्किमर्थं न भवदनुगृहीतमिति ? उच्यते । तद्व्याख्यानं न चारुतां न वा चमत्कारितां परिचुम्बति । यदि त्रैगुण्यशब्देन त्रैगुण्यप्रचुराः पुरुषा उच्यन्ते तर्हि निस्त्रैगुण्यशब्देनापि स एवार्थः प्रतिपादयितव्यः स्यात् । एवं च त्रैगुण्यप्रचुरेभ्यः पुरुषेभ्यस्त्वं पृथग्भवेत्यर्थोनुमतः स्यात् । एवं च नित्यसत्त्वस्थशब्दस्य तदभिमतोर्थो विरुध्येत । यस्त्रैगुणप्रचुरपुरुषेभ्यः पृथक् स्थास्यति स नित्यसत्त्वस्थोपि न भविष्यति । असम्भवात् । न हि कश्चन पुरुषो नित्यसत्त्वस्थ एव भवितुमर्हति । रजस्तमोभ्यां सतः पृथगनवस्थानात् । सर्वेषु प्रकृतवस्तुषु प्रकृतिरूपेण तदवस्थानस्य दुर्वारत्वात् । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था हि प्रकृतिरुच्यते । किं च कस्माच्चित्पुरुषात्पृथगवस्थानस्याप्रस्तुतत्वादपि नायमर्थो रुचिकरो विदुषामिति । अतस्त्रिगुणस्य कर्म त्रैगुण्यं संसार इत्येवार्थः समीचीनः ॥४५॥

इदानीं वेदप्रतिष्ठात्राणार्थं वदन्वेदानाश्वासयति —

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

सर्वतः संप्लुतोदके संप्लुतं सम्यक् पूर्णमुदकं यस्मिंस्तस्मिन्नुदपाने जलाशये । उदकं पिबन्त्यस्मिन्निति तदुदपानम् । उदकस्योदादेशः । यावान् यावत्परिमाणकोर्थः । अर्थः प्रयोजनम् । विजानतो विशेषेण जानतो विशेषज्ञस्य ब्राह्मणस्य, ब्रह्मणोयं ब्राह्मणः । ब्रह्मज्ञातेत्यर्थः । तस्य तत्त्वज्ञस्य । एवं च ब्रह्म अणतीति ब्रह्मणः । शकन्ध्वादित्वात्पररूपम् । ब्रह्मण एव

ब्राह्मणः । अथवा प्रज्ञाविवादपि ब्राह्मण इति कयोश्चिदुपद्रवः परिहास्य एवेति । नात्र ब्राह्मणपदं ब्राह्मणवर्णपरम् । उपदेश्यः क्षत्रियो न तु ब्राह्मणः । सर्वेषु वेदेषु तावांस्तावत्परिमाणकोऽर्थः । इदमुक्तं भवति । न हि कोपि अल्पपरिपूर्णाज्जलाशयात्सर्वमेव जलमाहर्तुं प्रयतते, प्रत्युत यावता जलेन कार्यसिद्धिर्भवेत्तावदेव गृह्णात्यन्यत्त्यजति, एवमेव विशेषज्ञेन विदुषा वेदेभ्यस्तदेव ग्राह्यं तावदेव च येन यावता च परमार्थसिद्धिर्भवेत् । यदि वेदेषु तवाग्रहस्तदापेक्षितमेव ग्रहीतव्यं नानपेक्षितमिति ॥४६॥

जेष्यामि जितो वा भविष्यामीत्यादिविकल्पान् निरस्यति—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि ॥४७॥

अर्जुन कर्मण्येव कर्तव्यसम्पादन एव ते तवाधिकारः, फलेषु कृतेषु कर्मसु फलान्युदेष्यन्ति न वेत्येवं विचारो व्यर्थो यतः फलेषु तव कदाचन बलं न । अत्र बलमित्यध्याहार्यम् । फलेषु नाधिकार इति व्याख्याने न सौरस्यम् । कर्मकर्तॄणां कर्मफलेष्वधिकारस्तु सतत एव । सोऽधिकारः परोपकारपरायणेन तत्त्वज्ञेन त्यज्यत इत्यन्यत् । कदाचनेतिपदमपि व्यर्थतां यायात् । फलाकाङ्क्षायां फलेष्वस्त्येवाधिकारः । त्वं कर्मफलहेतुर्मा भूः । अनेन कर्मणा मयेदं फलमेष्टव्यमितीच्छंस्त्वं कर्मफलस्य हेतुर्भविष्यसि । एषणात्यागे च कर्मफलाहेतुर्भविष्यसि । एवं च कर्मफलेच्छां परिहरेत्युपदेशाशयः । यदि फलं नेष्टव्यं किमर्थमायासपरम्परासाध्ये कर्मणि प्रवेश इति विचार्य ते तत्राकर्मणि मास्तु सङ्गः । कर्म न परिहार्यमिति तात्पर्यम् ॥४७॥

फलार्थ्येव कर्मणि प्रवर्तते फलेच्छाभावे कथं कर्मणि प्रवृत्तिरित्याह—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥

हे धनञ्जय योगस्थः कर्मयोगस्थः कर्मयोगे स्थितः सन् सङ्गमासक्तिं

फलतृष्णां वा त्यक्त्वा कर्माणि कर्तव्यत्वेनापतितानि कुरु समाचर । एवं सिद्ध्यसिद्ध्योर्जयपराजयलक्षणयोः समो भूत्वा प्रसादावसादशून्यो भूत्वा कर्माणि कुरु । यतो जयपराजययोः प्रसादावसादराहित्यरूपं समत्वमेव योगः कर्मयोग उच्यते । सिद्ध्यसिद्ध्योरसमत्वेपि कर्मयोगत्वमक्षतमेव । तथापि तत्र समत्वमेव पूर्णतया कर्मयोग इति भावः ॥४८॥

सिद्ध्यसिद्ध्योः समबुद्ध्या कर्मयोगः सेवनीय इत्युक्तम् । अन्यच्च दूष्यते—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

हे धनञ्जय, बुद्धियोगात् समबुद्धियोगात् समबुद्ध्यानुष्ठितात्कर्मयोगादितिभावः । देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेत्यादिवत्समबुद्धियोगादित्यत्र समस्याप्रयोगः । समबुद्धियोग इति निष्कामकर्मणः परोपकाररूपस्य नामधेयं वा । एवं च समबुद्ध्यानुष्ठितात्कर्मयोगात् कर्मान्यत्कर्म फलाभिसंहितं, हि निश्चयेन, दूरेणावरमत्यन्तं निकृष्टम् । समबुद्ध्यानुष्ठितकर्मयोगापेक्षया फलानुसन्धानपूर्वकं कृतं कर्मातीव निकृष्टम् । ततस्त्वं बुद्धौ समबुद्धौ सिद्ध्यसिद्ध्योः समबुद्धावित्यर्थः । शरणमाश्रयमन्विच्छ स्वीकुरु । ये च फलहेतवो नः फलं स्यादितीच्छावन्तस्ते कृपणा दीना अधमा वेत्यर्थः । उपस्थितं कर्म त्वया परोपकारबुद्ध्यैव कर्तव्यं न तु स्वोपकारबुद्ध्या । ये : फलं स्यादिति फलस्य हेतवो भवन्ति त एवाधमाः । परोपकारकर्मणि समत्वस्याभावात्फलहेतुताया अपि अभावात्त्वयि नाधमत्वं स्थास्यतीति भगवत्तात्पर्यम् । ननु बुद्धियोगादित्यस्य ज्ञानयोगादित्यर्थः कथं न ग्राह्यः ? अनुपस्थितत्वात् । कर्मयोगविषयिणी बुद्धिरेवात्रोपक्रान्ता । नेहाभिक्रमनाशोस्ति' 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः' इतिश्लोकाभ्यां सैव प्रतिष्ठापिता । 'यामिमा'मित्यत आरभ्य 'यावानर्थ उदपान' इति पञ्चश्लोकपर्यन्तं वैदिककर्मकलापनिन्दापि कर्मयोगप्रतिष्ठापनार्थैव । 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यनेन ज्ञाननिष्ठाया अधिकारित्वमर्जुने नेत्युक्त्वा 'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्य-

क्त्वे'ति प्रतिबोध्य दूरेण ह्यवरं कर्मेत्युक्तम् । अत्र ज्ञानयोगस्य प्रसङ्ग एव नास्ति अग्रेपि कर्मयोगमेव प्रशंसति । अतो बुद्धियोगादित्यस्य समबुद्धि-योगादित्येवार्थः समीचीनतामञ्चति ॥ ४९ ॥

समत्वबुद्धियुक्तस्य कर्मानुतिष्ठतः फलमाह--

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धियुक्तः समत्वबुद्धियुक्तः परोपकृतये कर्म कुर्वन्नुभे सुकृतदुष्कृते जहातीह परित्यजति । सुकृतदुष्कृते तस्य न भवत इति नोक्तम् । सुकृतं तु परश्रेयः सम्पादयतस्तस्य भवत्येव । दुष्कृतस्यापि तत्रावकाशस्तु विद्यत एव । परन्तु ते उभे स स्वयं परिजहाति । न सुकृतेन प्रयोजनं न वा दुष्कृतेन । परोपकारायैव स प्रवृत्तः । दुःखिनः श्रेयः स्यादित्येव तस्य समीहितम् । मम सुकृतं स्याद्दुष्कृतं वा स्यादिति न स्त एव मनीषिते । तस्माद्योगाय बुद्धियोगाय समत्वबुद्धियोगाय फलाभिसन्धिरहितकर्मयोगाय युज्यस्वोद्युक्तो भव । योगः समत्वबुद्धियोगः पूर्वोक्तः कर्मसु कौशलं कुशलभावमादधाति । समत्वबुद्ध्या युक्ता एव कुशलतया कर्माचरन्तीतिभाव ॥ ५० ॥

बुद्धियोगस्यापरं माहात्म्यमाह—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

बुद्धियुक्ताः समत्वबुद्धियुक्ता मनीषिणो मननशीलाः कर्मजं कर्मभ्यो जायते यत्तत्फलं त्यक्त्वा फलनिरपेक्षो भूत्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ता जन्मैव बन्धः । तस्माद्विनिर्मुक्ताः सन्तः, हि अवश्यम् । अनामयं नामयो यस्मिंस्तत्पदं स्थितिं गच्छन्ति । ननु कर्मजं फलमित्युक्तम् । कीदृशं च तत्कर्म ? उच्यते । वेदोक्तः कर्मप्रवाहस्तु नाभिमतो भगवतः । अत एव

यामिमामित्यादिभिः पञ्चभिः श्लोकैः स नितरां भर्त्सितः। 'यावानर्थ उदपान' इत्यनेन कथञ्चिदुज्जीवितो भगवान् वेदः परं भगवता न कुत्राप्युक्तं वेदेभ्यः किं ग्राह्यमिति। लौकिकानां पठनपाठनधनार्जनादीनां कर्मणां फलत्यागस्त्वशक्य एव। प्रस्तुतं कर्म युद्धमिति। युद्धे प्रोत्साहनार्थमेव भगवत उद्योगः। गीतोपदेशेन नार्जुनो भक्तः कारितो न वा ज्ञानी सम्पादितो न वा समाधियोगी। केवलं भगवांस्तं युद्धं कारयाञ्चकार। तत्कर्मैवात्र प्रस्तुतम्। तच्च कर्म स्वार्थसम्पृक्तमपि परोपकारायेति भगवन्मतम्। तदुद्दिश्यैवायमपि श्लोकः प्रस्थितः। तेन परोपकाररूपं कर्मैव ग्राह्यम्। तस्यैव फलं परित्यक्तु शक्यम्। तस्यैव कर्मणः प्रभावाज्जन्मबन्धाद्विनिर्मुक्तिः संभवति। ननु 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादिषु ज्ञानान्मुक्तिरुक्ता कथं तर्हि कर्मणोऽपि मुक्तिरिति? उच्यते। यदि ज्ञानाद्भवति मुक्तिः कर्मणः कुतो न? वेदैरुक्तं ततो ज्ञानान्मुक्तिरिति चेत्, इहापि श्रीकृष्णेनोक्तं ततः कर्मणो मुक्तिरिति। वस्तुतस्तु मुक्तिसाधनमन्तःकरणपरिशुद्धिरिति। कीदृशेन ज्ञानेन कीदृशी परिशुद्धिर्जायत इत्यनिश्चितम्। परं परोपकारेण मनसः सर्वाङ्गीणा शुद्धिः संजायत इत्यत्र नास्ति विवादावसरः। अतः सुष्ठूक्तं बुद्धियुक्ताः फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः सन्तो मुक्ता भवन्तीति। प्राधान्येन जन्मैव बन्धः। मरणं त्वानुषङ्गिको बन्धः। जन्माधीनं हि मरणम्। मरणाधीनं जन्मेति न सत्यम्। जन्मना मरणं व्याप्तं न तु मरणेन जन्मेति। ततो जन्मन एव मुख्यबन्धत्वम्। ननूपकारेण जन्मबन्धविनिर्मुक्तिः कथं? अपरस्य शुभस्य जन्मनः सम्भवः कुतो न? अतिप्रश्नं पृच्छसि। मस्तकं ते द्विधा भविष्यति। भवतु तथा, तथापि पृच्छ्यत एव। भवतु दीयत उत्तरम्। मरणानन्तरं जन्मैव न भवति स एव जन्माभावः सर्वैर्मुक्तिपदेन व्यज्यते। सा च मुक्तिर्ज्ञानेनेति केचित्, भक्त्येति केचित्। समत्वबुद्ध्या फलानभिसन्धिना कृतेन कर्मणापीति भगवान् कृष्णः। जन्मबन्धविनिर्मुक्तिरेव मुक्तिः। सा च

स्वभावसिद्धापि येन केनचित्साधनेन साध्यत्वेन सर्वैरुपवर्णिता । नास्ति किञ्चित्तादृशं पदं यत्र मुक्तानां निवास इति । सर्वथा मरणोत्तरं तेषां विनाश एव मुक्तिपदवाच्यः । तं विनाशमेव केचित्स्वरूपप्राप्तिं कथयन्ति । केचित्सायुज्यमभिलषन्ति । केचिदन्यथापि वदन्ति ॥५१॥

अर्जुनाय स्त्रीयं हार्दमुपदिशति भगवान्—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

अर्जुन, यदा ते तव मोहकलिलं मोहकालुष्यं बुद्धिस्तवैव व्यतितरिष्यति तीर्णा भविष्यति तदा त्वं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च निर्वेदं वैराग्यं गन्तासि गमिष्यसि। श्रुताच्छ्रोतव्याच्च निर्विण्णो भविष्यसीतिभावः । प्रथमाध्यायेऽर्जुनवचनं 'नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुमे'ति । तेनार्जुनो बहुश्रुत आसीदिति प्रतीयते । तदेवोद्दिश्य भगवतोक्तं तावदेव तव श्रुतं श्रोतव्यं वा तव व्यामोहाय प्रभवति यावन्मोहकालुष्यपुञ्जं तव बुद्धाववतिष्ठते । मोहोऽज्ञानम् । तदेव कालुष्यम् । यदा तन्मोहकालुष्यं त्वद्बुद्धेरपगत भविष्यति तदा त्वयावगतं भविष्यति किमपि श्रोतव्यं नास्ति श्रुतं च सर्वं व्यामोहायैवेति । श्रुतं सर्वं न भवति सार्थं न वा सत्यम् । यत्त्वया श्रुतमेते न हन्तव्या एते च पूज्या इति तत्सर्वमविचारितरमणीयम् । यदा त्वं श्रुतविषय एतत्तत्त्वज्ञानवान् भविष्यसि तदा श्रोतव्यविषये तव लोभो नितरां समाप्तो भविष्यतीति ॥५२॥—

तद्बुद्धियोगप्राप्तिकालमाचष्टे—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्जुन, यदा श्रुतिविप्रतिपन्ना श्रुतिभिर्जनश्रुतिभिश्चविप्रतिपन्ना विप्रति-

पत्तिं गता, इदं सत्यमदो वासत्यमिति भ्रमप्रतारिता विक्षिप्ता वा ते तव बुद्धिर्निश्चला चाञ्चल्यरहिता विक्षेपरहिता वा सती समाधौ ध्याने अचला निष्कम्पा स्थास्यति तदा योग समबुद्धियोगमवाप्स्यसि । समाधिरत्र ध्यानम् । न तु मनः । 'समाधिर्ध्याननीवाकनियमेषु समर्थने' । इति विश्वः । 'समाधिर्ना समर्थने । ध्याने' इति मेदिनी । समत्वबुद्धिपूर्वकसम्पादितकर्मयोगस्य महात्म्यं तदैव त्वयावगतं भविष्यति यदा ते बुद्धिर्विचारे तत्त्वचिन्तने च स्थिरा भविष्यतीतिविशदार्थः ॥ ५३ ॥

निश्चला बुद्धिरिति पूर्वस्मिञ्छ्लोक उक्तम् । यस्य निश्चला बुद्धिर्भवति स निश्चलबुद्धिरित्युच्यते । इतः परं निश्चलबुद्धिशब्दस्थाने स्थितप्रज्ञशब्दं प्रयुज्य निश्चलबुद्धेर्लक्षणादिक वेदयितुमाह—

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

हे केशव, समाधिस्थस्य ध्याननिमग्नस्य स्थितप्रज्ञस्य निश्चलबुद्धेः का भाषा परिभाषा किं लक्षणमिति यावत् । स्थितधीः स्थितप्रज्ञो निश्चलबुद्धिः किं कथं प्रभाषेत । किमासीत कथमासीत किं कथं व्रजेत् ? तस्य किंलक्षणम् ? भाषणासनव्रजनादिकं निश्चलबुद्धेस्तस्य कथ सम्पद्यते ? अत्र लक्षणप्रश्नातिरिक्ताः सर्वे प्रश्ना निरर्थकाः । यदि स्यात्कश्चनार्थस्तर्ह्ययावध्यज्ञात- एव स तिष्ठति । भगवतापि नैतेषां प्रश्नानां स्पर्शः कृतः । अतो भाषणासनव्रजनक्रियाप्रश्नद्वारा तस्य सर्व एव व्यवहाराः पृष्टा भवन्तीति मन्यामहे । समाधिशब्दस्य योगशास्त्रपरिभाषितः समाधिर्न ग्राह्यः । अनुपस्थितत्वान्निरर्थकत्वाच्च प्रस्तुतप्रसङ्गे ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

पार्थ, यदा कश्चिन्मनोगतान्मनोधर्मत्वेन प्रख्यातान्स्वमनस्येव वा स्थितान् सर्वान्निखिलान् कामानिच्छासमूहान् प्रजहाति सर्वथा परित्यजति, आत्मनि स्वस्मिन्नात्मना स्वेनैव तुष्टः सतुष्टो भवति तदा स स्थितप्रज्ञः स्थिता निश्चला प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य तथोच्यते । नन्वात्मन्यात्मना तुष्ट इत्यनेन किमुक्तं भवति ? इदमुक्तं भवति । परोपकारपरायणस्य स्थितप्रज्ञस्य स्वमनस्तोषाय न किञ्चिद्बाह्यं वस्त्वपेक्ष्यते किन्तु आत्मनि—मनस्यात्मनैव स्वयमेव स्वपवित्रकार्यकलापसिद्धया सन्तोषमापादयति । अत्र सप्तम्यन्तमात्मपदं मनोवाचकम् । तृतीयान्त च स्वयमर्थकम् । नात्रात्मपरमात्मनोः संवादः । न हि परमात्मसाहाय्येनैव स्थितप्रज्ञता सिध्यति । स्वस्वव्यापारे स्थितानामपि सा सिध्यत्येव । निश्चलबुद्धेः स्वरूपज्ञानाय प्रयतमानस्यार्जुनस्य नात्मज्ञानं कामितं न वा परमात्मज्ञानं न वेश्वरभक्तितत्त्वम् । युद्धं कर्तव्यं न वेतिप्रश्नोत्तरावसर आत्मपरमात्मविज्ञानस्य भक्तितत्त्वस्य वर्णनं केवलमसमयज्ञतां सूचयति । सम्प्रदायवादिनः स्वमतप्रवर्तनलोलुपाश्च भगवद्धृदयमजानानाः स्वस्वमतं गीतातः साधयितुमेव प्रवृत्ता न तु वस्तुतत्त्वम् ॥ ५५ ॥

किं च—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

यो हि दुःखेष्वापतितेष्वनिष्टेष्वनुद्विग्नमना उद्विग्नमना न भवति, सुखेष्वनागतेष्वागतेषु वा विगतस्पृहो विगता स्पृहा लौल्यं यस्य तथा

भूतः, वीतरागभयक्रोधो वीतो विशेषेण गतो रागो विषयासक्तिर्भयं किं भविष्यति प्रारप्स्यमाणे कर्मणि सिद्धिर्वासिद्धिर्वा ? असिद्धिश्चेत्कीदृशः परिणामः सेत्स्यति शत्रवो मयि कथं वर्तिष्यन्त इत्यादिरूपं हृदयकम्पकं भावजातं क्रोधश्च स्वार्थहानेरुपजातो वैरशोधनवृत्तिविशेषो यस्य तथाभूतो मुनिर्मननशीलो विचारशीलः स्थितधीः स्थितप्रज्ञ उच्यते। मुनिरत्र मननशील एव न तु संन्यासी न वा भक्तः। सुखःदुखे अविगणय्य विजये रागं पराजयभयं वैरशोधनवृत्तिं च परित्यज्य यः प्रस्तुतकार्यमननशीलो भवति स एव स्थितप्रज्ञ इत्याशयो भगवतः ॥५६॥

किं च—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

यश्च सर्वत्र पितृपितामहभ्रातृपुत्रश्वशुरश्यालादिषु स्वजीवितेप्यनभिस्नेहोभिस्नेहविरहितः, तत्तच्छुभाशुभमिष्टमनिष्टं वा प्राप्य नाभिनन्दति हृष्यति न वा द्वेष्टि न करोति द्वेषमनिष्टं प्रति, तस्य प्रज्ञा बुद्धिः प्रतिष्ठिता निश्चला भवति। सम्बन्धिषु बन्धनकारकं प्रवृत्तिनिरोधकं च निबद्धं स्नेहं परित्यज्य जय एव शुभोशुभश्च पराजय इति भावं निहत्य समबुद्धिरेव स्थितप्रज्ञ इति भावः ॥५७॥

किं च—

यदा संहरते चायं कूर्मोङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

यदा चायं कोपि सर्वेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वाणीन्द्रियाणि संहरते उपरमयति, कूर्मोङ्गानीव यथा कूर्मः कच्छपः स्वाङ्गानि बाह्यप्रदेशे प्रसृतानि संहरत्यपकर्षति पृष्ठान्तरे सङ्कोचयति। तदा तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता वेदितव्या।

तदेव स स्थितप्रज्ञ उच्यते । नन्विन्द्रियाणामिन्द्रियार्थेभ्यः संहरणं संभवत्येव न । तथा सति दर्शनश्रवणादीनां सर्वथैव निरोधः स्यात् । एवं चेन्द्रियसृष्टिरेव विफला भवेदिति । उच्यते । इन्द्रियाणामिन्द्रियार्थेभ्य उपसंहरणं नाम विषयासक्त्या तत्प्रवृत्तिवर्जनम् । किमपि रूपं दृष्ट्वा विह्वलतां यदि याति तादृश दर्शनमधः पतनकारि वर्ज्यम् । शब्दं श्रुत्वा यदि मनोनैरोग्यं नश्यति तादृशं श्रवणं निरोध्यम् । पवित्रदर्शनं पवित्रवचनश्रवणं तु कर्तव्यमेव । अत ये इन्द्रियार्था इन्द्रियाणि समाकृष्य गर्ते पातयन्ति तेभ्यस्तेषां वर्जनं कर्तव्यमितिभगवदाशयः ॥५८॥

विषयविनिवृत्तेरुपायमाह--

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

निराहारस्य विषयसेवनविरक्तस्य देहिनः पुरुषस्य विषया विनिवर्तन्ते । यो हि विषयं लौकिकं दुश्चेष्टं विषमिव परित्यजति तस्येन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्योवश्यं विनिवृत्तानि भवन्ति । परन्तु रसवर्जम् । विषयाणां रसोनुभवस्तु न विस्मृतो भवति । तर्हि विषयानन्दस्मृतिः पुनरपि विषयप्रवणं देहिनं करिष्यतीति चेन्न । उपायः कर्तव्यस्तस्या अपि निरोधस्य । उपायमाह-- परं दृष्ट्वा निवर्ततेस्य रसोपि । परमिति सापेक्षः शब्दः । कस्मादपि भिन्नं परमित्युच्यते । परदर्शनं कर्तव्यम् । किमिति परदर्शनम् ? विषयाणामुपभोगकालेपि स्वस्य यद्ध्येयं तदेव परमिति । तदनिस्मरणमेव परदर्शनम् । परमितीह न ब्रह्म । नायं ब्रह्मोपदेशकालः । नासीदेव योग्यतार्जुने ब्रह्मदर्शनस्य । अर्जुनस्य मनसि सम्बन्धिविषयकः स्नेहो जागर्ति स्म । तस्याक्षिणी सम्बन्धिनां दर्शनं काङ्क्षतः स्म । श्रोत्रयुग्मं प्रियजनशब्दाञ् शुश्रूषते स्म । अत इन्द्रियाणां विषयेभ्यो निवृत्तिरर्जुनेनावश्यं कर्तव्यासीत् । सर्वथैव विषयविनिवृत्तिरिष्टासीत् । अन्यथा बाधितानुवृत्त्या पुनर्विषयकूपपतनं स्यात् । स्वध्येयाविस्मरणं सर्वानिवानिष्टान् विषयानपनयत्येव । एवं च

युद्धप्रवृत्तिकालेर्जुनस्य व्यामोहनिवृत्तये युद्धप्रवृत्तये च प्रयत्नः कर्तव्य इत्येव योग्यम् । ब्रह्मवादेन तु युद्धं दूरं प्रायात् । आम, यदि मन्येत नासीदर्जुनः, नासीत्कृष्णः, नासन्दुर्योधनादयः, न काचिद्द्रौपदी, न द्यूतम्, न द्रौपदीवस्त्राहरण न महाभारतयुद्धं, सर्वं कल्पितमेव । आख्यायिकाभिर्ब्रह्मवादप्रचारेण जागतिकानां विषयनिवृत्त्युपदेशेन किंचित्परं धाम नयनमेव गीताया उद्देश्यमिति च मन्यते तदा नो नो विवादः ॥५९॥

इन्द्रियबलं वर्णयति—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कौन्तेय, तव मनः स्वसम्बन्धिषु लीनमिति नाश्चर्यम् । यतो यततो यतमानस्यापीन्द्रियाणां निरोधे, विपश्चितो विबुधस्यापि पुरुषस्य मनः प्रसभं हठादेवेन्द्रियाणि हरन्ति, यतस्तानि प्रमाथीनि पुरुषं प्रमथ्नन्ति तच्छीलानि भवन्ति । इन्द्रियाणि दुर्निग्रहाणीति यावत् ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

तानि सर्वाण्येवेन्द्रियाणि संयम्य नियम्य वशीकृत्य युक्तः समाहितचित्तः सन् मत्परोहमेव परः प्रधानं नेन्द्रियाणीति विश्वसन्नासीत कार्यमवेक्षेतेत्यर्थः । यावन्नेन्द्रियाणि संयतानि तावन्न युक्तता । यावन्न युक्तता तावन्न मत्परता । मत्परतेत्यस्य न मत्तः प्रबलानीन्द्रियाणि इति विश्वास इत्यर्थः । यस्येन्द्रियाणि हि नियतं वशे तिष्ठन्ति तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता स स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः ॥६१॥

विषया अनर्थपरम्परां सृजन्तीत्याह—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते ॥६२॥

विषयानिन्द्रियविषयान्ध्यायतश्चिन्तयतः पुंसः पुरुषस्य तेषु विषयेषु सङ्ग आसक्तिरुपजायते । सङ्गाद्धेतोः कामः सञ्जायते । काम ईप्सा । आसक्तेरनन्तरं तत्तद्विषयस्य प्रेप्सा जायते । न हि सर्वस्य सर्वे कामाः सम्पन्ना भवन्ति । बहुभिर्विघ्नैश्छिन्नशरीरा अपि भवन्ति । तथा सति क्रोधो मनउद्वेजनकारणविशेषो जायते । भावप्रकाशने क्रोधस्त्रिधेत्युक्तम् । तथा हि—

क्रोधस्त्रिधा भवेत्क्रोधकोपरोषविभागतः ।
शत्रुमित्रप्रियाभृत्यपूज्यादिष्वेव पञ्चधा ॥
कुटिलां भृकुटिं धत्ते जिह्वया लेढि सृक्किणी ।
मुहुर्मुहुर्दशत्योष्ठं दन्तान्कटकटापयन् ॥
शस्त्राण्युद्वीक्षते रूक्षं हस्तश्चोद्वीक्षते भुजौ ।
न तिष्ठति न चैवास्ते विधत्ते कण्ठगर्जितम् ॥
एवं हि वर्तते प्रायो जातक्रोधस्तु शत्रुषु ।
व्रीडावनम्रवदनः स्खलद्बाष्पः श्वसन्मुहुः ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोधाच्च संमोहो भवति । कार्याकार्याविवेकः संमोहः । संमोहाच्च स्मृतिविभ्रमः स्मृतिभ्रंशो भवति । विभ्रमशब्दः भ्रंशार्थोभिप्रेतः स्मृतिभ्रंशादिति प्रयोगात् । आचार्य्याणां महापुरुषाणां चोपदेशस्तदा न भवति स्मृतस्तत-श्चाकर्तव्यमपि करोत्यवक्तव्यमपि ब्रूते । स्मृतिभ्रंशाच्च बुद्धिनाशो भवति । बुद्धिनाशाच्च प्रणश्यति न किञ्चित्कार्योपयोगार्हो भवति । अनुपयुक्ततैव नाशः । ननु स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाश इति कथमुक्तम् । सत्यमुक्तम् । बुद्धिर्विचारशक्तिः । यदि स्मृतिरवतिष्ठेत स्मृतोर्थोवबुद्धो भवेत् । आचार्य्यैरुपदिष्टं क्रोधो न कर्तव्य इति । यद्ययमुपदेशः स्मृतः स्यादसौ क्रोधान्निवर्तेत खलु । तत्स्मरणाद्बुद्धिः प्रवर्तेत विचारे । यदि न स्यात्स्मृतो बुद्धिर्नोद्बुध्येत । तदनुद्बोध एव तन्नाशः । नष्टायां च बुद्धौ निर्बुद्धिः प्रणष्ट एवेतिमन्त-

व्यम् । उक्तो नाशार्थः ॥ ६३ ॥

विषयाध्यानस्य परम्परया विषयध्यातुर्नाश एव फलमित्युक्तम् । इदानीं तत्र विशेष उच्यते—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

विधेयो वश्यमात्मा मनो यस्यैवंभूतः पुरुषः आत्मवश्यैः स्ववशंगतै रागद्वेषविमुक्तैरिन्द्रियैर्विषयांश्चरन्सेवमानो न विनष्टो भवति प्रत्युत प्रसादं मनःप्रसत्तिमधिगच्छति प्राप्नोति । अयं भावः । इदमवश्यं सेव्यमिति रागप्रकाशनम् । इदमवश्यं वर्ज्यमिति द्वेषप्रकाशनम् । आभ्यां विमुक्तैरिन्द्रियैर्यदि विषयाणां सेवनं स्यान्न स्यात्तद्बन्धाय । परमिन्द्रियैरात्मवश्यैर्भाव्यम् । न द्रष्टव्यमितिसङ्कल्पेन सहैव दर्शनविरामेण भाव्यम् । न श्रोतव्यमितिसङ्कल्पेन सहैव श्रवणविरामेण भाव्यम् । इयमेवेन्द्रियाणामात्मवश्यता । एव च विषया नानर्थपरम्परां प्रसुवते तेषां दुरुपयोगेनानर्थपरपरा लब्धजन्मा भवति । मनोपि विधेयमपेक्षितम् । इन्द्रियाणां वश्यता सिध्येन्न च सिध्येन्मनोवश्यता तदानर्थपरिवारो नोपरमेत् । प्रसादस्तु प्रसन्नता । इन्द्रियसंयमनपूर्वकं विषयसेवनेन मनःप्रसादः सिध्यतीत्युक्तम् ॥ ६४ ॥

प्रसादफलमुच्यते—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

प्रसादे मनःप्रसत्तौ जातायामस्य सर्वदुःखानामाध्यात्मिकानामाधिदैविकानामाधिभौतिकानामुपस्थितानामनुपस्थितानां कल्पितानां च हानिर्नाश उपजायते उत्पद्यते । तदा स प्रसन्नचेता भवति । प्रसन्नचेतसस्तस्य बुद्धिराशु शीघ्रमेव पर्यवतिष्ठते परितोवस्थिता भवति । तदा स स्थितप्रज्ञ इत्युच्यते ॥ ६५ ॥

बुद्धेः पर्यवस्थानं कामितम् । बुद्धेरभावे दुःखपरम्परामाह—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अयुक्तस्यासमाहितमनस्कस्यासंयमिनो बुद्धिरेव नास्ति कुतस्तस्याः पर्यवस्थानम् ? तस्य भावना मोक्षप्रापकपरहितसम्पादनौत्सुक्यमपि नास्ति । अभावयतो भावनाशून्यस्य शान्तिर्नास्ति । अशान्तस्य सुखं कुतः ? इदमत्राकूतम् । यस्य मनः समाहितं न तिष्ठति तस्य बुद्धिश्चञ्चला भवति । अत एव तस्यां भावनोदयोपि न भवति । शान्तबुद्धिरेव परहितमुपचिनोति चिन्तयति चेति भावः । स्वार्थलिप्सा न भवति शान्तये । एकस्मिन्नर्थे सिद्धेपर उपस्थित एव तिष्ठति । तत्सिद्धावन्यस्योपस्थितिः । एवं च तृष्णा सदैव वर्द्धमानैव तिष्ठति । कुतः स्यादुपशमः ? यत्र शान्तिर्नास्ति तत्र सुखात्यन्ताभावः सर्वैरेवानुभूयते । एवं च बुद्धिसम्पादनार्थं सर्वैर्युक्तता समाहितचेतस्कता सम्पाद्यैव । बुद्धिश्चात्र न बुद्धिसामान्यम् । तस्य सर्वेष्ववस्थानात्तदभावो न साधयितुं शक्यः । अतोत्र समत्वबुद्धिः परहितसम्पादनपरेति ग्राह्यम् ॥६६॥

कुतो न भवति तादृशी बुद्धिरयुक्तस्येत्याह—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

इन्द्रियाणां चरतां विषयेषु स्वेच्छं विहरतां यन्मनोनुविधीयते तेषामानुकूल्येन विचरितुं स्वातन्त्र्यं दीयते यस्मै तन्मनोस्य, यथा वायुरम्भसि जले नावं यत्रकुत्रापि स्वेच्छया नयति तथैवास्य प्रज्ञां बुद्धिं तथ्यातथ्यविचाररहितां हरति यत्रकुत्रापि नयति । इदमत्र विचार्यते । मन इन्द्रियाणामनुगामीन्द्रियाणि वा मनसोनुगामीनीति । ज्ञानसाधनं केवलं मनः । मनःसंयोगेनैवेन्द्रियकं ज्ञानं जायत इति सर्वप्रत्यक्षम् । अत एव 'इन्द्रियाणि हयानाहुर्मनः प्रग्रह एव चे'त्युपनिषदुपदेशः । इन्द्रियाणां नियन्तृ प्रेरकं वा

मन एव । अत इन्द्रियाणामनुगं मनो न, मनस एवानुगानीन्द्रियाणीति । तर्हि कथं भगवानेवमुक्तवान् ? सत्यमुक्तं सत्यसङ्कल्पेन भगवता । कथं सत्यम् ? इत्थम् । स्वेच्छं विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां व्यवहरणं मनो यदनुविधीयतेनुविदधाति पुष्णाति अनुमोदतेयं तदनुमोदनमेवास्य पुरुषस्य प्रज्ञां हरति । अनुविधीयत इति भागवतः प्रयोगः । अथवा चरतामिन्द्रियाणां व्यवहरणमनु व्यवहारेण सह । 'तृतीयार्थे' इति पाणिनिसूत्रेणानोः कर्मप्रवचनीयत्वात 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीये' ति द्वितीया । यन्मनो विधीयते गन्तुमनुमोद्यते तन्मन इन्द्रियसहकृतम् । प्रज्ञां हरतीति । नन्वत्रापि पूर्वोक्तदोषस्तु तदवस्थ एव । इन्द्रियाणां व्यवहारेण सह गन्तुंमनोनुमोद्यते । इन्द्रियाणामेव प्राधान्यम् । न । इन्द्रियाणां प्रवृत्तिस्तु मनोधीनैव । परन्तु मनः पुरुषाधीनम् । यदि पुरुषो मन इन्द्रियैः सह गन्तुं रन्तुं चानुमोदते तर्हि नेन्द्रियापेक्षया मनसो गौणत्वमायाति । यदि पुरुषो मनो निगृह्णाति तदेन्द्रियाण्यपि निगृह्यन्त एव । अत एवेन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मन इति स्वयं भगवतैवोक्तम् ॥६७॥

उपसंहरति—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

तस्मादिन्द्रियाणां यथेच्छं व्यवहरणान्मनसश्च साहाय्यात्प्रज्ञाहरणं भवतीति हेतोः, हे महाबाहो यस्येन्द्रियाणि सर्वश इन्द्रियार्थेभ्यो निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । स स्थितप्रज्ञ इतिभावः ॥६८॥

स्थितप्रज्ञस्य लौकिकजनेभ्यो वैशिष्ट्यमाह—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सर्वभूतानां मनुष्याणां लौकिकानां या निशा भवति तस्यां संयमी स्थितप्रज्ञो जागर्ति । एतदुक्तम् । लौकिकानां मन्दानां स्वार्थ एव प्रवृत्तिर्न परार्थे परोपकारे । परोपकारे लोकाः शेरते । इदमज्ञानमेव तेषां निशा ।

अस्यां निशायां संयमी जागर्ति समाहितस्तिष्ठति, परोपकार एव प्रवृत्तस्तिष्ठति । यस्यां च निशायां भूतानि लौकिका जाग्रति पश्यतो ज्ञानिनो मुनेर्मननशीलस्य सा निशा भवति । एतदुक्तम् । मन्दाः परोपकारे शेरते परोपकारविमुखा भवन्ति स्वार्थे च जाग्रति । ज्ञानिनः स्वार्थाद्विरक्ता भवन्ति । स्वार्थे न प्रवृत्तिरतः स्वार्थसेवनमेव निशा । तस्यां ज्ञानिनः शेरते । न स्वार्थसिद्धये प्रयतन्त इति भावः ॥६९॥

स्थितप्रज्ञस्यैव शान्तिर्नान्येषामित्याह—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

आपूर्यमाणमद्भिर्नित्यमाभ्रियमाणमचलप्रतिष्ठमचला निश्चला प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तं समुद्रं यद्वद्यथा आपो गङ्गादीनां सरितां जलानि प्रविशन्ति तद्वत्सर्वे कामा वासनाः सर्वा एव यं प्रविशन्ति स एव शान्तिमाप्नोति, न कामकामी कामान् कामयमानो न । इदमुक्तं भवति । गङ्गादीनां नदीनां जलानि समुद्रं प्रविश्य न पुनः पृथग्भावाय भवन्ति, न पुनः परावर्तन्ते तद्वदेव यस्य सर्वे कामा यं प्रविश्य तथैव न पुनरावर्तन्ते न पुनरुज्जीविता भवन्ति स एव शान्तिमाप्नोतीति । ननु आपूर्यमाणमितिविशेषणस्य किं सार्थक्यम् ? उच्यते । प्रत्यहं प्रतिक्षणं समुद्रो जलैः सरिदादीनामापूर्यमाण एव तिष्ठति, प्रत्यहं सरितस्तस्मिन्पतन्ति पतित्वा च तस्मिन्विकारं कमप्यनुत्पाद्य तस्मिन्नेव लीना भवन्ति । न तासां पुनः स्वरूपं द्रष्टुमुपलभ्यते । एव सर्वे कामाः प्रविशन्तु नाम कस्मिंश्चित्पुरुषे परं प्रविश्य स्वरूपं मुक्त्वा तत्पुरुषरूपा भवन्ति न विकाराय भवन्ति स एव शान्तिमाप्नोति ॥७०॥

शब्दान्तरेण तमेवार्थं पुनराह—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

यः पुमान् पुरुषः सर्वान् कामानभिलाषान्विषयान्वा विहाय परित्यज्य निर्ममो ममतारहितो निरहङ्कारोहङ्काररहितश्च भूत्वा चरति कर्त्तव्यानि परोपकारादीनि कर्माण्याचरति स शान्तिमधिगच्छति। अयं भावः। न हि कश्चित्सर्वान् कामांस्त्यक्तुं शक्नोति। तथा च कश्चित्स्पृहाहीनोपि न भवितुमर्हति। स्पृहाकामयोरविनाभावसम्बन्धः। परं शरीरनिर्वाहाय केवलं यद्यावच्च काम्यं तत्तावदुपार्जनीयमेव। तावता न भवेच्छान्तिभङ्गः। परमनावश्यकोपि कामो यदि पुरुषं चञ्चलयेत्तदावश्यमशान्तिरेव भवेत्। अतः सर्वान् कामानित्यस्यानपेक्षितान् सर्वान् कामानित्येवार्थो ग्राह्यः। निर्ममत्वं निरहङ्कारत्वं च परोपकारकर्मशोभाया एव ॥७१॥

फलं निरूपयति—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

इति श्रीमहाभारते श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानोपदेशो नाम

द्वितीयोध्यायः

हे पार्थ स्थितप्रज्ञस्य या स्थितिर्मया वर्णिता सैषा ब्राह्मी ब्रह्मसम्बन्धिनी स्थितिः। ब्रह्मविदस्यामेव स्थितौ परमां शान्तिमधिगच्छति। एनां स्थितिं प्राप्य न कश्चिद्विमुह्यति व्यामोहं प्राप्नोति। व्यामोहश्चित्तविक्षेपः। चित्तविक्षेपाभावेनैकान्तनिष्ठया परहितसम्पादननिरतो भवितुमर्हति। अन्तकालेपि मृत्युकालेपि स्थितावस्यामेव स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मरूपतारूपां मुक्तिं परमानन्दावस्थामिति भावः। ऋच्छति प्राप्नोति ॥७२॥

समुत्सार्यैव मनसो भयं निरयकारणम्।
यः सत्यमनुसन्धत्ते स कृतार्थो भवेद्भुवि ॥

इति श्रीमहाभारते श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीमत्परमहंस-परिव्राजक-पण्डितराज-स्वामिश्रीभगवदाचार्यप्रणीते भगवद्भाष्ये

द्वितीयोध्यायः।



अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

द्वितीयाध्याये 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय । बुद्धौ शरणमन्विच्छ' 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते' इत्यादीनि भगवदाननपङ्कजनिःसृतानि वचनानि निशमय्य सरभसं बुद्धिशब्दार्थं विस्मृत्य बुद्धिशब्देन ज्ञानमुपगृह्य कर्मापेक्षया ज्ञानश्रैष्ठ्यं च विनिश्चित्य परानपरानपि समरायक्षोणीं संप्राप्तान्निहत्य निरयावाप्तिमन्तरेण न भविष्यति कश्चन सौभाग्योदय इति मनसा संप्रधार्याहार्जुनः—हे जनार्दन लोकपरिरक्षणक्षम चेद्यदि ते तव मत्प्रपन्ना-श्रयस्य परमविवेकिनः कर्मणः कर्मापेक्षया बुद्धिर्ज्ञानं ज्यायसी समधिकं मतं तत्तर्हि घोरे नरकावापनसमर्थे हिंसाबहुले युद्धरूपे कर्मणि हे केशव मां प्रपन्नं त्वां त्वं किं केन कारणेन नियोजयसि प्रेरयसि? न भगवता कुत्रापि कर्मापेक्षया ज्ञानस्य ज्यायस्त्वमुपन्यस्तम् । बुद्धियोगशब्देन तु सर्वत्र समत्वबुद्धियोग एव ग्राह्यः । स्थितप्रज्ञलक्षणोपक्रमेऽपि न ज्ञानिनमुद्दिश्य किञ्चिदुक्तम् । कर्मयोगिभिः समत्वबुद्धिभिरेवंलक्षणैर्भाव्यमित्येव तस्य प्रसङ्गस्य-हार्दम् ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

त्वं मन्मतिमोहनार्थं वदसि न वेति न जाने तथापि व्यामिश्रेणेव क्वचित्कर्म कुर्विति क्वचिज्ज्ञानमाश्रयेत्युभयविधमिश्रितेन वाक्येन मे मम बुद्धिं

मतिं मोहयसीवेति मां प्रतिभाति। कर्मापि श्रेयो ज्ञानमपि श्रेय इति तत्रोपदेशस्य तत्त्वमहमधिगच्छामि । एवं च त्वं मम बुद्धिं मोहयसि नवेति तु नाहं जाने वस्तुतः, परं मोहयसीव मां प्रतिभाति । तस्मात्प्रार्थये तदेकं मया कर्म कर्तव्यं ज्ञानमार्गो वा ग्रहीतव्य इत्यनयोरेकं निश्चित्य वदोपदिश येन यतोहं श्रेयः कल्याणमाप्नुयामधिगच्छेयम् ॥ २ ॥

भगवानुवाच—

लोकेस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेण योगिनाम् ॥ ३ ॥

कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं मां त्वं व्यामोहकं स्पष्टमेव वदसीत्यवश्यं त्वमनघो निष्कपटोसि । कापटयादिकमघमित्युच्यते । तच्छून्योनघो भवति। तथा च हे अनघ, तव व्यामोहव्युदासाय मया रहस्यमुच्यते तत्सावधानो भूत्वा शृणु । अस्मिँल्लोके द्विविधा निष्ठा स्थितिर्मया पुरा पूर्वं प्रोक्ता । तयोरेका ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेण च योगिनां द्वितीया । अयमाशयोत्र । द्विविधा हि मनुष्या भवन्ति । केचन ज्ञाननिष्ठाः केचन कर्मनिष्ठाश्च । भक्तिनिष्ठा अनयोरेवान्तर्यन्ति । ज्ञानं चात्र न जीवब्रह्मणोरभेदज्ञानं शाङ्कराणां न च तयोः सेव्यसेवकज्ञानं श्रीवैष्णवानाम् । किं तर्हि ज्ञानपदवेद्यम् ? उच्यते । शरीरनिर्वाहसम्पादकं कर्म कुर्वतो रागद्वेषादिदोषराशिविवर्जितं ताटस्थ्येनावस्थानमेव ज्ञानपदवाच्यम् । एवं च ज्ञाननिष्ठा इत्यस्य तटस्था इत्यर्थः । कर्मनिष्ठा इत्यस्य परोपकारसम्पादकं कर्म कुर्वाणा इत्यर्थः । ज्ञानयोग इत्यस्य ज्ञानमेव योग इति विग्रहः । कर्मयोग इत्यस्य कर्मैव योग इति विग्रहः । ज्ञानयोगेन सांख्यानामित्यनेन न संन्यासिनां ग्रहणम् । कृष्णसमये संन्यासस्य प्रचुरप्रचाराभावात् । जगद्धर्मतस्ताटस्थ्यमवलम्बमानो यः कोपि ज्ञानयोगी, कर्म कुर्वाणो कर्मयोगी मतोत्र । किञ्चिदन्यत् । द्विविधा निष्ठा मया प्रोक्तेत्यनेन निष्ठाद्वैविध्यं श्रीकृष्णेन विहितं प्रतिष्ठापितं वेति न मन्तव्यम् । पूर्वतः प्रचरितमेवानूदितमित्येव तात्पर्यम् ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

द्विविधा निष्ठा कर्मनिष्ठा ज्ञाननिष्ठेति च गतम् । नैष्कर्म्यं कर्मसंन्यासश्च बन्धप्रहाणाय संमतौ पन्थानौ । निर्गतं कर्म यस्मात्तन्निष्कर्म ब्रह्म । तस्य भावो नैष्कर्म्यं ब्रह्मत्वमिति यावत् । सिद्धिशब्देनापि तत्त्वमेवोच्यते । जीवाः कर्मारभ्य तत्त्यागपूर्वकमपि निष्कर्माणो भवन्ति । कर्मानारम्भादपि निष्कर्माण एव ते । फलं नेष्यते तदा कृतमपि कर्माकृतमेव भवतीति कर्मकृतोप्यकर्माण एवेत्यभिप्रायः । तर्हि वास्तविकं नैष्कर्म्यं किं परं पूर्वं वा ? स्वीकृत्य परं पूर्वं दूषयति । कर्मणामनारम्भादसेवनादनाचरणान्नैष्कर्म्यं ब्रह्मत्वं पुरुषो जीवो नाश्नुते न प्राप्नोति । किञ्चित्कर्तव्यम् । किञ्चिदर्जितव्यम् । अर्जितं ज्ञानपूर्वकं त्यक्तव्यम् । पुनरर्जनेहा न कर्तव्या । तदा नैष्कर्म्यसिद्धिर्भवति । ननु कीदृशानि कर्माणि त्यक्तव्यानि ? न यागादीनि । तानि तु कर्तव्यत्वेन न श्रीकृष्णाभिमतानि । यामिमां पुष्पितां वाचमित्यादिना तेषां भगवता तेन निन्दितत्वात् । ननु यागो भगवता कर्तव्यत्वेन स्वीकृत एवेति तन्न । 'यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' (भ० गी० १८।५) इति वचनं तु न वैदिकयागपरः । स्ववचोविरोधात् । यज्ञशब्देन सर्वत्र कृष्णस्य परोपकाररूपं कर्मैवाभिप्रेतम् । अत एव यज्ञार्थात्कर्मणोन्यत्र (गी० ३।९) इत्यत्र यज्ञार्थशब्दः प्रायुज्यत । सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वेत्यत्र च प्रजाशब्द एव प्रयुज्यत । यज्ञशब्देन वैदिकयागस्य ग्रहणेऽर्थशब्दो निरर्थक एव । सहयज्ञाः प्रजा इत्यत्र प्रजाशब्दोपि निरर्थक एव । वैदिकयज्ञे त्रैवर्णिकानामेवाधिकारो न सर्वासां प्रजानाम् । यज्ञायाचरतः कर्म (४।२३) इत्यत्र यज्ञायेति व्यर्थमेव । यज्ञः स्वयमेव कर्म । तदर्थं कर्मवचनं निष्प्रयोजनमेव । अत एव चतुर्थाध्याये बहुविधानां यज्ञानां स्वरूपं न्यरूपि भगवता । एवं चावशिष्यन्ते लौकिकान्येव कर्माणि । तर्हि केषां कर्मणां परित्यागेन नैष्कर्म्यं सिध्यतीति प्रश्नः । उत्तरं यागादीनि कर्माणि न नैष्कर्म्यसाधकत्वेनाभिमतानीति गतम् । लौकिकान्यपि कर्माणि

कृषिवाणिज्यादीनि, अध्ययनाध्यापनादीनि च न नैष्कर्म्यसाधकानि । दया-वात्सल्यक्षमादीनां परमगुणानां यैः कर्मभिः प्राकट्यं स्यात्तान्येव नैष्कर्म्या-याभिमतानि । तत्कृत आपतितानि दुःखानि, सजातं वैक्लवम्, कथंचिदुत्पन्ना ग्लानिरारुच्यमेतानि सर्वाणि विषह्यैवानुष्ठेयमनुष्ठातव्यम् । अवसरे सति शान्तिलाभार्थं तेभ्यः पृथग्भूय ब्रह्मचिन्तन आत्मचिन्तने वा परार्थ-चिन्तने वा जगद्विरतौ वा स्थेयमिति नैष्कर्म्यावस्थितिः । एवं कर्मणां संन्यसनादपि सिद्धिं न समधिगच्छति पुरुषः । ननु कर्मानारम्भकर्मसंन्यासयोः को भेदः ? महान् भेदः । कर्माननुष्ठानं कर्मानाचरणं कर्मणामनारम्भो भवति । तदनुष्ठानपूर्वकं ज्ञानात्तत उपरम्य तत्त्यागः कर्मसंन्यासो भवति । बाढम् । तर्हि कर्मणामनारम्भादपि न नैष्कर्म्यसिद्धिः कर्मणां संन्यासादपि न तत्सिद्धिस्तर्हि तत्सिद्धेर्मार्ग एवापलपितो भवति । न भवन्यपलपितः । असक्तेन सता कर्म कर्तव्यमिति वक्ष्यति भगवान्स्वयमेवेति ॥४॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

कश्चिदपि नरो वा वानरो वा जातु कदाचिदपि क्षणमप्यकर्मकृत् कर्माननुष्ठाता सन्न तिष्ठति । किन्तु प्रकृतिजैः स्वभावजैर्गुणैः कर्तृभिः सर्वोवशोपि प्रसह्यापि कर्म कार्यत एव । हिरेवार्थे । एवं च कर्मणामना-रम्भो न स्वभावो जीवस्य । क्षणमपीतिवचनेन स्वप्नसुषुप्त्योर्वर्जनम् । यद्यपि जीवः स्वापेपि कर्म चिन्तयत्येव तथापि न तत्फलदम् । जाग्रदवस्था-यां चिन्तितस्यैव तत्प्रतिबिम्बमिति न तत्कर्म कृतमिति मन्तव्यम् । अथवा स्वापकालेपि स्वप्नदर्शनमेव कर्म, तत्फलं भवतु मा वा भवतु । एवं च सुषुप्तकालेपि स्वाप एव कर्म । कर्म क्रिया । तद्यायातं न हि कश्चि-त्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदिति । प्रकृतिजैरित्यत्र प्रकृतिशब्देन न सांख्यानां सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था मूला प्रकृतिर्ग्रहीतव्या । निरर्थकत्वात् । ततो जातानां गुणानामपि न कर्तव्यं ग्रहणम् । तेषामपि निरर्थकत्वात् । न हि जीवेषु प्रकृतिजा गुणाः समायान्ति । पूर्वजन्मकृतकर्मानुसारेणैव गुणाः

इति पुनर्जन्मवादिनः । किं च तादृशा गुणास्तु सर्वत्र सर्वेषु सुलभा एव । को नामैतेषु देवेषु मनुष्येष्वसुरेषु वा यस्य न कामो न क्रोधो न भयं लज्जा न निन्दा न स्तुतिर्न रतिर्न विरतिर्न दया न शोको न स्नेहो न न द्वेष इति । एतेषु केचिद्गुणाः सात्त्विकाः केचिद्राजसाः केचित्तामसा उच्यन्ते । एवं च सर्वेष्वेवैते गुणाः सदैव विलसन्ति । अतो नैते प्रकृतिजा गुणा अत्र ग्राह्याः । किन्तु प्रकृतिः स्वभावः । स्वभावश्च रुचिरेव । अथवा प्रकृतिः पूर्वजन्मीयं कर्म । ततो जाता गुणाः प्रकृतिजा गुणा उच्यन्ते । गुणाः फलानि । पूर्वजन्मीयानुष्ठितकर्मजैः फलैः सर्वः प्रसह्यापि कर्म कार्यत इति भावः । एवं च कर्मसंन्यासो न कर्तव्य इत्यायातम् । श्लोके च प्रथमो हिः पूर्वार्धार्थस्य दार्ढ्यं सम्पादयति । द्वितीयश्च हेत्वर्थकः । येषां च मते नास्ति पूर्वजन्म तेषां मतेस्मिन्नेव जन्मनि जननीजनकसुहृदादिसंसर्गजन्या गुणाः प्रकृतिजा इति मन्तव्यम् ॥५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

ननु यदुक्तं क्षणमपि कश्चिदकर्मकृन्न तिष्ठतीति तन्न । बहवो दृश्यन्ते सर्वकर्मविरहिता आजगरीं वृत्तिमाश्रित्य स्थिता इति । तत्राह भगवान्, यः कर्मेन्द्रियाणि हस्तपादादीनि संयम्य तानि स्वव्यापाराद्विरतानीव कृत्वा, इन्द्रियार्थानिन्द्रियविषयान् रूपरसादीन्मनसा स्मरंश्चिन्तयन्नास्ते स मिथ्याचारः पाषण्डीत्युच्यते । इदमुक्तं भवति । सर्वेन्द्रियव्यापारविरत इव यः प्रतीयते वस्तुतो न स तथा भवति । मनसा तेन सर्व एव विषयाः स्मर्यन्त एवास्वाद्यन्त एव । सर्वज्ञो भगवान् कृष्ण एकामपि व्यक्तिं तादृशीं न जानाति या वस्तुतो निर्व्यापारैव स्यात् । अत एव तथा बाह्यतः प्रतीयमानोप्यन्तरिन्द्रियसर्वव्यापारपरिवेष्टितः सन्मिथ्याचार एव सः । न कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदितिवचनमकम्पमेवेति ॥६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

तुः पक्षान्तरे । यः क्षणमप्यकर्मकृत्तिष्ठेत्स दुर्लभ एव । परं हे अर्जुन, इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि मनसा पवित्रेण दृढेन च नियम्य स्वस्वविषयं प्रति धावतामिन्द्रियाणां विवेकेन निरोधं कृत्वा—असक्तोऽप्रतिमोहितः सन् कर्मेन्द्रियैः करचरणादिभिः कर्मयोगं परोपकारनियतमारभते कुरुते स विशिष्यते प्रशंसार्हो भवति । इदमत्रोक्तम् । असक्तभावेन परोपकारक्षमकर्मयोगाचरणं नैष्कर्म्याय भवति । परन्तु यदि ज्ञानेन्द्रियाणि स्वविषयविमुखानि न स्युर्न स्यादक्षता परोपकारिता । ज्ञानेन्द्रियाण्येव रागद्वेषादिदोषान्वर्धयन्ति । कामक्रोधादौ तान्येव प्रेरयन्ति लोकान् । अतो नैष्कर्म्यावाप्तये वस्तुद्वयमपेक्षितम्—ज्ञानेन्द्रियजयः, आसक्तिहीनकर्मयोगाश्रयश्चेति । सन्निपत्यैते कारणे भवतो न तु प्रातिस्विकरूपेण । अथवा वैराग्यादिसहकारेण मनसा सह ज्ञानेन्द्रियाणि नियम्यासक्तः सन् यः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमारभते स विशिष्यत इति श्लोकयोजना । एतस्मिन्पक्षे मनस इन्द्रियाणां च विजयोऽपेक्षितः ॥७॥

निश्चित्याह—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥८॥

नियतमवश्यमावश्यकं वा न तु क्षत्रियवर्णनियतम् । द्रोणादयो ब्राह्मणाः सन्तोऽपि ब्राह्मणधर्मविरोधि युद्धं कुर्वाणा दृश्यन्ते । जनकादयः क्षत्रियाः सन्तोऽपि क्षत्रियधर्मविरोधिज्ञानादौ संलग्ना दृश्यन्ते । अतो नियतशब्दस्यास्मदुक्त एवार्थो ग्राह्यः । हे अर्जुन त्वं नियतमवश्यं कर्म कुरु । कर्मैव कुर्वित्याशयः । अवश्यकर्तव्यतया यद्यदापतितं स्यात्तत्त्वं कुरु । हि यतोऽकर्मणः कर्माननुष्ठानापेक्षया कर्म कर्मानुष्ठानं ज्यायः श्रेष्ठम् । नात्रापि यागादिकं कर्मापेक्षितम् । अत एवोच्यते, अकर्मणः कर्मरहितस्य त्यक्तकर्मणस्ते तव यस्य कस्याप्यन्यस्य चेति चकारात्संग्राह्योऽर्थः । शरीरयात्रापि शरीरनिर्वाहोऽपि न प्रसिद्ध्येत्सम्यक् सिद्ध्येत् । निष्कर्मा तु न कोऽपि स्थातुमर्हतीति प्रागुक्तम् । अतोऽलसो

भूत्वा करणैः किञ्चिदप्यकुर्वाणोऽपि मनसा सर्वं चिन्तयन्यः पाषण्डं निषेवते नित्यं च रयेण धावति सः। तदपेक्षयावश्यकर्तव्यत्वेनोपस्थितकर्मानुष्ठानमेव ज्यायः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण इत्युक्त्या स्पष्टमेव श्रौत-यागादीनां निषेधः सम्पन्नः। न यागादिः शरीरयात्रायै भवति स्वर्गाद्यायैव स इति नियतम्। तेन कर्मशब्दः सर्वत्रात्र शास्त्रे वैदिकयागेतराण्येव कर्माण्याह ॥८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज देव–पूजा–संगतिकरण–दानेषु। यजधातोरेते चत्वारोऽर्थाः। न तु देवपूजेत्येकोऽर्थः। तथा सति धातोरेव कर्मसंग्रहाद्यजेरकर्मकत्वप्रसङ्गात्।

तदुक्तमभियुक्तैः—

धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥

देवो देवनम्। तच्च मोदो मदो वा। पूजा पूजनम्। कस्यापि दुःखप्रसङ्गे यथाशक्ति साहाय्यप्रदानमपि पूजान्तर्गतमेव। एवं च परोपकारो यज्ञशब्दार्थः। यज्ञः परोपकारोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तस्मात्कर्मणोऽन्यत्र परोप-काररूपकर्मातिरिक्तात्कर्मणोऽयं लोको भवति कर्मबन्धनः कर्म बन्धनं बन्धनकारकं यस्य तथाभूतः। परोपकारायाचरितं परदुःखनिवृत्तये कृतं कर्म न भवति बन्धाय। अन्येन परोद्वेजकेन कर्मणा कर्तुर्बन्धोऽवश्यम्भावी। हे कौन्तेय तदर्थं परोपकारार्थं कर्म समाचर कुरु, तदपि मुक्तसङ्गः सन्नेव। मयास्योपकारः सम्पादितो ममाप्यनेनोपकृतं भविष्यतीत्येवं यदि भावना मनसि वर्तेत तर्ह्यहङ्कारोदयसम्भावना नियता। स्वार्थभावनोदयोऽपि स्यात्कदाचित्। दैवाद्युपकृतेन पुरुषेण न तत्समीहितं कर्म क्रियेत प्रकोपो ग्लानिर्हर्षापगमो द्रोहो विरोधश्चेत्यादयो दोषा उत्पद्येरन्नेव। ततश्च महती

विनष्टिः । अतो मया तदर्थं कृतं किञ्चिदिति विस्मृत्य परोपकरणं स्वधर्म इति निश्चित्यैव कर्माचरितव्यमिति भगवदाशयः ॥९॥

परोपकारार्थकर्मकरणे हेतुमाह—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

सहत इति सहो रक्षकः । सहो रक्षकं यज्ञः परोपकाररूपं कर्म यासां ताः सहयज्ञाः प्रजा मनुष्यरूपाः पुरा सृष्टिकाले सृष्ट्वा निर्माय प्रजापतिः परमात्मोवाचोपदिष्टवान् । किम् ? अनेन यज्ञेन परोपकाररूपकर्मणेतिभावः । यूयं प्रसविष्यध्वमुत्तरोत्तरां वृद्धिमुपगच्छत । किं चैष एव परोपकाररूपो यज्ञः । अगत्यैकदेशस्य यज्ञस्यात्र ग्रहणम् । वो युष्माकमिष्टकामधुगस्तु । इष्टान्वाञ्छितान्कामानभिलाषान्दोग्धीतीष्टकामधुक् । सर्वाभिलाषसमर्पको भवत्वित्याशयः । स्वार्थमेव कर्म कुर्वाणः साहाय्याद्भ्रष्टो दुःखकाले विषीदति । परोपकर्ता च सर्वस्यामेव स्थितौ परमां मुदमनुभवतीति ॥१०॥

अन्यदपि प्रजापतिनोक्तमाह—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

इदमप्याह प्रजापतिः—अनेन परोपकारकर्मणा देवान्सज्जनान् भावयत सन्तर्पयत यूयम् । ते च देवाः सज्जना युष्माभिर्भाविता वो युष्मान्भावयन्तु पूजयन्तु सन्तर्पयन्तु । एवं च परस्परमन्योन्यं भावयन्तः सत्कुर्वन्तः परमभ्यर्हितं श्रेयः सुखमवाप्स्यथाधिगमिष्यथ ॥११॥

पुनरपि प्रजापतिवचनमेवाह—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञभाविताः परोपकारकर्मपूजिता देवाः सज्जनाः । न केवलं विद्वांस एव सज्जना भवन्त्यविद्वांसोपि । येषां साहाय्यापेक्षा स्यात्सर्व एव ते भावनेया विद्वांसोविद्वांसो वा । न हि परोपकारश्चक्षुर्द्वयं धत्ते । स हि सर्वं समानं पश्यति । ये दुर्जना ये वा शत्रवस्तेषामप्युपकारः समाचरणीय इतिमानवाभ्यर्थना । एवं च युष्माभिः सत्कृता लोका इष्टानभिलषितान् भोगान्पदार्थान् वो युष्मभ्यं दास्यन्ते । यथाशक्ति तेपि युष्माकमुपकरिष्यन्त्येवेति भावः। तैरुपकृतैर्दत्तान्युष्मत्कृते प्रापितान्पदार्थानेभ्यस्तेभ्य इत्यर्थः । अप्रदायादत्त्वा यो भुङ्क्ते स्वार्थे नियोजयति स स्तेन एव चोर एव । अयं भावः । चैत्रो मैत्रस्योपकरोति यत्किञ्चिद्दानेन । मैत्रोपि तथैवोपकरोति चैत्रस्य यत्किञ्चिद्दानेन । एवमेव पुनश्चैत्रेण मैत्रस्योपकारः कर्तव्यो मैत्रेण च चैत्रस्य । अयं प्रवाहो मावरुद्धो भवत्विति भगवदाशयः । अथवा सज्जनैर्युष्माभिः कामिताः पदार्था आदानप्रदानपरम्परया वा स्वातन्त्र्येण निजेच्छया वा प्रदत्ताः । तान्देवदत्तान्पदार्थानेभ्यो दीनेभ्योपेक्षावद्भ्योप्रदाय यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः । युष्माभिरर्जितं प्रापितं वा युष्माभिरेव यदि भुज्यते चौर्यं सम्पाद्यते तत्रान्येषामप्यधिकारो निर्बाध एव । धनापेक्षिभ्यो धनं यथाशक्ति दत्त्वैव युष्माभिरुपभोक्तुं शक्यते नान्यथेति सामाजिको नियमः । एतदेव सहजीवनमित्युच्यते लौकिकैः ॥१२॥

पुनरपि प्रजापतिवचनमाह—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञात्परोपकाराच्छिष्टमवशिष्टमश्नन्तीति यज्ञशिष्टाशिनः । अथवा यज्ञेन परोपकारेण शिष्टमुत्तमं पवित्रं वा धनं येश्नन्ति ते यज्ञशिष्टाशिनः । परेभ्यो दीनेभ्यो दत्त्वैव येश्नन्ति ते परोपकारनिरताः सन्तः सर्वकिल्बिषैर्दोषैर्मुच्यन्ते मुक्ता भवन्ति । सर्वेभ्यो दोषेभ्यो मुक्ता भवन्तीति स्पष्टार्थः । परोपकारस्य स्वभाव एवैष यत्सर्वकिल्बिषनिवर्तनमिति । ते पापा मूर्खास्तु

भुञ्जतेघं पापमेव य आत्मकारणात् स्वार्थादेव हेतोः पचन्ति । ये समाजस्य हितमनवधार्य स्वार्थमेव चिन्तयन्ति ते पापमाचरन्तीति पिण्डितार्थः ॥१३॥

सर्वमेव जगच्चक्रसंचरणं कर्माधीनं ब्रह्म च परोपकाररूपे पवित्रे कर्मणि प्रतिष्ठितमित्याह द्वाभ्याम्—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

भूतानि मनुष्याः । अन्नादन्नभक्षणाद्भवन्ति जीवन्ति । अत्र भूधातुः प्राणधारणे । मुमूर्षुं प्रति कश्चित्कंचित्पृच्छति कीदृगसाविति, अस्तीत्युत्तरं भवति । अस्ति जीवतीति । अन्नसम्भवोन्नानां भोगानां सम्भव उत्पत्तिश्च पर्जन्याज्जनतृप्तिकर्तुर्जनहितकर्तुश्च भवति । तर्पयतीतितृप् । जनेभ्यो हितो जन्यः । तृप् चासौ जन्यश्च पर्जन्यः । तृप् शब्दस्य पभाव इति नैरुक्ताः पर्जन्यश्च यज्ञाद्भवति । यज्ञशब्दो नात्र होमादिव्यापारपरः । कृते तस्मिन्व्यापारे बहुशो न जायते पर्जन्यः । अतः स्वार्थं परार्थं च वृष्ट्यर्थं क्रियमाणः पुरुषार्थो यज्ञशब्दार्थः । स च पुरुषार्थो वनानां रक्षणं नूतनवृक्षाणामारोपणमुद्यानादिसम्पादनं च । यज्ञश्च कर्मसमुद्भवः । तादृशो यज्ञः पुरुषार्थः कर्मसमुद्भवः । कर्मभिरेव पुरुषार्थः प्रकटीक्रियते । पुरुषार्थ उद्योगः । उद्योगश्च हस्तपादादीन्द्रियैर्मनसा च कृतो भवति । कर्म च ब्रह्मोद्भवं शरीराज्जायत इति भावः । 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' (१४।३) 'तासां ब्रह्म महद्योनिः' (१४।४) इत्यत्र स्वयं भगवता ब्रह्मशब्दः प्रकृत्यर्थं नीतः । शरीरमपि प्रकृतिरेव । मृदो जायमानो घटोपि मृदेव । प्रकृतेर्जायमानं जातं वा शरीरमपि प्रकृतिरेव । सति शरीरे कर्म सम्पाद्यत इति कर्मणो ब्रह्मोद्भवत्वमाह । ब्रह्म शरीरं चाक्षरसमुद्भवं परमाणुभिरुत्पन्नम् ।

तस्मात्परमाणुजन्यत्वाद्निन्यत्वादित्याशयः । सर्वगतं सर्वान् पशुपक्ष्यादीन्गतं प्राप्तं ब्रह्म शरीरं यज्ञे पुरुषार्थे उद्योगे परोपकारे च परोपकार एव। च एवकारार्थे । प्रतिष्ठितं भवति प्रतिष्ठापात्रं भवति । शरीरस्योपयोगो यदि परोपकारार्थ एव तर्हि तच्छरीरं मृतममृतं वा प्रतिष्ठापात्रं भवति । अतो नित्यं जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुभूतं कर्मैव कर्तव्यमिति भगवदाशयः । ननु सर्वमान्यं ब्रह्मशब्दार्थं वेदं परित्यज्य कुतः शरीरपर्यन्तानुधावनम् ? उच्यते । गीताया अष्टादशस्वध्यायेषु कुत्रापि न वेदशब्दो न वा श्रुतिशब्दः श्रुतः प्रयुक्तश्च । न हि कुत्रापि भगवतोक्तमितिवेदेषूक्तमिति । वेदाः प्रमाणमित्यपि नोक्तं कुत्रापि । तस्मादत्रापि तन्मनीषितार्थस्यैव शरीरस्य ग्रहणं कर्तव्यमिति । किं च ब्रह्मशब्दार्थो वेदः परिगृहीतो भवेद्यदि तदा कुत इयान्भ्रमः ? कर्म वेदोद्भवं विद्धीत्येव कथं नोक्तम् ? एवमुक्ते 'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म' इत्यत्र सौकर्यं स्यात् । यथाश्रुतपाठे तु एकत्र ब्रह्मशब्दार्थो वेदोऽपरत्र च ब्रह्मशब्दार्थोऽक्षरमिति महानुपद्रवः । किं च द्वितीयब्रह्मशब्दार्थोऽक्षरमिति गृहीते 'ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' इत्युक्तिर्न सदर्थगर्भा भवति । कुतः ? उच्यते । यज्ञस्तु कर्मसमुद्भवो न वेदोद्भवः । वेदोऽक्षरसमुद्भवः । वेदानामक्षरसमुद्भवाद्वेदे ब्रह्म नित्यं प्रतिष्ठितमित्युक्तेरेवौचित्याद्ब्रह्म यज्ञे प्रतिष्ठितमित्युक्तेरन्याय्यत्वात् । ब्रह्म नित्यमन्ने प्रतिष्ठितमित्यस्यापि वक्तव्यत्वान्मध्यपातिनि यज्ञे तस्य प्रतिष्ठितत्वोक्तिर्न वैदुष्यमावहति । अतो निश्चितमेव ब्रह्मशब्दार्थोऽत्र शरीरमिति । यज्ञशब्दार्थश्च परोपकार इति ॥१४।१५॥

एतच्चक्राननुवर्तने दोषमाह—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

परमाणुभ्यः शरीरम् । शरीरात्कर्म । कर्मणो यज्ञः—परोपकारः । परोपकारात्पर्जन्यः सर्वसन्तर्पकः सर्वहितकारकश्च भोगो भोगप्राप्तिः । भोगप्राप्ते जीवा जीवन्ति । एवं चक्रं जगति प्रवर्तितं प्रजापतिना । तच्च चक्रं य इह नानुवर्तयति नानुसरति स्वार्थे णिच् सोऽघायुर्भवति । अघपूर्णमायुर्यस्य सोऽघायुः ।

स चेन्द्रियारामो भवति । इन्द्रियैरारामो विषयोपभोगो यस्य स विषयी जीवो भवतीत्यर्थः । एवं च हे पार्थ स मोघं व्यर्थं जीवति । अत्र बहु वक्तव्यम् । कीदृशं चक्रानुवर्तनमिहापेक्षितमिति प्रथमं विवेचनीयम् । न हि जीवा भोगत्वमाप्नुयुर्न वा भोगाः सर्वहितकारकापरपर्यायपर्जन्यत्वं प्राप्नुयुर्नवा पर्जन्याः परोपकारतां न वा परोपकारः कर्मत्वं न वा कर्म शरीरत्वं न वा शरीरं परमाणुत्वं गच्छेयुः । अथवा गच्छेन्नाम मरणानन्तरं शरीरं परमाणुत्वं परं न कर्मादि शरीरत्वादि कथमपि संगन्तुं शक्तम् । कथं तर्हि चक्रानुवर्तनम् ? उच्यते । अत्र चक्रशब्देनार्धचक्रमुपलक्षितम् । चक्रं चेह परम्परा । परमाणूनपरित्यज्य परम्परा विचारणीया । शरीरम् । कर्म । परोपकारः । पर्जन्यः । भोगाः । भूतानीति । शरीरार्थं कर्म कर्तव्यम् । सशक्तेन शरीरेण कर्मभिः क्रियाभिः परोपकारः कर्तव्यः । परोपकारसम्पादनेन सर्वजनहितकारकेण भवितव्यम् । ततः सर्वेभ्यो यथाशक्ति भोगा अर्जनीया दीनेभ्योऽशक्तेभ्य इति । तेन जनानां जीवनं भविष्यति । एतादृशमेव चक्रमनुवर्तनीयम् । अनेन चक्रानुवर्तनेन परोपकाररूपो यज्ञः सम्पादित एव भवति । परोपकार एव जीवनस्य मुख्यं तत्त्वम् । परोपकारमुद्दिश्यैवोक्तमघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवतीति । अपरं विचार्यते । एवं प्रवर्तितमित्यत्र णिच् स्वार्थे न वेति । स्वार्थ एव । कुतः । यदि प्रेरणार्थे णिज् भवेत्, प्रेरकः प्रजापतिरेव गृहीतः स्यात् । प्रजापतिः परमेश्वरः । स च न कस्यापि प्रेरकः । जीवः स्वयं कर्ता । 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः [५।१४]' इति गीतायामेवोक्तत्वात् । अतः प्रवर्तितमित्यस्य प्रवृत्तमित्येवार्थः । अपरमपि । नानुवर्तयतीत्यत्र णिचः किं प्रयोजनम् ? न किञ्चित्प्रयोजनम् । अत्रापि स्वार्थ एव णिच् । ननु यः परोपकारं करोति तस्याघायुष्ट्वं युक्तम् । यश्च परोपकारं न करोति तटस्थ्यं चावलम्बते तस्य कथमघायुष्ट्वमिति ? उच्यते । य एतच्चक्रं नानुवर्तते स इन्द्रियाराम एव भवति । इन्द्रियारामः पापं पुण्यं च न जानाति । तस्य पुण्ये न प्रवृत्तिः । पुण्यमेव परोपकारः । अतः सोघायुरित्युच्यते । यस्य जीवनं परोपकारशून्यं तस्य जीवितं मोघमेव ॥१६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

परोपकार आत्मसन्तोषायापि भवतीति मत्वाह य'स्त्वति । कियत्पर्यन्तमेतच्चक्रमनुवर्तनीयमित्याह–यस्तु मानव आत्मरतिरेव स्यादात्मन्येव परमात्मन्येव रतिर्यस्य तथाभूतः, यश्चात्मतृप्त आत्मन्येव परमात्मन्येव तृप्तः स्यात्, यश्चात्मन्येव सन्तुष्टः स्यात्तस्य कार्यं कर्तव्यं न विद्यते नावशिष्यते । ननु 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (३।५) इति स्ववचोविरोधः स्यात्सर्वथा कर्मपरित्याग इति ? सत्यम् । स्यादेव विरोधः । विरोधपरिहारार्थमन्यथा व्याख्येयोयं श्लोकः । तथा हि तुः पक्षान्तरमुत्थापयति । यो मानव आत्मरतिरात्मनां शरीरिणां जीवानामित्यर्थः । उपकारे रतिः प्रेम यस्य तथाभूतः स्यात् । यश्चात्मतृप्त आत्मनां तृप्त्यैव तृप्तः सर्वतृष्णाविरहितः, यश्चात्मन्येवात्मन्यपि । अप्यर्थ एवकारः । सन्तुष्टः स्यात् पौरुषेण जीवननिर्वाहसामग्रीः सम्पाद्य य आत्मार्थमपि वीतचिन्तः स्यात्तस्य कार्यमन्यत्कर्तव्यं पारलौकिकं न विद्यते । नैव तस्येतोन्यत्कर्म कर्तव्यत्वेनावशिष्यत इत्यर्थः । परेषां श्रेयसि रतिं सन्दधानस्य स्वजीवातवेर्जितवित्तस्य जीवनं न व्यर्थमित्याशयः ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

एवंभूतं परोपकारमयं जीवनं यो जीवति तस्य कृतेनान्येन केनचित्कर्मणा तीर्थयात्राव्रताचरणादिरूपेण नार्थो न प्रयोजनम् । श्रीकृष्णसमये तीर्थयात्रामूर्तिपूजादीनामाचारस्य न प्रचारः । महाभारते तीर्थयात्राविवरणमुपलभ्यते तत्तु महाभारतकालीनं न व्यासप्रणीतजयकालीनमिति प्रतीयते । एवं तु कृतेनेत्यस्य यागादीनां ग्रहणं वेदितव्यम् । अकृतेनापि गीतोक्तयज्ञादीनामनाचरणेनापि तस्येह कश्चन नार्थः । नास्ति कश्चन प्रत्यवाय इत्यर्थः । सर्वभूतेषु सर्वेष्वपि प्राणिष्वस्य परोपकारिणः कश्चिदर्थव्यपाश्रयो न । विशेषेणापगत आश्रयो व्यपाश्रयः । आश्रयहीनता । अर्थः प्रयोजनम् ।

प्रयोजनाश्रयहीनता न । सर्वेषु प्राणिष्वपेक्षितं यत्प्रयोजनं तस्य स आश्रय एव भवति । सर्वेषामपेक्षितं सम्पादयतीतिभावः । उपकारकर्मप्रवणानां किञ्चिदन्यत्कर्तव्यं नास्ति, यदि किञ्चिदन्यन्न करोति तस्य कापि हानिरपि न । परोपकारस्तु तस्य स्वधर्मः । अतः सर्वेषां भूतानां यदपेक्षितं भवति यथाशक्यं स तत्सम्पादयतीति सर्वेषां प्राणिनामपेक्षितप्रयोजनस्य स सर्वदाश्रय एव भवतीति विशदं तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

तस्मात्तस्यान्यत्कर्तव्यं नास्त्यन्यदकरणेन कश्चन प्रत्यवायोपि नास्ति, ततः सततमसक्तः स्वार्थासक्तिरहितः सन् कार्यं कर्तव्यत्वेनैवापतितं कर्म समाचर सम्यगाचर । हि यतः, असक्तः सन् कर्म चरन् पुरुषः परं परमं सुखमाह्लादमितिशेषः । आप्नोति । न ह्यत्र परशब्देन परमात्मा मोक्षोवापेक्षितः । न हि कर्मणा जन्ममरणनिवृत्तिरूपो मोक्षः शास्त्रसंमतः । न वा कर्माचरणेन सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धया च मोक्षोप्यत्रेप्सितः । कर्माचरणेन न नियतं सत्त्वशुद्धिर्भवत्येव । सत्त्वाशुद्धिरपि संजायते । यद्यपि शास्त्रीयेष्वेव यागादिकर्मसु सत्त्वाशुद्धिसम्भावना न परोपकारकर्मणि तथापि परैः शास्त्रीयाण्येव कर्माण्यत्रापेक्ष्य सत्त्वशुद्धिसंभावनोक्ता । अत उत्तरमपि तत्रैव नेयम् । परोपकाररूपे कर्मणि तु सत्त्वाशुद्धिर्नैव भवति । तथापि तेन मोक्षावाप्तिवार्ता यदि तदा तादृशे कर्मणि सर्वेषां नियोजनायैव सेति वेदितव्यम् ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

हिः पादपूर्तौ । लोकसंग्रहमेवापीत्यत्राप्येवमिति पादपूर्तावेव । जनकादयः पूर्वजाः कर्मणैव परहितसम्पादनकर्मणैव संसिद्धिं कर्तव्यपूर्तिमास्थिता अधिगताः । अतः कर्म कर्तव्यमेव । यदि नास्ति कार्तार्थ्यावाप्तिसमीहा तदा लोकसंग्रहं लोकानां कर्मणि प्रवर्तनमपि सम्पश्यन्समीहमानस्त्वं कर्तुमर्हसि

कर्मेतिशेषः । यदि जनकादीनां कृतकार्यत्वं न रोचते ते तर्हि दूरे तिष्ठतु तत्, लोकसंग्रहस्तु परमावश्यकः । लोकसंग्रहो नाम कर्तव्ये कर्मणि लोकानां प्रवर्तनम् । तदुद्दिश्य तु त्वं कर्म कर्तुमर्हस्येवेतिभावः । जनकादीनामपि कर्म परोपकाररूपमेव प्रजारञ्जनरूपमेव न तु राजसूयाश्वमेधयज्ञादिरूपम् । ज्ञानिनां तत्राप्रवृत्तेः । नात्र संसिद्धिशब्दो मोक्षवाचकः । ते मोक्षं गता न वेति को जानाति ? भगवान्कृष्णः सर्वद्रष्टा सन्ब्रवीति तदेव तन्मोक्षे प्रमाणमिति तु न वक्तव्यम् । युद्धे कर्मण्यर्जुनं नियोजयितुं भगवानर्थवादमपि प्रयुञ्जानो दृष्टः । यथान्तिमेध्याये 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥' इति ब्रुवाणः प्रतिजानानोपि मोक्षमर्जुनाय, नरकादर्जुनं त्रातुमसमर्थो जातः । अर्जुनस्य कृष्णभक्तस्यापि नरकनिवासो महाभारते प्रसिद्धः । तथा हि—

भीमं च भीमविक्रान्तं प्राणेभ्योपि प्रियं मम ।
अर्जुनं चेन्द्रसंकाशं यमौ चैव यमोपमौ ॥
द्रष्टुमिच्छामि तां चाहं पाञ्चालीं धर्मचारिणीम् ।
न चेह स्थातुमिच्छामि सत्यमेवं ब्रवीमि वः ॥
किं मे भ्रातृविहीनस्य स्वर्गेण सुरसत्तमाः ।
यत्र ते मम स स्वर्गो नायं स्वर्गो मतो मम ॥
महा० स्व० २।१०–१२॥

इत्युक्त्वा युधिष्ठिर ऐन्द्रं स्वर्गमनिच्छन् भीमार्जुनद्रौपद्यादीन्द्रष्टुं देवदूतेन सह स्वर्गं परित्यज्य प्रयातः । नरकं च प्राप्तो देवदूतं स पप्रच्छ—

क्व च ते भ्रातरो मह्यं तन्ममाख्यातुमर्हसि ।
देशोयं कश्च देवानामेतदिच्छामि वेदितुम् ॥
... ...
युधिष्ठिरस्तु निर्विण्णस्तेन गन्धेन मूर्छितः ।
निवर्तने धृतमनाः पर्यावर्तत भारतः ॥
स संनिवृत्तो धर्मात्मा दुःखशोकसमाहतः ।

शुश्राव तत्र वदतां दीना वाचः समन्ततः ॥
भो भो धर्मज्ञ राजर्षे पुण्याभिजन पाण्डव ।
अनुग्रहार्थमस्माकं तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥
महा० स्व० अ० २।३०–३२॥

... ...

सन्तिष्ठस्व महाबाहो मुहूर्तमपि भारत ।
त्वयि तिष्ठति कौरव्य यातनास्मान्न बाधते ॥
महा० स्व० अ० २।३५॥

... ...

अबुध्यमानस्ता वाचो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच के भवन्तो वै किमर्थमिह तिष्ठथ ॥
इत्युक्तास्ते ततः सर्वे समन्तादवभाषिरे ।
कर्णोऽहं भीमसेनोऽहमर्जुनोऽहमिति प्रभो ॥
नकुलः सहदेवोऽहं धृष्टद्युम्नोऽहमित्युत ।
द्रौपदी द्रौपदेयाश्च इत्येवं ते विचुक्रुशुः ॥
महा० स्व० २।३९–४१॥

किं च, कर्णश्च महेष्वासः सर्वशस्त्रभृतां वरः । स गतः परमां सिद्धिम् (महा० १८।३।१९। इत्यत्र स्वर्गं गतं कर्णमुद्दिश्य परमां सिद्धिमिति प्रयुक्तम् । स्वर्गं प्राप्तं युधिष्ठिरमाह शक्रः—"सिद्धिं प्राप्तोसि परमाम्" (महा० १७।३।३४) इत्यादौ बहुत्र परमसिद्धिशब्देन स्वर्गः प्रोक्तो न मोक्षः । स्वर्गश्च सुखविशेष एव । अत एतादृक्शब्दानां दर्शनेन न व्यामोहः सेवनीयो विद्वद्भिरिति ॥२०॥

लोकसंग्रहस्य स्वरूपमाह—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

श्रेष्ठः श्रेष्ठत्वेन लोके प्रख्यातो जनो यद्यदाचरति करोति

साधारणोपि जन आचरति । स श्रेष्ठः पुरुषो यत्प्रमाणं कुरुते यदेवाद-र्शरूपेण स्वीकृत्य प्रवर्तते लोकः सामान्यो जनस्तदनुवर्तते तदनुकरोति । यदि त्वमिदं धर्मयुद्धं न करोषि शास्त्रभयेन पराहतः संस्तदान्येपि दुराचाराणां दुराचारं सहिष्यन्ते । न च तदपाकरणाय प्रवर्तिष्यन्ते । तत्तु नोचितम् । दुर्विनीतानामेव साम्राज्यं ततः स्थापितं भवेत् । तत्तु नेष्टम् । अतस्त्वया लोकसंग्रहः कार्य इतिभावः ॥२१॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

आत्मानं दृष्टान्तत्वेनोपस्थापयति भगवान् । हे पार्थ पृथापुत्र मत्स-विधे धनमस्ति पुष्कलम् । जना अपि वशे सन्ति बहवः । प्रभावोपि सर्वत्र प्रसृतः । शारीरिकं बलमपि विपुलम् । न रागादयो निवर्तनीयाः । यदि ते सन्ति ते मद्वश एव तिष्ठन्ति नाहं तेषां वशे । अतो लोकेषु त्रिष्वपि मे किञ्चित्कर्तव्यं कार्यं कर्म न विद्यते । किञ्चिदनवाप्तमप्राप्तमेवं नास्ति यदवाप्तव्यं प्राप्तव्यं भवेत् । तथापि लोकसंग्रहार्थमेव लोका अपि तथा कुर्युरिति विचार्य्यैव कर्मणि वर्त एव कर्म करोम्येव । यद्यपि मनुष्याणामन्ये-षामपि त्रिषु लोकेषु किञ्चित्प्राप्तव्यं नास्ति तेन न भवति कश्चन कृष्णे प्रकर्षः । तथापि भ्रान्ताः स्वर्गाद्यवाप्तये श्राम्यन्त्येव, न च श्राम्यति भगवांस्तदवाप्तये । वस्तुतस्तु त्रिषु लोकेष्विति वचनं कर्तव्यराहित्ये दार्ढ्यदर्शनार्थम् । चस्तथा-प्यर्थे ॥२२॥

यदि त्वं कर्मणि न वर्तेथाः का हानिरित्याशङ्क्याह—

यदि ह्यहं न वर्तेय जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

हे पार्थ, जातु कदाचिदहमतन्द्रितो निरलसः सन् कर्मणि न वर्तेय कर्मणि प्रवृत्तिं न कुर्याम्, तर्हि मनुष्याः सर्वशः सर्वथा मम वर्त्मानुवर्तन्ते । सर्व एव निष्कर्माणो भविष्यन्ति । त्वं जानास्यर्जुन, अहं प्रख्यातः

प्रतिष्ठितः । सर्वे मां महापुरुषं ज्ञानिनं च मन्यन्ते । अतो मदाचरितमेव सर्वं आचरिष्यन्ति । मत्कृतमेवानुवर्त्स्यन्ति । अतो लोकान्मार्गं प्रदर्शयितुमेव मम कर्मणि प्रवृत्तिर्न तु किञ्चिदनवाप्तमवाप्तुमिति । त्वयाप्येवं कर्तव्यमेव । क्षन्तव्यैषात्मश्लाघा सुधीभिः ॥२३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्मचेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

अहं महापुरुषो ज्ञानी च यदि कर्म स्व-पर-हितकरं मनुष्ययोग्यं न कुर्यां तर्हीमे लोका उत्सीदेयुरुत्सन्ना भवेयुः । किं च संकरस्य च व्यतिक्रमस्य कर्तव्याकरणरूपस्य कर्ता स्याम् । का तर्हि हानिः ? इमा सर्वाः प्रजा मदनुवर्तिनीः स्वकर्तव्यपथात्प्रच्याव्य हन्यां कुपथप्रवर्तिनीः कुर्याम् । महत्येषा विनष्टिः । संकरशब्देन नात्र वर्णसंकररूपोऽर्थो ग्राह्यः । अन्यैर्वर्णैरकर्तव्यस्य करणं यदि साङ्कर्यं तत्त्वासीदेव तदानीमपि । द्रोणाचार्यादयो ब्राह्मणत्वं परित्यज्य क्षात्रधर्मेऽवस्थिता आसन् । भीष्मादयः क्षात्रधर्मं भजमाना अपि ब्राह्मणोचितधर्मोपदेशं कुर्वाणा आसन् । स्वयं भगवान् कृष्णोऽपि क्षत्रियो भूत्वाध्यात्मविद्यामुपदिशन्नासीत् । किं च वर्णशब्दसमभिव्याहार एव सङ्करशब्दो वर्णसङ्करतामाह । न चात्र तथा । संकरो नरकायैव (१।४२।) इत्यत्र तु पूर्वोपस्थितवर्णसङ्करसन्निधानेनैव वर्णसङ्कर इत्यर्थः प्रतीतः । मनावपि वर्णानां संकरं चक्रे' (९।६७) इति । सङ्करोऽवकरस्तथेत्यमरकोषात्सङ्करोनिष्टो ग्लानिप्रदो वा ॥२४॥

पुनरपि तमेवार्थं द्रढयति—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

हे भारत भरतकुलभूषण, यथाविद्वांसो जडा विवेकशून्या लोकाः कर्मणि सक्ता अनुरक्ताः सन्तः, यदीदं न कुर्याम नियतं निरयागारे क्षिप्ता भवेमेति लोकभीतिभीताः सन्तः कुर्वन्ति कर्मातिशेषः । तथा तेनैव प्रकारेण

लोकसंग्रहं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुर्विद्वान् विवेकज्ञः कुर्यात्कर्म, परमसक्तः सन्नेव । कर्म तूभाभ्यामेव कर्तव्यं विद्वदविद्वद्भ्याम् । परन्तु विचारे भेदः । विद्वान् कर्म करोति न च तस्मिन्सक्तो भवति, न च बिभेति, यक्षो वा पिशाचो वा डाकिनी वा शाकिनी वा देवी वा हनुमान्वा भैरवो वा मां भक्षयिष्यतीति वा पीडयिष्यतीति वा । अविद्वांस्तु कर्मणि परमामासक्तिं सेवते बिभेति चाकरणे पिशाचादयः पीडयिष्यन्तीति । अविदुषः कर्म तीर्थयात्रादिकम् । विदुषश्च परोपकाररूपं विवेकपूर्वकं च देशभ्रमणरूपं चापि । विद्वांल्लोकसंग्रहं चिकीर्षुरित्येकवचनेन विद्वदविदुषोर्भेदः स्फोरितः ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

विदुषा कर्म स्वयं कर्तव्यमन्यश्च कर्मासक्तोऽपि कर्म कुर्वन्न निषेद्धव्य इत्युच्यते । सजनं सङ्गः । कर्मसु सङ्गः कर्मसङ्गः । कर्मसङ्गोऽस्ति येषां ते कर्मसङ्गिनः । तेषामज्ञानामविवेकिनां निर्बुद्धीनां वा बुद्धिभेदं विचारभेदं न जनयेदुत्पादयेत् । ननु नेदं समीचीनमुक्तं भवति । अस्ति कश्चिदज्ञानी भूतपूजापरायणः । प्रेतपूजनं त्वज्ञानप्रेरितत्वादनुचितमेव । न केवलमनुचित-मनिष्टावहमपि । कथं न तत्र बुद्धिभेद उत्पादनीय इति ? अस्ति कश्चन हिन्दुः । कृष्णजन्माष्टम्यां सौराष्ट्रे द्यूतक्रीडायां धर्मबुद्धया रूढया वा निरतः स कथं न तस्मान्निवारणीयः ? दीपमालादिवसेषूत्तरभारते सर्वेषु हिन्दुषु द्यूत-क्रीडनं रूढम् । कथं न तस्मात्ते पृथक्कर्तव्या इति । ये शाक्ताः सन्ति देव्युपासका वा सन्ति ते देव्याः पुरतश्छागबलिं ददति सुरां वा निवेद-यन्ति । कथं न ते तस्मादयुक्तकर्मणो निवारयितव्याः ? युक्तं पृष्टम् । नायमुपदेश औचित्यमावहति । अवश्यमेव दुरितपतितानां बुद्धिभेदं सम्पाद्य सन्मार्ग आनयनं बुद्धिमद्भिर्विद्वद्भिः कर्तव्यमेव । न चेदं वचनं यज्ञादि कर्म कुर्वाणानुद्दिश्योक्तमितिवाच्यम् । न हि यज्ञादि कुर्वाणा अज्ञा इतिसर्वतन्त्रसिद्धान्तः । शाङ्करमते यज्ञादिभिर्जातायां बुद्धिशुद्धौ मोक्षसम्पत्तिः सुसम्पादा भवति । अतो यावद्बुद्धिशुद्धि कर्मकरणे तन्मते न दोषः ।

अथवा कथमपि भवन्तु नाम कर्मिणस्तन्नयेज्ञा न तु वैष्णवनये यज्ञादिकर्मा-ज्ञत्वमापादयति । वैष्णवनयेपि यदि कर्म कुर्वाणा अज्ञत्वेनाभिमतास्तर्हि सर्व एव मूर्तिपूजका मृतश्राद्धादिनिर्वाहकाश्च अज्ञा एव । न चावैदिकं कर्माच-रन्तोज्ञा इत्याशयो भगवत इतिवाच्यम् । अवैदिकमनुचितं कर्माचरतामपि तस्मादयुक्तात्कर्मणोनिवारणस्यान्याय्यत्वात् । ननु पूर्वमपि द्वितीयाध्याये वैदिकं कर्माचरन्तोविपश्चिच्छब्देन निर्भर्त्सिता अत्राप्यज्ञशब्देन तेषामेव कर्मिणां श्रौतयज्ञादिपरायणानामेव ग्रहणमुचितं कथं नेति ? नोचितम् । तत्र तेषां निन्दितत्वादत्रापि तेषां निन्दासम्पादनस्यैवौचित्यात् । वदतोव्याघाता-पाताच्च । कथम् ? इत्थम् । यत्कर्म कुर्वन्तः पूर्वं मूर्खशब्देन प्रतिबोधिता-स्तदेव कर्म सम्पादयन्तो न तस्मान्निवारणीया इति वदतो व्याघातः । यज्ञाद्याचरतां वैदिकं कर्म मोक्षो भवति सत्त्वशुद्ध्यादिकं वा भवतीत्यत्र श्रद्धालवोपि न दृश्यते भगवति श्रीकृष्णे । न च 'यज्ञो दानं तपश्चैव न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (१८।५) इत्यनेन यज्ञे महती श्रद्धा प्रतीयत इति वाच्यम् । अत्र यज्ञशब्देन परोप-कार एव ग्रहीतव्यो न श्रौतयज्ञः । स्ववचोविरोधादेव । न च कर्मसङ्गिना-मित्यत्र कर्मपदेन वर्णाश्रमनियतं कर्म ग्रहीतव्यमितिवाच्यम् । तत्सेवि-नामज्ञत्वेनानभिमतत्वात् । अत्र पूर्वार्धस्यायं निष्कर्षः—कर्मसङ्गिनो यदि विज्ञास्तेषां बुद्धिभेदमुत्पाद्य स्वार्थाद्वियोज्य परार्थे नियोक्तव्या एव । परं यदि तेज्ञास्तर्हि तेषां बुद्धिभेदो नोत्पादनीयः । यदि स्वार्थवशतयैव तेषां यस्मिन् कस्मिन्नपि परहितानवघातिनि कर्मणि प्रवृत्तिस्तदा प्रवर्तन्तां नाम ते तत्र । अकरणात्करण श्रेय इति न्यायात् । अन्यथेतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट इति महानिष्टप्रसङ्गात् । यदि विद्वांस्तेषां बुद्धिभेदं न जनयेत्तर्हि किं कुर्यात् ? आह । सर्वकर्माणि जोषयेत्सेवयेत् कर्तुं प्रेरयेत् । ननु महदनिष्टमेतद्यत्सर्व-कर्माणीत्युच्यते । सर्वाणि च तानि कर्माणीति । सर्वाणि पापात्मकानि पुण्यात्मकानि चेति । कथं विद्वान् सन् पापकर्मसु कंचिदपि योजयेदिति । सत्यम् । सर्वेति सर्वनामशब्दः । समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्त इतिशब्दस्वभावः । तद्यथा पूर्वे पञ्चाला उत्तरे पञ्चालास्तैलं भुक्तं घृतं

भुक्तं शुक्लो नीलः कपिलः कृष्ण इति । एवमयं समुदाये प्रवृत्तिशीलः सर्व-शब्दोवयवेष्वपि वर्तते । सर्वं घृतं भुक्तमित्युक्ते न हि जगति वर्तमानं सर्वं घृतं भुक्तमित्यभिप्रेयम् । न हि कोपि तथा कर्तुं शक्नोति । अतः सर्वकर्माणीत्यस्यापि नियतोर्थः । न विदुषा पापमाचरितुमाचारयितु वा शक्यते । तेन सर्वशब्दार्थविमोषः कर्तव्यः । सर्वाणि शुभकर्माण्येव न त्व-शुभकर्माणीत्यपि । नार्थविमोषः कर्तुं शक्यः । कुतः ? ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात्कुरुतेर्जुनेतिवक्ष्यमाणश्लोके सर्वकर्माणीत्यत्रार्थविमोषासम्भवात् । शुभान्यशुभानि च सर्वाण्येव कर्माणि ज्ञानाग्निर्भस्मसात्कुरुत इत्यर्थस्यैव प्रतीतिः । तथापि तत्रापि विप्रमोष इष्ट एव । कथम् ? त्रिविधानि कर्माणि । सञ्चितप्रारब्धक्रियमाणानीति । तत्र न प्रारब्धस्य भस्मीभवनं ज्ञानेनेष्टमितरयोरेवेति । नैव युक्त एष प्रारब्धविप्रमोषः । तस्यापि भस्मीभवनं नाशक्यम् । यदि ज्ञानेन संचितानां कर्मणां विनाशोभिमतः क्रियमाणानां चाश्लेषस्तर्हि किं कारणं प्रारब्धस्याविनाश इति ? इदमस्ति कारणम् । यथा धनुषा निर्गतो बाणो लक्ष्यमविद्ध्वा नैव निवर्तते तथैव प्रारब्धं कर्म भोगसमाप्तिमन्तरेण न विनश्यतीति । उक्तं चाध्यात्मोपनिषदि 'ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति । अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत् ॥ व्याघ्रबुद्धया विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ । न तिष्ठति भिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरमिति ॥' अकिञ्चित्करमेतद्वचनम् । धनुषा प्रक्षिप्तो बाणोवश्यं लक्ष्यं भिनत्तीति न दृष्टम् । शत्रुबाणेन मध्येपि तस्य विनाशसम्भवात् । तथा हि वाल्मीकीये 'स शरैः शरजालानि वारयन्समरे स्थितः ।' (१०३।५) । इदानीं तु विज्ञानयुगे शत्रुक्षिप्तान्यस्त्राणि मध्येमार्गमेव शत्रुभिः कृन्तितानि दृश्यन्ते । तत्रैवाध्यात्मोपनिषद्यपि—"अजरोस्म्यमरोस्मीति य आत्मानं प्रपद्यते । तदात्मना तिष्ठतोस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ॥ ५५ ॥ प्रारब्धं सिध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः । देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः ॥ ५६ ॥ इत्युक्त्वा पुनराह—'ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि । तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान् । समाधातु बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः ॥ ५९ ॥" इति । एतेन ज्ञायते

प्रारब्धं केवलं जडानां चित्तस्य समाधानं कर्तुं कल्पितमेवेति । एवं च सर्वेषां कर्मणां ज्ञानाग्निना भस्मीभवनं सिध्यत्यतोत्र न कस्यापि विप्रमोषः । सत्यम् । नेयं राजाज्ञा यद्येकस्मिन् स्थाने न कस्यापि विप्रमोषस्तर्ह्यन्यत्र न तथेति । ज्ञानाग्निरितिश्लोके विप्रमोषस्य नास्त्यावश्यकता, न भवति सः । जोषयेत्सर्वकर्माणीत्यत्रावश्यकत्वेन विप्रमोषोपरिहार्य एवेति । वस्तुतस्तु ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणीत्यत्र प्रारब्धादिकर्मत्रयस्य ग्रहणमज्ञानविजृम्भितम् । पूर्वजन्मकृतकर्मसु संचितेषु यत्किञ्चिदादायोत्तरे जन्मनि फलारम्भं भगवान् कारयतीति कल्पनमेवाशुद्धम् । पूर्वजन्मनोभावात् । अत्रैव जन्मनि कृतानि सर्वाणि शुभान्यशुभानि च कर्माणि ज्ञानाग्निना परिदग्धानि भवन्तीति मन्तव्यम् । ननु यदि पुनर्जन्म नास्ति, प्रारब्धमपि नास्ति तर्हि कश्चित्सुखी दुःखी च कश्चिदिति कथमुपलभ्यते ? इत्थम् । बुद्धिरपि देहाङ्गमेव । देहरचनाया मातापितृरजोवीर्यकृतत्वाद्बुद्धेरपि तथात्वाद्रजोवीर्यप्राबल्यनैर्बल्याभ्यां सुखदुःखे प्रतीयेते । बुद्धेश्च तनुत्वेनालम्प्रसरणशीलत्वाभावाल्लौकिकव्यापारादौ न भवति कश्चन लाभवान्, भवति च कश्चन तथा बुद्धेरलंप्रसरणशीलत्वात् । सर्वं कर्मैहैव जन्मनि भुक्तभोगं भवति नावशिष्यते कर्मलवोपि । कथं तर्हि प्रारब्धस्यावकाशः संचितत्वाभावात्कर्मणाम् । ननु स्वर्गकामो यजेतेतिश्रुतिप्रलोभनवचनबलेन यज्ञमनुष्ठितवतः पुरुषस्यात्र स्वर्गप्राप्तिविरहदर्शनात्कर्मणो वैफल्यभयात् श्रुतेश्च मिथ्योपदेशकत्वभयाच्च संचितकल्पनायास्ततश्च प्रारब्धकल्पनाया नानौचित्यमिति चेत् । शृणु । स्वर्गस्य सुखविशेषरूपत्वस्वीकारे सर्वेषां तान्त्रिकाणामकमत्येनेहैव सुखविशेषप्राप्तिः स्वर्गप्राप्तिरित्येव मन्तव्यम् । यदि तेन यज्ञेन न सुखविशेषप्राप्तिस्तर्हि तत्र वैगुण्यं शोधनीयं तद्बोधकवाक्यस्यैव वा निरर्थकत्वमनुसन्धेयम् । सर्वेषां कर्मणां फलमिहैवावश्यं प्राप्तं भवतीति निर्विवादम् । अवशिष्टश्चतुर्थः पादो व्याख्यातव्यः । विद्वांश्च युक्तः सन् निगृहीताखिलेन्द्रियो वशीकृतसर्ववासनश्च सन् सर्वाणि शुभानि कर्माणि परोपकारदृष्ट्या स्वयं समाचरन् कुर्वन्नन्यैरपि तानि कारयेदितिभावः ॥ २६ ॥

विद्वदविदुषोः कर्मविषये दृष्टिमाह—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

प्रकृतिः प्रधानम् । परं न सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था । भिन्नतयाऽपञ्चीकृतभूतोद्भूतेन्द्रियाणां पञ्चीकृतभूतोद्भूतस्थूलदेहानां चेह प्रकृतिग्रहणेन ग्रहणम् । गुणा विकाराः । ते च देहेन्द्रियादयः । एवं चायमर्थः श्लोकस्यास्य—कर्माणि प्रकृतेरचितो गुणैर्देहेन्द्रियादिभिः सर्वशः क्रियमाणानि । भवन्तीत्यध्याहार्यम् । अहङ्कारविमूढात्मा । अहङ्कारोऽज्ञानस्यैवेकः प्रकारः । तेन विमूढो निर्बुद्धिक आत्मा तेषां कर्मणामहं कर्तेति मन्यते । अथवा प्रकृतेर्गुणैः सर्वशः क्रियमाणानि कर्माण्यहङ्कारविमूढ आत्माहं करोमीति मन्यते । कर्तृपदमिह तृन्नन्तम् । तेन न षष्ठी । कर्ता कटानितिवद्द्वितीया कर्माणीत्यत्र । एवमत्रोक्तं भवति । कर्मणां कर्तृत्वं वस्तुतो देहेन्द्रियेष्वेव नात्मनि । स त्वक्रिय एव । निग्रहानुग्रहावपि देहेन्द्रियाणामेव भवति नात्मनः । परन्त्वहङ्काराख्यः कश्चनाज्ञानवृत्तिविशेषः । तेनात्मा वैचित्य प्रापितो भवति । ततश्च सन्नप्यकर्तात्मानमेव कर्तारं मन्यते । ननु भवतु नाम कर्मसु कर्तृत्वबुद्धिरात्मनः । का हानिः सम्पद्यते ? न कापि हानिः, मिथ्याज्ञानं तु तस्य जायते । किं च कर्मकर्तॄणामेव बन्धनं स्यात् समये च तेषामेव मोक्षः स्यात् । एवं देहो बद्ध इन्द्रियाणि बद्धानि देहो मुक्त इन्द्रियाणि मुक्तानीत्यादयो व्यवहाराः प्रसज्येरन् । न तु आत्मा बद्धो मुक्तो वेति । बहु वक्तव्यं विद्यतेऽत्र । अहङ्कारविमूढ एवात्मा यद्यात्मानं कर्मकर्तारं मन्यते तर्हि देह एवात्मा, इन्द्रियाण्येवात्मा, मन एवात्मेत्यायातम् । इदमप्यायातं नास्ति कश्चन चेतनदेवः कर्तृत्वेनाभिमतोऽत्र शरीरे । तर्हि गीतोक्तैव देहदेहिभावकल्पना विरुध्येत । प्रकृतेर्गुणसंमूढा इत्यादयो बहवः प्रयोगा विरुध्येरन् । अपि च परःसहस्रा दोषा उद्भवेयुः । किं च गुणेष्वेव कर्तृत्वमभिमतं चेत्, तेषु चैतन्यमपि स्वीकृतं भवेत् । चैतन्येन विना जडेषु क्रियासमन्वयासम्भवात् । रथो गच्छतीतिवदारोपितं चेच्चैतन्यं तर्हि मुख्यं

चैतन्यं क्वेति वक्तव्यम् । चैतन्यसहयोगेनैव गच्छति रथो न वास्तविकं कर्तृत्वं रथे, चेतन एव । चेतन एव कर्ता । रथं वाहयन्कश्चिच्चेतनः कस्याप्युपरि पातयन् स एव दण्ड्यो भवति न हि रथः । एवं भवतु नाम गुणेषु कर्तृत्वमारोपितं मुख्यः कर्ता तु कश्चिच्चेतन एव । स एवानुग्राह्यो निग्राह्यश्च । वस्तुतस्तु देहेन्द्रियैरेव दोषः क्रियते तान्येव दण्ड्यन्ते । येषां मते चेतन एव कर्ता तेषां मतेपि नात्मा दण्डितो भवति । देह एव कशया ताड्यते इन्द्रियाणि च शिरोहस्तादीनि च्छिद्यन्ते । न कथं तर्हि देह इन्द्रियाण्येव वात्माभ्युपगन्तव्यः । अथवा देहेन्द्रियाणां संघात एवात्मेति कथं नाभ्युपगन्तव्यम् । संघाते च मस्तके स्थितस्य ज्ञानतन्तुविशेषस्य संघातेन सह सम्बन्धः । अत एव 'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' (३।१।१) इति गौतमसूत्रस्य नावश्यकता । ज्ञानतन्तुः स एक एव यः स्यूतस्तस्मिन् सङ्घाते । तेन यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामीति यं चास्प्राक्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामीति व्यवहारस्य नाप्रसिद्धिः । न च जडो हि संघातः । न हि जडेन सह ज्ञानसम्बन्ध इतिवाच्यम् । जडो हि संघात इत्यस्यासिद्धेः । तिष्ठन्तु नामावयवा जडाः समुदायस्तु चैतन्यविशिष्ट एव । न सन्त्यवयवे ये गुणास्ते समुदाये प्रत्यक्षीभवन्ति । वैज्ञानिकोयं नियमः । सुधाहरिद्रयोः संयोगो रक्तिमानमेव प्रकटयति न पीतिमानम् । वैज्ञानिकोयं नियमः । दधिगोमययोः संयोगेन वृश्चिको जायते । वैज्ञानिकोयं नियमः । बहुविधविशिष्टयन्त्रसन्निधानेन जडमपि घटिकायन्त्रं गमनशीलं भवति । वैज्ञानिकोयं नियमः । एवं च जडानामपि देहेन्द्रियादीनां संयोगो मस्तिकस्थज्ञानतन्तुसहकारेण चैतन्यं जनयति । अत एवाहं स्थूलोहं कृश इत्यादिव्यवहाराः प्रसिद्ध्यन्ति । नायं भ्रान्तो व्यवहारः । संघात एवाहमितिप्रत्ययः । न केवलमिन्द्रियाणि स्थूलानि कृशानि वा भवन्ति । संघात एव स्थौल्यं कार्श्यं च प्रतीयते । अतः संघात एवाहंप्रत्ययविषयः । प्रतीयमानाप्रतीयमानयोः प्रतीयमानस्यैव ग्रहणम् । संघातादतिरिक्तो नात्मा प्रतीयते न दृश्यते न श्रूयते न स्पृश्यते न रस्यते । संघातस्तु सर्वगोचरः । मन-

स्यसति ज्ञानमेव न स्यात् । चक्षुष्यसति दर्शनमेव न स्यात् । श्रोत्रेऽसति श्रवणमेव न स्यात् । स्पर्शनेऽसति स्पर्शज्ञानमेव न स्यात् । सत्यपि अन्यैरभिमत आत्मनीन्द्रियेषु चासत्सु पंगुरेवात्मा । अतो देहेन्द्रियाणां संघात एवात्मत्वेनाभिमतो भगवत्कृष्णस्यात्र । ननु नेदं वक्तुं शक्यं श्रीकृष्णस्य संघात एवात्मत्वेनाभिमत इति । अहङ्कारविमूढात्मेत्यत्रात्मशब्दस्य संप्रयोगादिति । नेदं श्वोवसीयम् । अहङ्कारविमूढात्मेत्यस्याहङ्कारेण विमूढमात्मान्तःकरणं यस्येति नार्थः । अहङ्कारेण विमूढ आत्मा जीव इत्यपि नार्थः । कस्तर्ह्यर्थः । अयमर्थः । अहङ्कारेण विमूढा अहङ्कारविमूढाः । अहङ्कारविमूढैः स्वीकृत आत्माहङ्कारविमूढात्मा । मध्यमपदलोपी समासः । विमूढैः स्वीकृत आत्माहं कर्तेति मन्यते इति । ननु नायं सिद्धान्तो भगवदभिमतः सर्वत्र पृथगात्मनः स्वीकारात् । न । न हि कश्चन भगवतः सिद्धान्तः प्रातिस्विकरूपेण स्वीकृतः । सर्वं एव सिद्धान्तास्तस्य । न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते इति वदता तेन ज्ञानस्यैव श्रेष्ठत्वमङ्गीकृतम् । कर्मणैव हि संसिद्धिम्..............अनेन कर्मणो ज्येष्ठत्वम् । भक्त्या त्वनन्यया लभ्य......इत्यनेन भक्ते श्रेष्ठत्वम् । वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्' इत्यनेनात्मनो नित्यत्वमुक्तम् । अनित्यत्वं च अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतमित्यनेनोक्तम् । एवं च सर्व एव सिद्धान्ता वादाश्च भगवतः संमताः । यत्र यदा यस्तस्मा अरूरुचत तं तत्र तदा प्रत्यपीपदत । गहनाशयो हि भगवान् । न भवति भगवद्गीता भीरुष्ठानमिति ॥२७॥

मूढात्मनो वार्तां समाप्य तत्त्वविदस्तामाह—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

तुः पक्षान्तरं व्युदस्यति । हे महाबाहो गुणकर्मविभागयोस्तत्त्व-

विदिति मत्वा न सज्जते । कुत्र ? कर्मसु । इति किम् ? गुणा गुणेषु वर्तन्त इति । किमुक्तं भवति । इदमुक्तं भवति । गुणा देहेन्द्रियाणीत्युक्तम् । तान्येव कर्ता । गुणाः कर्माण्यपि । एवं चेन्द्रियाणि कर्मसु वर्तन्ते न चात्मेतितत्त्वविन्मन्यते । ततो न स कर्मसु मदीयानि मत्कृतानि वा कर्माणीमानीति मत्वासक्तो भवति । ममकार एवासक्तिहेतुः । यत्र मदीयमिति बुद्धिस्तत्रैवासक्तिर्नियता । तत्त्वविज्जानाति नेमानि कर्माणि मदीयानि मत्कृतानि वेति न तस्य तत्रासक्तिहेतुः कोपि । सत्यम् । परन्तु तत्त्ववित्तु न स्वतन्त्रः शब्दः किन्तु गुणकर्मविभागयोरित्यत्रानुषक्तः । एवं च गुणकर्मविभागयोस्तत्त्वविदित्युक्तं भवति । तर्हि किमापाद्यते गुणकर्मविभागयोरितिविशेषणेन ? को वार्थोपेक्षितो गुणकर्मविभागयोरित्यस्य ? श्रूयतामत्र तत्त्वम् । कर्मणां विभागः कर्मविभागः । गुणश्च कर्मविभागश्च गुणकर्मविभागौ । तयोर्गुणकर्मविभागयोरिति । विभागश्च विभागश्च विभागौ । गुणाश्च कर्माणि च गुणकर्माणि गुणकर्मणां विभागौ गुणकर्मविभागौ । तयोर्गुणकर्मविभागयोरिति वृत्तिस्तु न समीचीना । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य पदस्य प्रत्येकं सम्बन्धनियमाद् गुणविभागः कर्मविभाग इत्यर्थस्य सम्पन्नत्वाद्विभागाविितिद्विवचनं निरर्थकमेव । पूर्ववृत्तौ तु न नैरर्थक्याशङ्का । तत्र गुणशब्देन कर्ता गृह्यते । तत्र न कश्चन विभागोपेक्षितः । कर्मशब्देन क्रिया अपेक्ष्यन्ते । तत्र विभागो दुर्वारः । अतो विभागशब्दस्य कर्मशब्देनैव सम्बन्धो न गुणशब्देन । कर्मशब्देनापि गुणा एवोच्यन्ते । एवं च कर्मगुणयोः पर्यायतापि । अत एव गुणाः कर्मसु वर्तन्त इत्यस्य स्थाने गुणा गुणेषु वर्तन्त इत्युक्तम् । एवमपि स एव प्रश्नः । कः ? किमुक्तमनेन भवतीति । उच्यते । यो गुणतत्त्वं जानाति गुणविभागतत्त्वं च जानाति स जानाति 'इन्द्रियाणि गुणेषु कर्मसु प्रवर्तन्त' इति । ततश्च न स विद्वांस्तत्र सज्जत इति । नेयमुक्तिः समीचीना । यदीन्द्रियाण्येव कर्ता तर्हि ततोन्यस्य तत्त्वविदो न भवति संभवोस्तित्वस्य । कोसौ तत्त्वविद्यो गुणरूपं कर्तारं कर्मविभागं च आनाति ?; यदीन्द्रियेषु

कर्तृत्वं गौणमपेक्षितं तर्हि तत्त्ववित्न्न सज्जत इत्युक्तिः पराहतैव भवति । यश्च मुख्यः कर्ता स्यात्स एव सज्जते । यदीन्द्रियेभ्यो भिन्नः कर्ता कश्चन मुख्यस्तर्हि स एव सज्जते । तर्हि किमित्युक्तं तत्त्ववित्न्न सज्जत इति ? उच्यते । नास्तीन्द्रियेभ्यो भिन्नः कर्ता कोपि । परमत्रेदं तत्त्वं निश्चेतव्यम् । मस्तिष्ककेन्द्रान्निस्सृत्य कश्चिज्ज्ञानतन्तुरिन्द्रियाणि प्राप्नोति । तत्सन्निधानेनैवेन्द्रियेषु चैतन्यप्रवाहः प्रचलतीति पूर्वमुक्तम् । एवं चेन्द्रियेषु कर्तृत्वं करणत्वं च द्वौ धर्मौ तिष्ठतः । न चेदं विरुद्धमुक्तमिन्द्रियेषु कर्तृत्वं करणत्वं चेति वाच्यम् । अन्यत्रापि तथा दर्शनात् । कुत्र तथा दृश्यते । उद्धरेदात्मनात्मानमित्यत्र । आत्मैव कर्तात्मैव करणमात्मैव कर्मात्र । एवमिन्द्रियाण्यपि दर्शनस्पर्शनादीनां कर्तृत्वं करणत्वं च भजन्ते । किं च कर्तृत्वकरणत्वयोरैकाधिकरण्यं विरुद्धमिति संभाव्यैवेन्द्रियेभ्यः कश्चन भिन्न आत्मा परैः स्वीकृतः । परं तादृगस्ति कश्चनात्मेति तु नाद्यापि निर्विवादम् । न चेन्द्रियाणामनित्यत्वेनात्मनोप्यनित्यत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम् । इष्टत्वात् । न चाकृताभ्यागमकृतविप्रणाशयोः प्रसङ्ग इतिवाच्यम् । सुखदुःखादीनां तात्कालिककारणप्रसूतत्वेनाकृताभ्यागमप्रसङ्गाभावात् । तच्छरीर एव कृतानां कर्मणां फलस्यानुभूतत्वेन कृतविप्रणाशप्रसङ्गाभावाच्च । न चैवं पुनर्जन्मसिद्धान्तस्य बाधितत्वेनात्मानित्यत्वस्य नार्षत्वमितिवाच्यम् । सत्यासत्यनिर्णयावसर आर्षानार्षत्वविचारस्याकिञ्चित्करत्वात् । किं च यदेव सत्यं तदेवार्षमित्येव मन्तव्यम् । सर्वेष्वेव युगेष्वृषयो भवन्ति । इदानीमपि सन्त्येवर्षयः । ततो न किञ्चिदनार्षमिति । न च पूर्वेषामृषीणां सिद्धान्तबाधप्रसङ्गः स्यादितिवाच्यम् । ऋषिपरम्पराप्राप्तस्यैतद्दोषस्यानवगणनीयत्वात् । दार्शनिकेषु केचन ऋषयो मुनयो वा षट्पदार्थवादिनः केचन जीवब्रह्माभेदवादिनः केचन जीवाणुत्ववादिनः केचन जीवविभुत्ववादिनः केचनैकजीवादिनः केचन जीवबहुत्ववादिनः । सर्वे सर्वस्य बाधकाः । अत एकेन सिद्धान्तेनापरस्य बाधे नाश्रुविमोचनप्रसङ्गः । न च योगिराजपतञ्जलिसिद्धान्तस्यापलापः स्यात् । स्यादेवापलापः कश्चिदपलपनीयप्रसङ्गश्चेत् । सति विपाके जात्यायुर्भोगा इति सिद्धान्तस्त्वपलपनीय एव । सार्वत्रिकत्वाभावात् । अलमतिप्रसंगेन ।

प्रस्तुतं विचार्य्यते। गुणकर्मविभागयोरित्यत्र विभागशब्दस्य किं सार्थक्यम् ? गुणकर्मणोस्तत्त्ववित्त्वं सज्जत इत्युक्तौ का क्षतिः संभाविता ? न कापि क्षतिः। श्लोकपादपूर्णार्थमेव विभागग्रहणम्। अथवा सार्थक्यमेव। किं तत्सार्थक्यम् ? उच्यते। गुणतत्त्ववित्त्वमित्यस्य कर्तृतत्त्ववित्त्वमित्यर्थः। गुणेष्वेव कर्तृत्वं न कस्मिंश्चित्पृथगवस्थित आत्मनीति ज्ञानमेव गुणतत्त्ववित्त्वम्। कर्मविभागतत्त्ववित्त्वं च वैशद्येनोच्यते। कर्म द्विविधम्। उत्पत्तिसमकालफलदातृ पश्चात्फलदातृ चेति। द्वे अपि बहुविधे। उत्पत्तिसमकालफलदातृणि कर्माणि पानाशनगमनशयनरमणहसनस्नानादीनि। पश्चात्फलदातृण्यपि द्विधा। कर्मकर्त्रे फलदातृणि कर्मोद्दिष्टाय च फलदातृणीति। कर्मकर्त्रे फलदातृण्यध्ययनशुभस्मरणादीनि। कर्मोद्दिष्टाय फलदातृणि च दयादानसेवापरोपकारादीनि। कर्मभिर्य उद्दिष्टः पुरुषविशेषस्तस्मै फलदातृण्येतानि। अन्यान्यपिप्रविभक्तानि कर्माण्यूह्यानि ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९

ये च प्रकृतेर्गुणसंमूढाः। गुणः कर्तृत्वम्। ये प्रकृतेः कर्तृत्वे संमूढाः प्रकृतिरिन्द्रियाणि। इन्द्रियेषु स्थितं यद् गुणः कर्तृत्वं तत्र ये सम्यङ्मूढ अतिशयेनाज्ञानिनः। ये नावगच्छन्ति नेन्द्रियेभ्यो भिन्नः कश्चन कर्तेति त एव गुणकर्मसु सज्जन्ते गुणानां कर्मणां च विचारे सज्जन्ते सक्तास्ति ष्ठन्ति। कः कर्ता कस्य चेमानि कर्माणीति विचारनिरतास्तिष्ठन्ति। च प्रकृतेः कर्तृत्वे निस्सन्दिग्धाः सन्ति ते जानन्त्येव वयमेवेन्द्रि याण्येव कर्तेति। इन्द्रियाण्येव कर्ता। इन्द्रियाणामेव कर्माणि। फल न्यपीन्द्रियैरेव लभ्यन्ते। हस्तशिरश्छेदादिकं वेत्रताडनादिकं चेन्द्रियैरे सह्यते नान्येन केनचित्कर्त्रा। अत इन्द्रियसमूहरूप आत्मा दण्डभि सदाचार एव प्रवर्तते। तथा नास्त्यवगमो येषां ते संशयानाः सन्तो य तद्वाचरन्ति फलं त्विन्द्रियैरेव सोढव्यं भवति। तत्र कृत्स्नविद किं कर्तव्य मित्याह—कृत्स्नवित्सर्वतत्त्वविदनकृत्स्नविदो याथार्थ्येन तत्त्वं न विदुः

तान्मन्दान्न विचालयेन्नान्यत्र नयेत यथेच्छं यथामति च ते काममाचरन्तु जानन्तु सजन्तां वा गुणकर्मसु, तत्र तेभ्यः प्रबोधो न कार्यः। अत्रापि किञ्चिन्नूतनं विचारणीयम्। मन्दानित्यस्य विशेषणमकृत्स्नविद इति वा अकृत्स्नविद इत्यस्य विशेषणं मन्दानिति वा ? यदि पूर्वः पक्षः, अकृत्स्नविदो मन्दा इत्युक्ते कृत्स्नविदोपि मन्दा भवन्तीति सिध्येत। तच्च नेष्टम्। इष्टं वा चेत्तत केवलम् अधीत्य शास्त्राणि भवन्ति मूर्खा इतिधियैव। परन्तु शास्त्राण्यधिगत्यापि ये मन्दा भवन्ति न ते कृत्स्नविदो भवन्ति। तत्तच्छास्त्रविद एव। एवं चेद्द्वितीयः पक्षः। तत्रापि दोषः। कः ? न ह्यकृत्स्नवित्त्वं मन्दानां लक्षणं भवितुमर्हति। ये वैयाकरणा न्यायं वेदान्तं वा शास्त्रं न जानन्ति ये च नैयायिका वेदान्तिनो वा व्याकरणं न जानन्ति न ते मन्दा भवन्ति। ये च प्राड्विवाका आङ्ग्लभाषां जानन्ति न संस्कृतभाषां न ते मन्दा भवन्ति। भगवान् कृष्णः स्वयमपि पाणिनीयं व्याकरणं पातञ्जलं च महाभाष्यं न जानाति स्म न तेन स मन्दत्वमध्यगच्छत्। न हि सर्वे सर्वं जानन्ति। सर्वमजानाना न खलु लोके शास्त्रे वा मन्दा उच्यन्ते। ततो नात्र किमपि पदं कस्यापि विशेषणम्। उमे एव विशेष्ये स्वतन्त्रपदे। विनापि चं चार्थो गम्यत इतिन्यायेन अकृत्स्नविदो मन्दांश्च न विचालयेदित्यर्थः समीचीनः। यदि महापङ्के न स्याद्विनिपित्सा तर्हि स्वीकर्तव्य एवैषोर्थः। अन्यच्च किञ्चित्। कृत्स्नवित्तान्न विचालयेदित्युपदेशो न कल्याणकृत्। यदज्ञाः कुमार्गादनिष्टमार्गाद्वा न निवारणीयास्तर्हि तेषां सार्वदिकं पतनमेव स्यात्। कृत्याकृत्यविचारस्यापि नैष्फल्यं स्यात्। शास्त्राणां चापि नैरर्थक्यं प्रसज्येत। अतो न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानामितिवदयं श्लोकोपि दुरर्थक एव। न च भगवतो वाणी कथं दुरर्थिकेति वाच्यम्। भगवतः कृष्णस्यापि मनुष्यत्वेन मनुष्यसुलभानां दोषाणां तत्रापि सुलभत्वात्। अकृत्स्नविद इत्यस्यायथार्थविद इत्यर्थस्य कथंचित्स्वीकारेपि विशेषणस्य तस्य साङ्गत्येपि मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेदित्युक्तिस्तु ग्राम्यैवेति विज्ञेयम्। वस्तुतस्तु 'न बुद्धिभेदम्०' 'प्रकृतेः क्रियमाणानि०' 'तत्त्ववित्तु महाबाहो०' 'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः०' इति चत्वारोपि श्लोका अप्राकरणिकत्वाद्धेया एवेति ॥२९॥

कर्तव्यमादिशति—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

उपसंहरति भगवान् षड्भिः श्लोकैः । अध्यात्मचेतसा सर्वाणि कर्माणि मयि–युद्धाय त्वां प्रोत्साहयति मयि कृष्णे संन्यस्य निक्षिप्य निराशीर्निरिच्छो निर्ममो ममत्वरहितोत एव विगतज्वरो विगतशङ्को वीतचिन्तो वा भूत्वा युध्यस्व युद्धं कुरु । नन्वध्यात्मचेतसेत्युक्तम् । कोर्थस्तस्य ? उच्यते । आत्मन्यधीत्यध्यात्मम् । आत्मनं त्येवार्थः । अध्यात्मं प्रवणं चेतोध्यात्मचेतस्तेनाध्यात्मचेतसा । अध्यात्मशब्दः पावित्र्यमाह । पवित्रेण चेतसेत्यर्थः । निराशित्वं निर्ममत्वं च चेतसः पावित्र्यसम्पादनसाधनम् । ननु मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्येत्यत्रोक्तम् । 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः' (५।१४) इत्यग्रे वक्ष्यते । उभयोर्विरोधः । न विरोधः । अत्र मयीत्युक्तम् । नादत्त इत्यत्र च प्रथमपुरुष उपात्तः । तेनोभयोर्भेदः सूचितः । मयि सर्वकर्माणि संन्यस्येतिकथनेन किमभिप्रेतं भगवतः ? न किमपि । आश्वासनमात्रमेतत् । सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ इतिवत् । यथा मोक्षयिष्यामि सर्वपापेभ्यस्त्वामित्युक्तवार्जुनस्य भारापरोपणं कृतं नान्यत्किञ्चित् । नरकं तु नियतमेवासीदर्जुनस्यापि । एवमत्राश्वासनमात्रम् । कर्मणां फलं त्वर्जुनेनैव भोक्तव्यम् । निराशीरिति निर्मम इति कृष्णविज्ञानम् । युद्धनिवेशाय किमपि त्वाश्रयणीयमेव । अन्ततो गत्वा 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।' (२।३७) इतिवक्ष्यमाणभगवद्वचनप्रत्ययप्रेरितस्वर्गमह्यन्यतरभोगाशैव युद्धनिवेशे कारणं भविष्यति । अथवा श्लोकेस्मिन् भूत्वेत्यतः परम् अपीत्यध्याहार्यम् । यदि ते युद्धफलाशा न विद्यते तदा निराशीर्भूत्वापि, यदि युद्धे ममता आकर्षणं न विद्यते तदा निर्ममो भूत्वापि विगतज्वरो विगतसंकल्पविकल्पः सन् स्थिरबुद्ध्या युद्ध्यस्वेति भगवदाशयो वेदनीयः ॥३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेपि कर्मभिः ॥३१॥

हे अर्जुन, ये मानवा मनुपुत्रा मनुष्याः । श्रद्धावन्तः श्रद्धालवः सन्तो मे ममेदं मतमनसूयन्तोऽनिन्दन्तो नित्यं प्रत्येकमावश्यककालेऽनुतिष्ठन्ति । नित्यशब्दो नियतविषयः । अत एव अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतमितिगीताप्रयोगोऽपि संगच्छते । नित्यं रुग्ण इत्युक्ते नायमर्थो गृह्यते स यावज्जीवनमेव रुग्ण इति । प्रायेण स रुग्ण इत्येवार्थो न्याय्यः । एवमिहापि । नेदं कृष्णमतं सर्वदानुष्ठेयम्, समय एव तदुपदिष्टमार्गेणाचरितव्यमिति । तन्मतमनुतिष्ठतां किं भवति ? उच्यते । कर्मभिः समयेऽनुष्ठेयैरनुष्ठितैर्वा करणभूतैर्मन्मतमनुतिष्ठन्तो मुच्यन्ते दुःखाद्विमुक्ता भवन्तीति भावः । विमुच्यन्ते इति कर्मकर्तृप्रयोगः । अपिरत्रैवकारार्थे । स च मुच्यन्त इत्यनेन युज्यते । ते मुच्यन्त एव । संशयनिवर्तनायैवकारप्रवृत्तिः । कश्चिदत्रेदमाह—ये मतमिदमनुतिष्ठन्ति ते कर्मभिर्मुच्यन्ते । ये च मतेऽस्मिन् श्रद्धावन्तो ये च मतायास्मा अनसूयन्तस्तेऽपि मुच्यन्त इति । तज्जडजल्पनमेव । न हि युद्धकाले श्रीकृष्णवचने श्रद्दधानाः किञ्चिदकुर्वाणा मुक्ता भवितुमर्हन्ति । न वा तस्मा अनसूयन्तोऽपि मुक्ता भवितुमर्हन्ति । नायं मोक्षावसरः । न हि युद्धकर्मणार्जुनस्य मोक्षोऽभीप्सितः । अस्माद्वचनात्केवलमापतितदुःखादेव मुक्तिर्भवति न तु कैवल्यमुक्तिः सिध्यति । यद्येवमेव निरायासा मुक्तिर्लभ्येत सर्व एवोपाया मुक्त्यर्था उपशान्ता भवेयुः । येषां मयाप्राकरणिकत्वेन परिगणिताश्चत्वारः श्लोकाः श्रीकृष्णोक्ता एव मतास्तेषां मत इन्द्रियाण्येव कर्ता नात्मान्यः कश्चनेति ये । ममेदं मतं स्वीकुर्वन्ति ते कर्मभिः कर्मभ्यः कर्मफलेभ्यः कर्मदोषेभ्यो वा विमुच्यन्त इत्याशयः । पञ्चम्यर्थे तृतीया ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

तुः पक्षान्तरे । ये जना एतन्मे मम मतमभ्यसूयन्तो निन्दन्तो नानुतिष्ठन्ति नाचरन्ति नानुसरन्ति तान्सर्वज्ञानविमूढान्नष्टानचेतसश्च विद्धि । कर्तव्यं कर्म करणीयमेवेति भगवतो मतम् । य एतन्मतमनुसरन्ति ते कर्मदो-

भ्येभ्यो मुच्यन्ते । परं ये निन्दन्ति मन्मतं न च तदाचरन्ति ते सर्व ज्ञानविमूढाः सन्तीति ज्ञेयम् । सर्वज्ञानविमूढत्वं मूर्खत्वम् । ते मूर्खाः सन्तीति वेद्यम् । ज्ञानशब्दोत्र विचारपरः । सर्वाणि ज्ञानानि सर्वज्ञानानि सर्वविचारास्तेषु मूढा वैचित्त्यं गता इति यावत् । मूर्खा इति परमार्थः । ननु कोपि मूर्खोपि क्व सर्वज्ञानविमूढो दृष्टः ? किमपि ज्ञानं तु तस्य विद्यत एव । कथं तर्हि सर्वज्ञानविमूढत्वं कस्यापि संभवति ? सत्यम् । ज्ञानेषु विचारेषु मूढा ज्ञानविमूढाः । सर्वे च ते ज्ञानविमूढाश्च ते इति सर्वज्ञानविमूढाः सर्वास्तान्विचारविमूढान्विद्धीति तात्पर्यम् ॥ ३२ ॥

ते कथं न तत्रात्महानिं पश्यन्तीत्याह—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

दूरे तिष्ठन्तु मूर्खाः । ज्ञानवानपि स्वस्याः प्रकृतेः स्वभावस्य सदृशं तुल्यं चेष्टते । विद्वानविद्वान्वा स्वभावमेवानुसरन्ति । प्रकृतिशब्देन पूर्वजन्मनो ग्रहणमतिदूरधावनं तच्च निरर्थकम् । नहि सर्वेषां पूर्वजन्मकर्मफलानुकूलैव प्रवृत्तिः । अस्मिन्नेव जन्मनि गर्भनिवासादारभ्य बाल्यावस्थापर्यन्तं पितृभ्यां यः संस्कारो बाले निपातितः स एव तस्य प्रकृतिः । प्रह्लादः पूर्वजन्मसंस्कारमन्वसरदितिवार्ता तु शपथैकश्रद्धेया । ततो भूतानि सर्वाणि न केवलं मनुष्याः पशुविहगादयोपि प्रकृतिं स्वभावं यान्ति गच्छन्ति । तत्र निग्रहः किं करिष्यति ? निग्रहोवरोधकः । यः कोपि तदवरोधकत्वे तिष्ठेन्निष्फल एव स्यात् । प्रकृतिरेव गरीयसी नोपदेष्टुर्गरीयस्त्वमितिभावः । ननु यदि प्रकृतेरेव बलीयस्त्वं निरोधश्च नार्थोत्पादकस्तर्हि सर्वाणि शास्त्राणि निरर्थकान्येव । धर्माचार्या अपि स्युरपार्थका एव । किं बहुना भगवान् कृष्णोपि पाण्डवायोपदेशं तन्वानोपार्थक एवेति किं न मन्तव्यम् ? न मन्तव्यम् । नेदं वचनं भगवतः स्वस्थस्य । अर्जुनस्य कातर्येण पीडितमनाः सन्नेवमाह भगवान् । वस्तुतस्तु प्रकृतिरकिञ्चित्करी । प्रकृतिमेव विनाशयितुं जेतुं वा सर्वः पुरुषार्थः प्रवर्तते । पुरुषार्थस्य पुरतः प्रकृतिर्नावतिष्ठते ।

प्रकृतिशब्देन प्रारब्धस्य कल्पयितारस्तु हतभाग्या नैराश्योपहताश्च। विचारेण पुरुषार्थमाचरंल्लोकः स्वसमीहितमधिगच्छत्येव। प्रकृतिः स्वभाव इत्युक्तम्। स च जन्मजातसंस्कारविशेषः। स च मातपित्रोरन्येषां च सहवासकृतः। कपिशिशवो मातरमाश्लेष्टुं जानन्ति। शिशुश्च तामाश्लिष्यन्न बिभेति न च पतति। कूर्मः समये स्वाङ्गं खर्परे संकोचयति समये च विकासयति। सर्पो वक्र एव सरति। शुनां पुच्छं वक्रमेव तिष्ठति। दुर्जनो वृश्चिकायते। अयं सर्वः स्वभावः। स्वभावोऽपरिहार्यः। तत्र निग्रहो निरर्थकः॥ ३३॥

तर्हि मनुष्यैः किं कर्तव्यमित्याह—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति प्रतीन्द्रियमर्थे विषये रागद्वेषौ रागो द्वेषश्च व्यवस्थितौ व्यवस्थया तिष्ठतः। नेत्रेन्द्रियमनिष्टं जहातीष्टं च पश्यति। ततश्च तस्येष्टो रागोऽनिष्टे च द्वेषः। न केवलमेतदेव। इष्टं पुरुषं पश्यति न पश्यत्यनिष्टो जुगुप्सते च। इष्टे पुरुषे रागोऽनिष्टे च द्वेषः। श्रोत्रेन्द्रियमिष्टं शब्दं शृणोत्यनिष्टाच्चो परमति। न केवलमेतदेव, अनिष्टस्य पुरुषस्येष्टमपि शब्दं परिहरति। तत्र द्वेषः कारणम्। इष्टस्य पुरुषस्यानिष्टमपि शब्दं प्रेम्णाकर्णयति। रागस्तत्र कारणम्। एवमन्यत्रापि कल्प्यम्। तर्हि कर्तव्यं किम्? इदं कर्तव्यम्। ततो रागद्वेषयोर्वशं नागच्छेन्न समन्ताद्गच्छेत्—प्राप्नुयात्। हि यतस्तावस्य जीवस्य। तस्येत्युचितम्। परिपन्थिनौ वैरिणौ। यदि प्रत्येकमिन्द्रियस्यार्थे रागो द्वेषश्च व्यवस्थितौ तर्हि तयोर्वशं न गच्छेदित्युक्त्यपेक्षया विषयाणां वशं न गच्छेदित्युक्तिरेव समीचीना। तत्रैव भगवतः पारमार्थिक आशयः। चक्षुरिन्द्रियस्य विषयो रूपम्। रूपं च मनोहरममनोहरमपि भवति। मनोहररूपदर्शनेन रागः प्रवर्तते प्रवर्तते च द्वेषोऽमनोहररूपदर्शनेन। एवं च रूपस्यैव वशं न गच्छेत्। स्वत एव रागद्वेषौ तिरोधास्येते। श्रोत्रेन्द्रियं कलरवाय स्पृहयति द्रुह्यति च कर्कशाय रवाय। वर्धेते एव ततो रागद्वेषौ। एवं च शब्दस्यैव वशत्वं हेयम्। स्वत एव रागद्वेषौ निवर्तिष्येते। यदि

विषयवशित्वं स्थास्यति रागद्वेषावपि स्थास्यत एव । यदि तयोर्विजिहासा तर्हि विषयवशितैवापनेया । प्रतीन्द्रियार्थं रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ततो यावदिन्द्रियस्यावस्थानं तावत्तयोरप्यवस्थानं स्यादेव । ततो मूलनिवृत्त्यर्थं विषयवशितैवापनेयेति सुगमः पन्थाः । बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च । शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः । ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् । विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (गी०१८।५१।-५३) इत्यादिकमत्रानुसन्धेयम् ॥३४॥

तर्हि मयार्जुनेन भवदुक्तदिशा सर्व एव विषयाः परित्यक्तव्याः किं तदेतेन राज्यनिमित्तयुद्धेनेत्याह—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अत्र स्वधर्मे विगुणत्वं परधर्मे च स्वनुष्ठितत्वमुक्तम् । न तयोर्विगुणत्वस्वनुष्ठितत्वयोः कश्चन सम्बन्धः । स्वधर्मो विगुण इत्यनेन परधर्मः सुगुणः सद्गुण इत्येव संगच्छते । अथवा परधर्मः स्वनुष्ठितः स्वधर्मश्च दुरनुष्ठित इति वक्तव्यम् । यथा परधर्मो भयावह इत्यस्य श्रेय उद्दिश्याश्रेयानित्येवार्थः । न हि श्रेयोभयावहयोः कश्चन सम्बन्धः । श्रेयोश्रेयसोरेव सम्बन्धः । एवं चायं श्लोकार्थः–स्वधर्मो विगुणोपि दुरनुष्ठितोपि दुःखेनानुष्ठेयोपि स्वनुष्ठितात्सुखेनानुष्ठेयात् परधर्माच्छ्रेयाःऽश्रेयस्करः । ततः स्वधर्म एव निधनं जीवनोत्सर्गः श्रेयः श्रेयान् । परधर्मस्तु भयावहो न श्रेयानित्यर्थः । अत्र विवेचनीयं कोसौ स्वधर्मः कश्चासौ परधर्म इति । अर्जुनः क्षत्रियः । न्यायरक्षणं क्षत्रियस्य स्वधर्म इति परम्परयावगतम् । विषयपरित्यागस्तत्परिणामाद्रागद्वेषयोस्त्यागो यतिधर्मः । न त्वया यतिधर्मा अनुभूताः । क्षत्रियधर्मस्तु बहुशोनुभूतः । अनुभूतं परित्यज्याऽननुभूतनिषेवणाज्ञानात्पराजय एव स्यात् । शरीरव्ययो मनोव्ययः कालव्ययश्च स्यात्, लाभश्च न कोपि लब्धो भवेत् । अतः परधर्मोऽश्रेयानेवेति । स्वधर्मश्च

बहुशोनुष्ठितत्वादभ्यस्तत्या तत्रार्जुनस्य विजय एव सभाव्यते ततश्च राज्यलाभः कीर्तिलाभः शत्रुमदमर्दनमपि स्यात् । अतः स्वधर्माश्रयणमेव तव क्षत्रियस्य श्रेयो न त्वयतेस्तत्र यतिधर्मस्याश्रयण श्रेयः समुदाहरेयेदित्यर्थः । तव स्वधर्मस्तु न विगुणः कथं तर्हि परधर्मानुष्ठानं कर्तव्यमिति तात्पर्यम् । वस्तुतस्तु न रमते मनोस्मिन्नप्यर्थे । अद्यावधि भगवदुपदेशो न वर्णाश्रयः । सामान्येन सर्वानेव मानवान्स्पृशति । अत्र सहसा कथं स्वधर्म उपस्थापितो भगवता । वर्णधर्मः स्वधर्मः, यतिधर्मः परधर्म इति मत्वा तु न कोपि यतिमार्गमाश्रयेत् । सर्वदैव स परधर्मत्वेनैव तिष्ठेत् । स्वधर्मो भगवद्दास्यमित्यपि न । तत्र वैगुण्यकल्पनाया अनौचित्यात् । अत उपस्थित कर्तव्यमेव स्वधर्मः । अनुपस्थितं कर्तव्यं परधर्म इतिमन्तव्यम् । अनुपस्थितं विचारितं च किञ्चित्सुखेनानुष्ठेयं स्यात्तथापि तत्परित्यज्योपस्थितमेव समापनीयमित्येव तात्पर्यम् ॥३५॥

इदं प्रकरणमत्रैव समाप्तम् । कर्मज्ञानानुष्ठानविषयको मोहो गतोधुनार्जुनस्य । इदानीं तु स्वमेवाधिकृत्य पृच्छत्यर्जुनः—

अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

हे वार्ष्णेय कृष्ण । अथेति नूतनविषयारम्भे । पापं चरितुमनिच्छन्नपि पुरुषोयं केन प्रयुक्तः प्रेरितो बलादिव नियोजितः प्रवर्तितः पाप चरतीति पृच्छयते । न सङ्गतोयं प्रश्नः । इदानीमेव भगवतोक्तं गुणा गुणेषु वर्तन्ते, गुण एव कर्ता नात्मा, प्रकृतेर्गुणसंमूढा इत्यादि । कथं तर्हि पापाचारी पुरुष इत्याशङ्का युज्येतेति ? बाढं न युज्येत यदि पूर्वोक्ता मया परिगणिताश्चत्वारः श्लोकाः सिद्धान्तत्वेन प्रकरणगतत्वेन चाभिमताः स्युः । न च ते तथाभिमताः । पुरुष एव पापस्य पुण्यस्य चानुष्ठातेत्येव सिद्धान्तः । अतो वैष्णवेन कृष्णभक्तेनार्जुनेनोचितमेवाशङ्कितं पापविषये पुरुषप्रवृत्तिः कथमिति । जीवस्य पापाचारे न भवेदिच्छा तथापि स पापमाचरत्येव । तत्र प्रश्नः केन प्रयुक्तः स तथाचरतीति । ननु केन प्रयुक्त इति प्रश्ने

केनापि प्रयुक्त एव स पापं करोतीत्यनेनैव बलादेव नियोजित इति वचनं गतार्थमेव भवति कथं तर्हि सा वाचोयुक्तिरिति चेच्छृणु । सिद्धार्थानुवाद एवेति मन्तव्यम् । स्पष्टतया प्रतिपत्त्यर्था च सोक्तिः । ननु धर्माचारेपीत्थमेव भवति । न भवतीच्छा धर्ममाचरितुं तथापि बलात्प्रेरित इवैव कश्चिद्धर्ममाचरति । तर्हि पापाचार एव प्रश्नः, कथं न धर्माचारेपि ? उच्यते । अर्जुनस्य चित्तेयापि युद्धमिदं पापत्वेनैव भासते । सर्वेषां स्वजनानां संहारो न तस्मै रोचते, इत्युपस्थितत्वात्पापमित्युक्तम् । अथवा पात्यस्मादात्मानमिति पापमितिविग्रहात्पापशब्दो धर्माधर्मयोरुभयोरपि वाचकः । यथाधर्मो भवति बन्धनकारकस्तथैव धर्मोपीत्यौपनिषदाः । ननु यद्यात्मा केनापि बलान्नियोजित एव पापादिकमाचरति तर्हि तस्य न स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं च नियतमेवेति । सत्यम् । परन्तु स आत्मा—कर्ता न भवति मनआदिभ्यो विलक्षणः । इन्द्रियादिषु समवेता काचिच्छक्तिरेवात्मा न त्वौपनिषदः कश्चिदन्यश्चेतन इति । कर्तृत्वं तु न केवलायां शक्तौ किन्तु शक्तिविशिष्ट इन्द्रियसमूहे । एवं च स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ययोर्विचारेण न किमपि फलमिति ॥३६॥

एतत्प्रश्नसमाधित्सयोच्यते—

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

कामस्य त्रैविध्यं न्यायसिद्धम् । कश्चित्कामः सत्त्वगुणसमुद्भवः । यथा सत्यभाषणसत्याचरणाहिंसाचरणदानरक्षाद्याचरणरूपः । कश्चित्तमोगुणसमुद्भवो हिंसाद्वेषदुराचारादिरूपः । कश्चिच्च रजोगुणसमुद्भवो भवति यथा शत्रोः स्वकीर्तिरक्षादिकाद्यः । अयमेवात्रोपस्थितः । अत उच्यते रजोगुणसमुद्भवो रजोगुणात्समुद्भवो यस्य तथाभूतोसौ कामो राज्यादिप्राप्तिरूपः । एष एव बलान्नियोजयति जीवं पापे वा पुण्ये वा । न केवलं राजसः काम एव जीवप्रवर्तकः क्रोधोपि । परन्तु क्रोधस्य सत्ता न भवति स्वतन्त्रा । केनापि कारणेन क्रोधो जायते । ननु कामोपि केनापि कारणेनैव जायते । सत्यम् । परन्तु

कामस्य प्रवर्तिका केवलाप्राप्तप्राप्तीच्छा । तादृशीच्छा क्रोधं न प्रवर्तयति । क्रोधस्य प्रवर्तकोऽन्यः । स च कामविघातकः । उपस्थिते कामविघातके कामः क्रोधत्वेन परिणमते । ननु नेदं युक्तम् । केनचिदन्येन रूपेण परिणममानं वस्तु स्वास्तित्वं विलोपयति दधित्वेन परिणममानं यथा दुग्धम् । यदि काम एव परिणतः क्रोधरूपेण तर्हि कामस्यास्तित्वाभावात्केवलं क्रोधशान्तिरेव युद्धादेः प्रयोजनमवतिष्ठेत, अप्राप्तप्राप्तिर्निरालम्बना भवेत् । अत्रोच्यते । परिणामः प्रकृतिसदृशोपि भवति तद्विसदृशोपि । उष्णं दुग्धं शीतदुग्धस्यैव परिणामः । परं न विसदृशः । यथा शीतं दुग्धं पेयं भवत्युष्णमपि तथैव । फलबलमपि प्रायेण तुल्यमेव । अतः कामस्यैव परिणामः क्रोध इत्युक्तेरयं परमार्थः—कामः क्रोधमिश्रितो भवति । क्रोधांशः कामावाप्तये प्रेरको भवति । कामश्चावाप्यते । सर्वा एव क्रियाः कामावाप्तय एव भवन्तीति कामः प्रयोजकत्वेन परिगण्यते । उत्तरार्धम् । स च कामो महाशनो भवति । महदनल्पमशनं भोजनं प्राह्यं यस्य सः । न ह्यल्पेन भोगेन तस्य तृप्तिर्जायत इति महाशन उच्यते सः । महापाप्मा चापि । कामतृप्तये मानवा अकरणीयानामपि करणे न संकुचन्ति । एतत्तु ज्ञेयम् । न हि महापाप्मत्वं सर्वस्मिन्नेव कामे तिष्ठति । रजस्तमस्समुद्भूत एव तस्मिंस्तत्तिष्ठति । सत्त्वसमुद्भूते च कामे न पाप्मत्वं नापि महापाप्मत्वम् । ततश्चैनं कामं रजःसंभूतं तमःसंभूतं चेह संसारे वैरिणं शत्रुं विद्धि जानीहि । पापोत्पादकत्वमेव शत्रुत्वम् । काम इच्छा ॥३७॥

कामस्य बुद्ध्यावारकत्वं कथयति—

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतोगर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

यथा धूमेन वह्निरग्निराव्रियत आच्छाद्यते यथा च मलेन रजआदिनादर्शो दर्पणमाव्रियते यथा चोल्बेन गर्भावरकेण सूक्ष्मचर्मसम्पुटेन गर्भो गर्भस्थो जन्तुराव्रियते तथा तेन कामेनेदं वर्तमानं जगदावृतम् । जगच्छब्देन जगज्जन्तूनां ग्रहणम् । न हि कोप्येवं प्राणी विद्यते यस्य कोपि कामो न

त् । धूमेनावृतत्वादग्निर्दाहाय न प्रभवति । मलेनावृत आदर्शः प्रति-
ग्राहे न समर्थो भवति । उल्बेनावृतो जन्तुर्न दृश्यते नापि स पश्यति।
वेदं कामेनावृतं जगन्न भवति शान्त्यवाप्तय इति ॥३८॥

जगदतिरिक्तमन्यदपि कामेनावृतमित्युच्यते--

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

एतेन दुष्पूरेणानलेन कामरूपेण नित्यवैरिणा हे कौन्तेय, ज्ञा......
चावृतम् । ननु ज्ञानिनो ज्ञानमित्युक्तम् । तत्र ज्ञानशब्देनैव ज्ञानिन
त्किमर्थं तस्योच्चारणम् ? सौकर्येणार्थलाभायेति । यस्य विदुषो ज्ञानं
तै कामो न सेवनीय इति तस्यापि ज्ञानमेतेन नित्यवैरिणा काममाच्छादित-
भावः । नात्र धर्मभूतं ज्ञानमात्मनो विवक्षितम् । तत्तु संकुचितरूपेण विकसि-
त वा तिष्ठत्येव । अथवा तदेव विवक्षितम् । तदतिरिक्तं किञ्चिन्ना-
ज्ञानमात्मनः । ननु नित्यवैरिणेत्यत्र नित्यशब्दोच्चारणेन किं समीहितं
? न हि काममात्रं वैरि भवति । नहीश्वरविषयकः कामो वैरित्वेन
यितुं शक्यः । न वानर्थविलोपायोपस्थितः कामो वैरी भवति ।
प्रसङ्गादत्र कामो रजोगुणसमुद्भूतो ग्राह्यस्तमोगुणोद्भूतश्च । अधः
णो बुद्धिविलोपकः कर्तव्याकर्तव्याभानोत्पादक एव कामो ग्राह्यः ।
यं वैरी ? दुष्पूरो दुःखेन पूरणीयः । कामावाप्तेर्न सुगमो मार्ग
स्य दुष्पूरत्वम् । अनलत्वं चाप्यस्य । यथा स्वस्मिन् प्रक्षिप्तैरिन्ध-
र्नानलस्तृप्यति तथैव कामोपि न तृप्यति । मनुनाप्युक्तम्, न जातु-
कामानामुपभोगेन शाम्यतीति । ननु कामो न तृप्यतीत्युक्तिर्न
न । यस्यैकस्य पणकस्य कामस्तदवाप्तौ स तृप्यत्येव । एकस्मिन्
माप्ते द्वितीयः प्रवर्तते । तस्मिन्समवाप्ते तृतीयः प्रवर्तते । एवं च
पूरत्वं कामस्य सिध्येत् ? उच्यते । परम्परामादायैवोक्तिरेषा ।
कामस्तु पूर्यते । अन्यश्चोदेति । परम्परा न विश्राम्यतीत्येव तत्ता-
अनलत्वं तु सर्वथैव । कामानवाप्तौ खिद्यत एव चेतो ज्वलत्येन

दयं भ्रमत्येव मूर्खेति ॥३९॥

कामस्याधिष्ठानं तस्य कार्यं च वर्णयति—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाण्येव न कर्मेन्द्रियाणि । मन इत्यस्य पृथगुक्तिमनो नेन्द्रियमिति मतमङ्गीकृत्य । बुद्धिश्चास्य कामस्याधिष्ठानं विशिष्टं स्थानमुच्यते कथ्यते। उच्यत इति निश्चयनिवर्तनार्थम् । अन्यथास्तीति प्रयोक्तव्यं स्यात् । ननु कथं न कर्मेन्द्रियाणि तस्याधिष्ठानत्वेन प्राह्याणीति ? न ग्राह्याणि । एतैर्देहिनं कामो विमोहयतीत्युक्तम् । न हि विमोहनव्यापारः कर्मेन्द्रियाणाम् । विमोहनं वैचित्त्यीकरणम् । तच्च ज्ञानेन्द्रियैरेव सम्पाद्यते न कर्मेन्द्रियैरेव । अधिष्ठानं विशिष्टं स्थानमाश्रय इति यावत् । न हि कामस्याश्रय इन्द्रियाणि वा मनो वा बुद्धिर्वा । स्वयमेवोक्तं भगवतैतैर्विमोहयतीति । करणे तृतीया । एवं चैतानि सर्वाणि करणान्येव नाश्रय इति । सत्यम् । अधिष्ठानशब्देन साधनमेव गृह्यताम् । अथवा गृह्यतामाश्रयो न कापि क्षतिः । आश्रयोपि साधनत्वेन व्यवह्रियते, यानेन यातीति । यानमाश्रयोपि साधनमपीति । मनसिजशब्दः कामपर्यायः । मनसि जायत इति मनसिजः । स्पष्टमेवात्राश्रयत्वेन मनो गृहीतम् । एतैः साधनैरेष कामो ज्ञानमावृत्य मलिनीकृत्य देहिनमात्मानं विमोहयति वैचित्त्यमापादयति । इदं न ग्राह्यमिदं न करणीयमिति ज्ञानमावृणोति देहिनं च विमोहयति । एवं च कामो द्वे क्रिये कुरुते ॥ ४० ॥

ततः किं कर्तव्यमित्याह—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

साधनभूतैरिन्द्रियादिभिः स कामः स्वकार्यं साधयति तेन त्वमादौ प्रथमं हे भरतर्षभ, इन्द्रियाणि नियम्य वशीकृत्य ज्ञानविज्ञाननाशनमेनं

पाप्मानं पापात्मानं हि निश्चयेन प्रजहि प्रकर्षेण हन्याः । ननु किं ज्ञानम् ? किं च विज्ञानम् ? उच्यते । शास्त्राध्ययनजन्यं ज्ञानम् । स्वानुभवजन्यं ज्ञानं विज्ञानम् । ननु कथमिन्द्रियाणां नियमनं कार्यम् ? उच्यते । इन्द्रियाणि स्वस्वविषयोन्मुखानि तु भवन्त्येव । स्वभाव एवैषाम् । यावान्नावश्यको विषयस्तावन्तमेव तानि प्रापयेत् । अधिकमिच्छन्ति तानि वारणीयानि । इदमेव तु पृच्छयते कथं तानि वारणीयानीति ? उच्यते । विषयदोषविचारेणैव तानि निगृहीतव्यानि नान्यथा । यथान्ध्यभयान्न कश्चिद्भास्करं पश्यति । यथा वा कर्णभेदभयान्न कश्चित्पटहादिप्रणादं शृणोति । यथा वा दाहभयान्न कश्चिद्दहनं स्पृशति । तथा विषयसेवनजन्यदोषविचारमाश्रित्य तानि विषयेभ्यो निवर्तनीयानि । दोषाध्यानेनैव दोषनिवृत्तिः शक्या नान्यथा । तत्तद्विषयस्तु तत्तदिन्द्रियेभ्यो देय एवेति ॥ ४१ ॥

किमर्थं पूर्वमिन्द्रियाणामेव नियमनं न मनसो न बुद्धेर्वेत्याह—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

एवमस्ति । इन्द्रियाणि पराण्याहुः । मनः परतरम् । बुद्धिः परतमा । प्रबलतमप्रहाणं कर्तुमिच्छता पूर्वं प्रबलो वध्यः, पश्चात् प्रबलतरः, पश्चाच्च प्रबलतम इत्येव क्रमः । तदेवाह-इन्द्रियाणि पराण्याहुरिति । विद्वांस इति शेषः । इन्द्रियेभ्यः परं मन आहुर्विद्वांस इति सर्वत्र संयोजनीयं पदे । मनः परतरमितिभावः । मनसस्तु मनोपेक्षया तु बुद्धिः परा परतमेतिभावः । बुद्धेरपि परतः स काम इत्यर्थः । कामजयार्थिना प्रथममिन्द्रियादयो जेयाः । अत्र परशब्दार्थस्तु यस्य जयः श्रमसाध्यः सः । अत्र केचन परतस्तु स इतितच्छब्देन परमात्मनो ग्रहणं कुर्वन्ति । तन्मन्दम् । बुद्धेरपि परो यः स क इतिप्रश्नस्य कामशब्दाध्याहारेणोत्तरं देयम् । अथवा पूर्वपरामर्शित्वं स्वभाव एव सर्वनाम्नाम् । एवं चानायासेनैव तच्छब्दः काममाह । बुद्धेः परो यः स तु काम एव । काम इच्छेत्युक्तम् । कुत्र कुत्रेच्छा प्रवर्तते तद्बुद्धिरपि न जानाति । प्रस्तुतोप्यत्र काम एव नात्मा

परमात्मा वा । अतोपि तच्छब्देन काम एव ग्रहीतव्यः । ननु कामप्रवृत्तिं बुद्धिरपि न जानातीतिकथनं न संगतम् । "आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया" इत्यभियुक्तोक्त्या बुद्धेर्न कोपि विषयोगोचर इति चेन्न । कामस्य प्राबल्यद्योतनायैव तथोक्तिः ॥ ४२ ॥

अनेन किमायातमित्युपसंहरति—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्री महाभारते श्रीमद्भगवद्गीतायां कर्मयोगो नाम श्रीकृष्णार्जुनसंवादे तृतीयोध्यायः

एवमुक्तप्रकारेण बुद्धेरपि परं दुरासदं दुष्प्राप्यं दुर्धर्षं वा कामरूपं शत्रुं बुद्ध्वावगत्यात्मना बुद्धयोक्तक्रमेण जितयेत्यर्थः । आत्मानं मनः संस्तभ्य स्थिरीकृत्य हे महाबाहो त्वं जहि घातय । अत्र विवेचनीयं कोसौ कामोत्रोपस्थितो योर्जुनेन निहन्तव्य इति । अर्जुनो धनुः परिहृत्य न योत्स्य इति मनसा निश्चिकाय । अस्मिन्निश्चये द्वौ कामौ प्रत्यक्षीक्रियेते भगवता । एकस्तु स्वजनो न हन्तव्य इति । द्वितीयस्त्वनुमानगम्यः । वयं जेष्यामस्तांस्ते वास्माञ्जेष्यन्तीति सन्देग्ध्येवार्जुनः । पराजयभिया द्रौपदीप्रेमपाशबद्धोयं न काङ्क्षति युद्धमिति । किं च प्रश्नस्तु सामान्येनैवोपस्थापितः । उत्तरं तु न सामान्यं स्पृशति । प्रातिस्विकरूपेणार्जुनमेव स्पृशति । जहि शत्रुं कामरूपं दुरासदमित्यर्जुनं सम्बोध्यैव कृष्णेनोक्तम् । नात्र स्पष्टतः प्रतीयते कं काममर्जुनस्योद्दिश्येदमुत्तरम् । वस्तुतस्तु प्रश्न उत्तराणि चाप्राकरणिकान्येवेति ॥४३॥

समुत्सार्यैव मनसो भयं निरयकारणम् ।
यः सत्यमनुसन्धत्ते स कृतार्थो भवेद्भुवि ॥

इति श्रीमहाभारते श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीमत्परमहंस-परिव्राजक-पण्डितराज-स्वामिश्रीभगवदाचार्यप्रणीते भगवद्भाष्ये

तृतीयोध्यायः ।



अथ चतुर्थोध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेब्रवीत् ॥ १ ॥

द्वितीयाध्याये तृतीयाध्याये चार्जुनस्य श्रेयसे यत्किञ्चिदुक्तं भगवता तदेव रहस्यं परन्तु न तन्नवीनं, प्राचीनमेवेति द्रढयितुं भगवान्वदति—इममिदानीं तुभ्यं मयोपदिष्टमव्ययमविनाशिनं योगं (शास्त्रमहं) विवस्वते प्रोक्तवान् पूर्वम् । विवस्वान्कश्चिन्मनोरपि पूर्वजः । स च विवस्वान्मनवे प्राहेमं योगम् । मनुश्चेममेवेक्ष्वाकवेब्रवीदुपदिष्टवान् । अस्मिन्नध्याये नास्ति कश्चन बुद्धेराहारः । कृष्णो विवस्वान् मनुरिक्ष्वाकुरित्यादिक्रमोपि मन्वादौ नोपपद्यते । वाल्मीकिरामायणे दृश्यते क्रमोयम्—अव्यक्तप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ॥ तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः कश्यपः सुतः । विवस्वान्कश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्मृतः ॥ मनुः प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुश्च मनोः सुतः । तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वजम् ।" इत्यादिः । अत्र कृष्णोक्तयोगस्य सनातनत्वे ब्रह्मण एव प्रथमोपदेष्टव्यत्वमेष्टव्यम् । ब्रह्माणं मरीचिं कश्यपं च परित्यज्य विवस्वतः प्रथमोपदेष्टव्यत्ववचनमस्य योगस्याव्ययत्वं प्रणिहन्ति । किं चास्यां परम्परायां न कुत्रापि कृष्णनाम श्रूयते । ब्रह्मणः प्रभवोव्यक्तः । कृष्णश्च नाव्यक्तः । अवतारत्वात्तस्य व्यक्तिः स्पष्टैव । न चावतारात्पूर्वं सोव्यक्त एव तिष्ठतीति न कश्चिद्विरोध इति वाच्यम् । अवतारात्पूर्वमव्यक्तः कृष्ण एवासीद्ब्रह्मणो जनक इत्यत्र नास्ति किञ्चित्प्रबलं प्रमाणम् । विवस्वत्काले तु नासीदेव कृष्ण इति सर्वैरवतारवादिभिरङ्गीकर्तव्यमेव । अभूतपूर्वा श्रुतिरियं कृष्णो विवस्वत उपदेष्टेति । सर्वथैवाप्रसिद्धैषा वार्ता । अत एवार्जुनेनापि पृष्टमपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः । कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति । बाढं पृष्टम् ।

उत्तरं च दत्तं भगवता बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तपेत्यादिना । सत्यम् । दत्तोत्तरोयं प्रश्नः । तच्चोत्तरं न समीचीनम् । मा जानात्वर्जुनः कृष्णकथाम्, शास्त्रकारास्तु जानन्तु । न कुत्रापि केनापि शास्त्रकारेण विवस्वत्समये कृष्णावतारः प्रतिपादितः । अन्योपि कश्चनावतारस्तस्मिन्काले कृष्णस्य न प्रतिपादितः । कथं तर्हि कृष्णोक्तिः सामीचीन्यं व्रजेत् ? न च तदानीं नासीत्कृष्णावतारः किन्तु कृष्णनाम्नः कस्यचिद्विदुषो जन्मासीदेवेति बहूनि मे व्यतीतानीति-वचनादवगम्यते इति वाच्यम् । बाढमवगम्यताम् । कथं न पूर्वेषां शास्त्र-काराणामियमवगतिरासीदित्येव महान् प्रश्नः । अस्य नास्त्येव किमप्युत्तरम् । किं च यद्ययं योगः कृष्णेन विवस्वते प्रथममुपदिष्टस्तर्हि तस्योपयोगः क्व कदा चेतीदमप्यज्ञातमेव । विवस्वान्वा मनुर्वेक्ष्वाकुर्वा न दृश्यते योगस्यास्यो-पयोक्ता । एवं च मन्ये स्वभक्ताय प्रेम्णोपकारेण च वशीकृतायार्जुनाय यदृच्छया यत्किञ्चिदप्युपदिश्य स्ववचनं श्रद्धापयितुं विश्वासयितुं च प्रयतते भगवानिति । अहंशब्देन श्रीकृष्णेन किं विवक्षितमिति वस्तुतो नावगम्यते । संभवामि युगे युगे' 'आत्मानं सृजाम्यहम्' संभवाम्यात्ममायया' इत्याद्युक्त्या स आत्मानं कञ्चित्परमैश्वर्यसम्पन्नं ज्ञापयितुं वाञ्छति । दशम एकादशे च स आत्मानं परमात्मत्वेनैव स्पष्टतो विज्ञापयामास । 'मामेति सोर्जुन' (४।९) मामुपाश्रिता मद्भावमागताः (४।१०) इत्यादिभिर्वचनैः साक्षात्परमेश्वरत्वेनै वात्मानं स्फोटयामास । परंतु 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (१५।१७) 'परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन् पुरुषः परः' १३।२२) इत्या-दिषु स्वस्मात्पृथगेव कश्चनेश्वरः परमात्मा वा वर्तत इति स्वयं तेनोक्तम् । अवतारवादारम्भकं प्राथमिकं शास्त्रं किमिति न निश्चेतुं शक्यते । महा-भारतेपि विद्यत एवावतारवादः परं न महाभारतमेकस्मिन्नेव काले सम्पन्नम् । विदुषां मते विभिन्नेष्वेव कालेषु तस्य ग्रन्थस्यांशानां निर्माणम् । समाप्तिश्च समुद्रगुप्तकाले । ततो महाभारतादवतारवादस्य कः प्रारम्भिकः काल इत्यवैतुं न शक्यम् । वाल्मीकिरामायणेपि रामो विष्णोरवतारत्वेनैव

वर्णितः । परं वाल्मीकिरामायणं प्राचीनं महाभारतं वेत्यत्रापि महान् कोलाहलः । यत्किमपि भवतु । रामोप्यवतारः कृष्णोपीत्यत्र नास्त्यत्र वैमत्यमवतारवादिनाम् । अवतारेषु श्रीकृष्ण एव स्पष्टतो वक्त्यहमेवेश्वर इति अहमेव कर्तेति, अहमेव कारयितेति, अहमेवोपास्य इति, अहमेव कर्मफलविधायक इत्यादि । समस्तैव भगवद्गीता कृष्णाहङ्कारेण परिपूर्णा । 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि' इति वदता तेन स्वजन्मान्यप्युक्तानि । वर्णानां चतुर्णां निर्मातापि स एवेति ब्राह्मणाच्छ्रेष्ठं प्रतिपादितवानात्मानम् (४।१३) । अस्माकं मते तु एतादृगुपदेशस्य नास्ति किञ्चिन्महत्त्वमिति । स्ववशं नीतेर्जुने कथमपि स्वविश्वासं द्रढयित्वा युद्धं कारयित्वा दुर्योधनादीनामन्याय्याचारस्य प्रतिफलं ग्राहयित्वा सर्वत्र शान्तिसञ्चारः करणीय इत्येव तस्योद्देश्य इति । 'यदा यदा हि धर्मस्य' 'परित्राणाय साधूनामित्याद्युक्तिस्तु न सार्थिका साधिता भवति । न हि तेन स्वकाले धर्मस्थापनं केनापि रूपेण पूर्वस्मिन् युगे कृतम् । सत्यवादिना युधिष्ठिरेणाश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वेति प्रलापितमसत्यमेव । द्यूतप्रवणस्य युधिष्ठिरस्य न किञ्चिद्दण्डविधानं कृतं न वा भर्त्सना कृता । स्यात्, स्यादेव तस्याप्यभिमतं द्यूतं राजधर्मत्वेनेति । सुरापस्य ज्येष्ठबन्धोः स्वस्यैव न नियमनं तेन कृतम् । न शस्त्रं ग्रहीष्यामीति स्वस्यैव वचनस्य चक्रं ग्रहीतुमुद्यतेन तेन भङ्ग आपादितः । तेषां समये न प्रतीयते वर्णधर्मो नाश्रमधर्मः । तस्यैव हर्म्ये तस्यानेका आसन्स्त्रियः कृता हृता ऊढा वा । ततः एकपत्नीव्रतमनवाप्तावकाशमासीत्तत्समये । पञ्चपतिका द्रौपद्यशास्त्राचारासीत्तस्य प्रियतमा भक्ता । एकलव्यस्यांगुष्ठच्छेदेनधिकारिणो द्रोणस्य न तेन कृतः कश्चिद्दण्डः । अतो मिथ्या विजल्पितमेवैतत्सर्वमिति प्रतिभाति ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

हे परन्तप शत्रूणामुत्तापयितः, एवमनेन प्रकारेण मदुक्तेन पूर्वश्लोकेन परम्पराप्राप्तं परम्परया गृहीतमिमं योगमध्यायद्वयेन प्रोक्तं राजर्षयो

बिदुर्न ब्राह्मणा महर्षय इति। एतेन ज्ञायतेयं सर्व एवोपदेशः केवलं क्षत्रियमुद्दिश्यैव न ब्राह्मणवैश्यशूद्रादीन्। स योगो महता कालेनेहाद्य नष्टः। नाशस्य कारणमिह नावगमितम्। राज्ञां परम्परा त्वविच्छिन्नैवासीत्। बहवो राजानो धर्मपरायणा एवासन्। किं तर्हि कारण तद्योगपरम्परापराजयस्य ? तस्य नाशकालोपि न निर्दिश्यते. सत्ययुगे नष्टस्त्रेतायुगे वा ? द्वापरान्तात्पूर्वं द्वापरे वा ? इदमपि विचारणीयम्, किमर्थमस्य योगस्य पात्रं केवलं क्षत्रिया राजान एव नान्य इति ? कथं न ब्राह्मणाः पात्रं कथं न वैश्याः कथं न शूद्रा इति ? किं च कोसौ महान् कालो येनासौ योगो विनष्ट इति। विवस्वान्मनुरिक्ष्वाकुश्चैते त्रयः सत्ययुग एवासन्। मनुरेव राजा भवन् मनुस्मृतिं रचयाञ्चकारेति सानातनिकाः। अयस्य योगस्य ज्ञानं मनोरासीत्तेन कथं न तस्योल्लेखो मनुस्मृतौ कृतः। किं च यद्ययं योगः परम्पराप्राप्त आसीत्तर्हीक्ष्वाकोः परमपि सा प्रचलितैव स्यात्। ततश्च त्रेतायां रामपर्यन्तं सा गच्छेत् ? एवं च परम्परायाः विच्छेदः क्व भवतीति सर्वथाविज्ञातमेवेति ॥ २ ॥

स एवायं मया तेद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

हे अर्जुन, स एवायं पुरातनः प्राचीनो योगो मयाद्येह युद्धभूमौ ते तुभ्यं प्रोक्त उपदिष्टः। कुतोहमेवोपदिश्यते नान्ये युधिष्ठिरादय इति ? तत्र कारणमुच्यते। भक्तोसि मे मम सखा चेति हेतुद्वयं पुरस्कृत्य त्वय्येवायमुपदेशः स्थाप्यते। हि यत एतदुत्तमं रहस्यं विद्यते। पात्र एव रहस्योपदेश इति रहस्यम्। ननु भक्त इति तु रहस्योपदेशस्थान युज्यते परं न युज्यते सखेति च। बाढं, न युज्यते। कथं तर्हि सखा चेति ? अयमाशयः। समानख्यातिमान् सखेति कथ्यते। समानख्यातिमान् नातीव स्वस्मादतिरिच्यते। एवं च मत्तुल्यो भवन्नपि त्वं मम भक्तोप्यसीति त्वयि रहस्यस्थापनं कृतम्। एवं च रहस्याधानोपयुक्तो भक्त एव न सखेति समायातम् ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच—
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

स्वस्याजत्वसर्वेश्वरत्वादिप्रचिह्नयापयिषयाह—

अजोपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६॥

न जायत इत्यजस्तथाभूतोपि सन्, अव्ययात्मा न व्ययो यस्य सोव्ययः। अव्ययश्चासावात्मा चाव्ययात्माविनश्वरोपि सन्, भूतानां चराचराणामीश्वरः शास्तापि सन्, स्वां स्वीयां प्रकृतिं 'भूमिरापोनलोवायु' (७१४) रिति, 'अपरेयमितस्त्वन्याम्' (७१५) इति च श्लोकाभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यामुक्तामधिष्ठायावलम्ब्यात्ममायया सभवाम्युत्पद्ये। माया शक्तिः। अजोपीति अव्ययात्मापीति भूतानामीश्वरोपीति विशेषणत्रयेण न हि कश्चिद्विशिष्टोर्थः प्रतिपद्यते। यद्यन्येषां जीवात्मनामजत्वेनैवाव्ययात्मत्वेनैव च संमतानां जन्मन्यजत्वमव्ययात्मत्वं च प्रतिहन्येत तदैव विशेषणानां साथवयं संभवेत्। परं न भवति तथा। जीवात्मानोप्यजा एव सन्तो जायन्ते, अव्ययात्मानः सन्त एव जायन्ते। न भवत्यत्र कोपि विशेषः। शरीरसम्बन्धविशेष एव जन्मेति प्रागुक्तम्। सम्बन्धमात्रेण नाजत्वादिक व्याहन्येत। न च भवतु नाम जीवात्मनोप्यजत्वमव्ययत्वं चेदीश्वरस्त्र च न कथमपि संभवेद्भूतानामिति वाच्यम्। भूतानामीश्वरत्वस्य संभूतेर्बाधकाभावात्। एवं च विशेषणत्रयस्य वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। यदि जीवात्मा स्वरूपं विकृतिमापादयन् संभवेत्तदा कथमपि तानि विशेषणानि साफल्यं प्राप्नुयुः। ननु किमर्थं जन्म गृह्णातीश्वर इति ? स्वयमेवोक्तं भगवता 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय चदुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥' इति। सत्यमुक्तं निरर्थकं च तद्वचनम्। यदि स ईश्वरः सर्वशक्तिरेव स्यात्, सर्वशक्तेः परमेश्वरस्य जन्म गृहीत्वा दुःखनिचयमवमाननिचयं च सहित्वा साधुपरित्राणादिकार्यसम्पादन हास्यायैव भवेत्। शक्त्यैव सर्वं सुखेन सम्पादितं भवेत्। ततो न भवन्ति तानि जन्मधारणस्य प्रयोजनानि। तद्दर्शनात् सद्यः पापक्षयो भवेत्पापिनामिति नोह्यम्। रावणकंसादिषु व्यभिचारदर्शनात्। तदागमनेन सदाचारसमृद्धिर्भवतीत्यपि न वक्तव्यम्। तत्कालेतत्कालयोस्तारतम्यादर्शनाद्धर्मविषये। न च राक्षसानां वध एव प्रयोजन कल्पनीयम्।

पारमेश्वर्या शक्त्यै तत्सिद्धेः साहजिकत्वात् । न च वर्णाश्रमादिधर्माणां रक्षणमेव प्रयोजनमुपस्थातव्यम् । श्रीरामायणमहाभारतादिषु वर्णाश्रमादिषु विपर्ययस्य स्पष्टतो दर्शनात् । न चावतारकालीनतल्लीलास्मरणानुश्रवणाभ्यां ज्ञानाचारयोः समृद्धिर्भवतीतिवाच्यम् । रामकृष्णावतारकथासु तयोः समृद्धेः सामग्रीसमुच्चयस्याभावात् । एवं चेश्वरावतारो निरर्थक एवेति ॥६॥

भगवान् स्वजन्मनोवसरं विज्ञापयति—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

यदा यदा हि हे भारत धर्मस्य ग्लानिर्ह्रासो भवति, अधर्मस्य चाभ्युत्थानं वृद्धिर्भवति तदाहमात्मानं स्वं सृजामि शरीरेण येन केनचित्संबध्नामि । अत्र विचार्यते कोसौ धर्मो यस्य ग्लानिमभिवीक्ष्य भगवान् स्वं सृजतीति । चोदनालक्षणो धर्म इति जैमिनिराह । चोदनैव लक्षणं प्रमाणं यस्य स धर्मः । वेदबोधितार्थो धर्म इति यावत् । य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यत इति यः पुरुषं निश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्मशब्देनोच्यत इति च शबरस्वामिनः । यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म इति कणादः । शरीरेण प्रशस्तानि दानपरपरित्राणादीनि कर्माण्याचरति वाचा हितसत्यादीनि मनसा अजिघांसादीनि सेयं पुण्यरूपा प्रवृत्तिर्धर्म इति सर्वदर्शनसंग्रहे । वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति मीमांसकाः (लौ.भा.) । वेदेन प्रयोजनमुद्दिश्य विधीयमानोर्थो धर्म-इति मीमांसान्यायप्रकाशे । अर्थत्वे सति चोदनागम्यो धर्म इति जैमिनिन्यायमालायाम् । स च धर्मः कस्यचिन्मते यागादिः कस्यचिन्मते चापूर्वम् । धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् इति, श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् इति च मनुः । धर्मः षड्विधः वर्णधर्म आश्रमधर्मो वर्णाश्रमधर्मो गुणधर्मो निमित्तधर्मः साधारणधर्मश्चेति मिताक्षरा । श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितो यः स धर्मः प्रकीर्तित इति देवीभागवते । मूर्तिपूजामृतश्राद्धतीर्थयात्रास्पृश्यस्पर्शवर्जन-

वर्णधर्मपालनात्मको धर्म इति पौराणिकाः । दानदादिकं हि बहुविधं धर्मशरीरम् । भगवतः किंस्वरूपो धर्मोऽभिमत इति न स्पष्टम् । यागादिविषयो न तस्मै रोचत इति द्वितीयाध्याये गीतायामेव स्पष्टम् । मनूक्तधर्मह्रासमवेक्ष्य तदागमनमिति न विद्वदभिमतम् । तदर्थंप्रयासस्यादर्शनात् । पौराणिकाभिमतधर्मस्य तदानीमिदानींच समानैवावस्थितिः । किं च मृतानां श्राद्धे मूर्तिपूजायां च न कृष्णस्याभिमानः । अत एव पितॄनुद्दिश्य विह्वलतामुपेतस्यार्जुनस्य विलापं प्रलापत्वेनानूदितवान् । तीर्थयात्राया नामापि न जिह्वया योजितवान् । अस्पृश्यकथापि न विद्यते गोतोदरे । वर्णधर्माभिमतिरपि न दृष्टचरा भगवदाचारविचारेषु क्वचिदपि गीतायाम् । एवं च पौराणिकधर्मोऽपि नाभीष्टस्तस्य । मिताक्षराभिमतोऽपि धर्मो नापेक्षितः । तर्हि कीदृशो धर्मः का च ग्लानिस्तस्येति विवेचनीयम् । अन्याय्याचरणमेवाधर्मस्तदभावो धर्म इति मन्तव्यम् । कस्यापि स्वाधिकारात्प्रच्यावनमन्याय्याचरणमत्राभिप्रेतम् । इतो भिन्नः कश्चन धर्मो रामेण कृष्णेन वा रक्षित इति न ज्ञायते ॥७॥

शरीरधारणनिमित्तं व्याचष्टे—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधूनां सज्जनानां परित्राणाय दुष्कृतां दुश्चारिणां सज्जनोपमर्दनपरायणानां विनाशायावहननाय धर्मस्य न्याय्याचरणरूपस्य संस्थापनार्थाय स्थैर्याय युगे युगे समये समये संभवामि जन्म गृह्णामि । युगे युगे इत्यस्य न कृतत्रेताद्वापरकल्यादीनां ग्रहणम् । कृतयुगे बहूनामवताराणां पुराणेषूपवर्णनात् । अत्र यद्विचारणीय तत्सर्वं विचारितमुपरिष्टात् । प्ररोचनार्थं वोक्तिरियं न वास्तविकीति तु स्थितम् । धर्मसंस्थापनं न तृतीयो हेतुर्भगवज्जन्मनि । साधूनां परित्राणमसाधूनां च विनाश इति हेतुद्वयमेवावधार्यताम् । साधुपरित्राणमसाधुविनाश इत्येव धर्मः । तस्य सिद्धिरेव धर्मसंस्थापनम् । यद्यपि सत्ययुगे नृसिंहावतारस्य त्रेतायां रामावतारस्य द्वापरे कृष्णावतारस्य च प्रसिद्धेर्युगशब्देन सत्यत्रेतादीनां परिभाषितयुगानामेव ग्रहणं प्राप्नोति तथापि

समयार्थक एव युगशब्दोत्र प्रयुक्त इत्येव मन्तव्यम् । औचित्यात् । सत्ययुगे बहूनामवताराणां वर्णनावलोकनाच्च । यदा यदेतिप्रयोगस्य तथैव चारितार्थ्याच्च । यदा यदा सत्पुरुषा दुर्जनैः पीड्यन्ते तदा तदा भगवदागमनमितितात्पर्यम् ॥ ८ ॥

अप्रस्तुतमप्युक्तम्--

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

यः पुरुषस्तत्त्वतो मदुक्तेन प्रकारेण समये समये भवन्मे जन्म दिव्यं च मे कर्म वेत्ति, हे अर्जुन, स देहं त्यक्त्वा मरणानन्तरं पुनर्जन्म नैति न प्राप्नोति । तर्हि तस्य किं भवति ? स मामेति मां प्राप्नोति मुक्तो भवतीत्याशयः । अयं च मुरारेर्द्वितीयः पन्था नूतनः । नान्यः पन्था विद्यतेयनायेतिवेदवचस्तिरस्कृत्य भिन्नमेव मार्गं मुक्तेः प्रतिपादयति भगवान् । अत्रायमाशयः । दुर्जनसंहारायैव भगवतो जन्म । दुर्जनसंहाररूपं कर्मैव साध्यं जन्मना । यद्यदाचरति श्रेष्ठ इत्यस्याप्ययमेवाशयः । इदमेव जन्मनः कर्मणश्च भगवतो दिव्यत्वम् । दुर्जनानां संहारेण सतां रक्षणं भवति । एष एव परोपकारः । परोपकारप्रवणानां भगवत्प्राप्तिर्भवतीत्यत्र वैमत्येन न भाव्यम् । अत उपकार एव सर्वैरादर्तव्य इति परमार्थः । ननु परोपकारेण भगवत्प्राप्तिरूपा मुक्तिः कथं सिध्येत् ? भगवन्नामस्मरणेन सा कथं सिध्येदिति त्वयापि वाच्यम् । पवित्रं हि भगवन्नाम । पवित्रेण कर्मणा मुक्तिः सिध्येदेव । तद्वदुपकारोपि पवित्रं कर्म । तेनापि सिध्येदेव भगवती मुक्तिः । ननु ऋते ज्ञानान्न मुक्तिरिति श्रुतिप्रकोपः । भवतु नाम श्रुतेः प्रकोपः, श्री कृष्णस्य नास्ति भयं तस्य । ननु तर्हि वेदविरोधः । वेदविरोधादपि न बिभेति भगवान् । सत्यं परीक्षितं च सर्वैरेवोपदेष्टव्यम् । उपकारो मोक्षाधायक इत्यत्र न भवति विदुषां विवादः । वेदेषु यन्नोक्तं तन्नोपदेष्टव्यं तच्च नाचरितव्यमिति न जानाति भगवान् कृष्णः । वेदानुक्तमपि सत्यं हितं च वक्तुं प्रस्थानं परमेश्वरस्य ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

प्रस्तुतमेवोच्यते । वीतो विगतो रागो भयं क्रोधश्च येभ्यस्ते, मन्मया मदेकचिन्तका मामुपाश्रिता मदेकशरणा बहवः पुरुषा ज्ञानतपसा ज्ञानमेव तपस्तेन पूताः पवित्रीभूता मद्भावं मद्धर्मं निरतिशयानन्दरूपं निरतिशयकल्याणरूपं वा, आगता आ समन्ताद् गताः प्राप्ताः । नन्वत्र ज्ञानशब्देन किं विवक्षितं ब्रह्मज्ञानं वा सांख्यज्ञानं वा ? नोभयं विवक्षितम् । प्रस्तुतत्वाद्भगवद्दिव्यजन्मकर्मज्ञानमेवात्र ग्राह्यम् । किमर्थं भगवतो दिव्य जन्म भवति किमर्थं कीदृशं च तेन जन्मना स कर्म प्रवर्तयतीत्येव ज्ञानमत्र विवक्षितम् । ननु तस्य ज्ञानमात्रेण कथं पावित्र्य कथं च भगवद्भावागमनमिति ? उच्यते । न ज्ञानमात्रेण पावित्र्य न वा भगवद्भावा-गमनम् । परोपकारार्थमेव तस्य जन्म परोपकारार्थमेव तस्य कर्म चेति विदित्वा ये परोपकारार्थमेवात्र जीवन्ति स्म ते तद्भावं गता इति भावः । इमं सर्वमर्थं तपःशब्दः सूचयति । अन्यथा ज्ञानेनैतेन बहवः पूता मद्भा-वमागता इत्येवमुच्येत । ज्ञानतपःशब्दोच्चारणेन तज्ज्ञानं यदा तपःपूत-माचारं प्रवर्तयति तदा भगवद्भावापत्तिर्भवति । तर्हि ज्ञानतपसेत्यत्र कः समासः ? कर्मधारय एव । कथं तर्हि प्रवर्त्यप्रवर्तकभावः सिद्ध्येत् । सिध्येत् । शब्द-शक्तिमाहात्म्यात् । ननु भगवद्दिव्यजन्मकर्मज्ञानानन्तरं रागभयक्रोधानां साहित्य-मेव सिद्ध्येन्न राहित्यं कथं तर्हि वीतरागभयक्रोधा इत्युक्तम् ? उच्यते । रागो हि स्वार्थमयी प्रीतिः । भयं हृदयदौर्बल्यम् । क्रोधो दुर्जनसंहार-क्षमताज्ञानम् । भगवद्दिव्यकर्मणां याथार्थ्यतो ज्ञानेन रागभयक्रोधानां वीतता नासम्भविनी । मामुपाश्रिता इत्यस्य मदुपदेशमुपाश्रिता इत्यर्थः । भगवदुपा-श्रयस्याप्रस्तुतत्वात् । मन्मया इत्यस्यापि मामेवानन्यमुपदेशकं मन्वाना इत्यर्थः ॥१०॥

अपृष्टमेवाह—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

ननु भवतोच्यते वीतरागभयक्रोधा—मद्भावमागता इत्यादि, भवति च रागभयक्रोधाः साकल्येन स्फुरन्ति तर्हि कथं भवदुक्तौ सामञ्जस्यमित्याह— न मयि रागादयो दोषा विद्यन्ते किन्तु सरणिरेषा मे ये यथा मां प्राद्यन्ते मां प्रति वर्तन्ते तानहं तथैव तेनैव प्रकारेण भजामि तानुद्दिश्य तथैवाऽमपि वर्ते । प्रपदिरत्र वर्तने । भजिरपि तथा । ये रागेण मयि वर्तन्तेहमपि तान् प्रति रागी भवामि, ये मां भावयन्ति तानहमपि भावयितुमेव प्रयते, ये च मयि रक्ताक्षा भवन्ति तान् प्रत्यहमपि तथैव भवामि । ननु न भवति सिद्धान्तेन भवति रागादीनां निवृत्तिरिति । निवृत्तिव सा । कारणतो जायमानाः कचिद्रागादयो न दोषाधायका भवन्ति प्रत्युत गुणा एव ते । स्वभावतो ये रागिणो भयवन्तः क्रोधिनश्च तेषां ते दोषमुत्पादयन्ति । न मयि ते स्वभावतस्तिष्ठन्ति नैयत्येन । किमर्थमेवं भवाननुतिष्ठति ? हे पार्थ, यतो मनुष्याः सर्वशः सर्वथा मम वर्त्मानुवर्तन्ते । अहं लोकप्रसिद्धा व्यक्तिः । श्रेष्ठानुवर्तिनो हि लोकाः । यथाहं वर्तिष्ये लोका अपि तथैव वर्तिष्यन्त इति । शठेषु शाठ्यमिति कृष्णनीतिः । शठेषु सौजन्यं शठानां परासनं च गान्धिनीतिः ॥११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

किमर्थं लौकिकाः श्रेष्ठमनुसरन्तीत्याह—मानुषे लोके मनुष्याणामिति-यावत् । कर्मजा कर्मतो जायमाना सिद्धिः क्षिप्रं शीघ्रं भवति । हीति निश्चितमिति मत्वा कर्मणां कर्मसु सिद्धिं साफल्यं काङ्क्षन्तः कामयमाना मनुष्या इह लोके देवता विदुषो मनुष्यान् यजन्ते आद्रियन्ते । अयमसौ महान् । अनेन वर्त्मना प्रयतमानस्यास्य कर्मण्यस्मिन्सिद्धिर्जाता ततोस्माभिरपि स एव मार्गो ग्रहीतव्य इति मनुष्यस्वभावसिद्धो विचार इति श्रेष्ठानुसरणम् । न हि देवानामिन्द्रादीनां यजनमत्र विवक्षितम् । अनुपस्थितत्वात् । द्वितीयाध्यायोक्तस्वसिद्धान्तविरोधाच्च । किं च, देवताशब्दोल्लेखेनेन्द्रादीनामेव ग्रहणं कर्तव्यमित्याग्रहश्चेत्, अत्रेदं विचारणीयं कर्मशब्देन कीदृशं कर्म

विवक्षितम् ? न हि वर्णोचितानामाश्रमोचितानां व कर्मणां ग्रहणं कर्तव्यम्। देवतायजनेन त्रिनेत्र तेषां सिद्धेर्लोके दृश्यमानत्वात् । न हि वैदिकेषु ग्रन्थेषु वर्णकर्मसिद्ध्यर्थं विशिष्टा देवपूजा विहिता । यागा विहितास्तत्र प्रसिद्धाः शास्त्रसिद्धा देवाः पूज्यन्ते खलु, परं न सर्वेषां यागानामिहैव मानुषे लोके क्षिप्रं सिद्धिर्भवति । स्वर्गकामो यजेतेतिविधिवाक्यबोधितयागानुष्ठानानन्तरमेव न भवति तत्फलसिद्धिः । मरणानन्तरमेव परलोके सिद्धिस्तस्य शास्त्रसिद्धा दृश्यते । किं च कर्मणां सिद्धिर्मानुषे लोके क्षिप्रं भवतीतिकथनेन ज्ञायते-न्यस्मिंल्लोके तादृशी सिद्धिर्विलम्बेन भवतीति । तच्च नोचितम् । मनुष्य-लोकादितरेषु लोकेषु स्वर्गादिषु शास्त्राप्रसिद्धेः कर्मविधानस्यासिद्धेश्च । लौकि-कानां शास्त्राणां लोक एव प्रवृत्तिर्न स्वर्गादौ कथं तर्हि कर्मजायाः सिद्धेर्मानुषे लोके क्षिप्रभवनमुपदिष्टम् ? उपदिष्टम् । भगवत्त्वात् । कः खलु तथा वदन्तं तं वारयेत् । प्रस्तुतं चिन्त्यते । तर्हि कीदृशं कर्मात्रापेक्षितम् ? उच्यते । शत्रुपराजयरूपं दुर्जनमुखमर्दनरूपं चेतिविभाव्यताम् । अतः प्रथमं हि व्या-ख्यानं श्रेष्ठम् ॥१२॥

अन्यदप्यपृष्टमाह—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

चत्वारो वर्णा एवेति चातुर्वर्ण्यम् । स्वार्थे ष्यञ् । गुणकर्मविभागशो गुणविभागशः कर्मविभागशश्च मया सृष्टमिति नार्थोभिप्रेतः । गुणकर्म-विभागश इत्यपपाठः । गुणकर्मविभागत इति शुद्धः पाठः । गुणसहितानि कर्माणि गुणकर्माणि । गुणकर्मणां विभागो गुणकर्मविभागः । तेन गुणकर्म-विभागेन । तृतीयार्थे तसिः । गुणा न निराधारास्तिष्ठन्ति । आधारस्तेषा-मन्वेष्यः । पूर्वं कर्माणि निर्धारितानि वर्णा वा सृष्टा इति विवेचनीयम् । पूर्वं कर्माणि स्युस्तदा वर्णसृष्टिः संभाव्येत । एतानि कर्माणि यत्र स्युस्तत्र ब्राह्मणादिवर्णत्वमिति तु न युक्तम् । तेन तेन वर्णेन तानि तानि कर्माणि कार्याणीत्येव न्याय्यम् । कर्म क्रिया । क्रियाभिरेव सत्त्वगुणाः परिचेया

वर्णाश्च । रक्षादानक्रियया सत्त्वगुणः परिचीयते श्रमक्रियया रजोगुणः। क्रोधहननादिक्रियया तमोगुणः। सर्व एव गुणाः सर्वेषु मनुष्येषु तिष्ठन्ति । गुणानामाधारो न वर्णः, अन्तःकरणं जीवो वा। वर्णा गुणानामाधार इत्यौपचारिकः प्रयोगः। न हि सर्वे ब्राह्मणाः शमदमादिभिरेव सम्पन्नाः। रक्षणकर्तृत्वादयः क्रोधादयोऽपि तेषु वर्तन्त एव। यदा यस्य प्रयोजनं, तस्य गुणस्याविष्कारो भवति । न क्षत्रियाः केवलं हननादिपरायणाः, रक्षणमपि दानमपि ते कुर्वन्ति । न वैश्याः केवलं वाणिज्यमेवाचरन्ति तेऽपि शमदमादिसम्पन्ना भवन्त्येव। दयादानरक्षणपरायणा अपि ते भवन्ति । स्वरक्षणं पररक्षणं च सर्वैरेव वर्णैः कार्यमित्येव न्याय्यम् । दृश्यते च सर्वत्रेदमेव । सर्पाद्भीता ब्राह्मणादयस्तस्मादात्मानं रक्षितुं न क्षत्रियानाह्वयन्ति। आहूता अपि ते समये नागन्तुं शक्नुवन्ति । वने वासो ब्राह्मणानाम् । पुरे वासः क्षत्रियाणाम् । कथं स्यादुभयोः सम्बन्धः ? कथं वा स्यात्कृतं ब्राह्मणरक्षणं क्षत्रियेण ? अन्यत्र स्युः क्षत्रिया अन्यत्र च वैश्याः शूद्रा वा। कथं स्यादाह्वानं कथं वाह्वानश्रवणं कथं वागत्य समये तत्र रक्षणम् ? अतः स्वेनैव स्वात्मा सर्वैः रक्षणीय इति। अत इदमेव मन्तव्यं सर्वेष्वेव वर्णेषु समानरूपेणैव सत्त्वादयः सन्ति । एवं चेदमपि मन्तव्यमेव सर्वे मनुष्या ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाः सर्वे वैश्याः सर्वे च शूद्रा इति । एवं च चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टमित्युक्तिरपाहता । अग्रे गीतायां भगवता मनुमवमत्य वक्ष्यमाणा ब्राह्मणादीनां धर्मास्तु क्वाचित्का एव न तु सार्वत्रिकाः। भगवत्समय एव द्रोणादयो ब्राह्मणाः क्षात्रं धर्ममाश्रित्य जीवन्ति स्म । श्रीकृष्णः स्वयं क्षत्रियोऽपि ज्ञानोपदेशे संलग्न आसीत् । न तदानीं कश्चिद्वैरयोनुसन्धीयते। एकलव्यः शूद्रोऽपि क्षत्रविद्यायां सर्वश्रेष्ठ आसीत् । कर्णो वर्णसङ्करोऽपि महांस्तेजस्वी वीरश्चासीत् । भीष्मयुधिष्ठिरादयो धर्मोपदेशका आसन् । रावणो ब्राह्मणोऽपि क्षत्रियकर्मप्रवण आसीत् । अतो न दृश्यते कोऽपि धर्मः कस्मिन्नपि वर्णे नियतः । अतो भगवदुक्तवर्णधर्मा न नियताः। चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टमिति भगवतोक्तस्य न दृश्यते भूमौ कुत्रापि तस्य विजयः । नाङ्ग्लेषु नामेरिकेषु न राश्येषु नैटालेषु न जापानेषु न चैनेषु वर्णविवेको विजयते । न कौरानिकास्तान् वर्ण-

धर्मानवलोकयन्ति । भारतेपि न कोपि वर्णधर्मं पालयति । न जैना न बौद्धाश्च वर्णधर्मं पुष्णन्ति । वैदिकेष्वद्य न हि सर्वे कृष्णोक्तधर्ममर्यादां तन्वन्ति न पूर्वं तन्वन्ति स्म । तर्हि पराजितो भगवान् । वैयर्थ्यं गतस्तस्य श्रमो महान् । ननु पूर्वमुक्तं मनुमनादृत्य भगवान् ब्राह्मणधर्मान् प्रत्यपीपदिति तत्र पृच्छयते मनोरनादरे क आशयो भगवत इति ? उच्यते । अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा दानं परिग्रहश्चेत्यादि ब्राह्मणधर्मेषु भगवाननास्थ एव । अध्ययनमध्यापनं वेदानामेव । तच्च न भगवदिष्टम् । गीतायां कुत्रापि वेद-माहात्म्यं नावलोक्यते । अस्तु । हे अर्जुन तस्य चातुर्वर्ण्यस्याहमेव कर्ता । ततस्तत्कर्तारं मां विद्धि । तदकर्तारमपि मां विद्धि । विप्रतिषिद्धमुच्यते कर्तारं चाकर्तारं चेति । न हि कर्ता भवत्यकर्ता । न हि प्राणघातकः प्राण्य-घातको भवति । न हि पण्डितोपण्डितो भवति । कथं तर्हि भवेद्भगवान् कर्ता चाकर्ता चेति ? तत्कर्तृत्वं स्वगुणाय नेत्यकर्ता स इति तु न । स्वगुणायापि तदिति । इदानीं कृष्णो न वर्णबाह्यः । क्षत्रिय एव । क्षात्रधर्मं भुनक्त्येव । अतो न स्वगुणाय तत्कर्तृत्वमिति पराहतम् । अवश्यमत्र भगवान् भय-प्रतारितः । कीदृशं भयं निर्भयस्य तस्य ? उच्यते । यत्किञ्चित्कर्तृ-त्वमुपगताः सर्वे फलैर्निबद्धा भवन्ति । कृष्णस्तत्फलशून्यमात्मानमव-गमयितुं कामयते । विफल एव प्रयासः । अहं तत्कर्तेति स्मृतिरेव बन्ध-जनिका । कर्तृत्वाभिमान एव बन्धाय प्रभवति । किं च सर्व एव कर्तारो जननमरणमुखपतिता एव दृश्यन्ते । आत्मानं ततः पृथक्कर्तुमाह—अव्यय-मिति । अहमव्ययोस्मि । नास्ति मे व्ययो नाशः । यदि वस्तुतोहं स्यां कर्ता चातुर्वर्ण्यस्यावश्यमेव कर्तुर्भवेन्मे विनाशः । नाहं कर्ता, ततो न मे विनाशः । अव्ययोस्मीति । ननु यदि वर्णकर्तृत्वेन भगवतो नाशोनुसन्धीयते तर्हि जगत्कर्तृत्वेन सुतरां तस्य नाशोनुसंहितः स्यात् । स्यादेव । परं न स जगत्कर्ता । स्वभावस्तु प्रवर्तते । ननु अहं सर्वस्य प्रभवः (१०।८) "उद्भवश्च भविष्यताम्" (१०।३४) इत्यादीनां बहूनां भगवद्वचनानां विरोध उत्पत्स्यते । न विरोधः । लोकदृष्ट्या सर्वस्य जगतोहमेव कर्तेति न तत्त्व-दृष्ट्येति तात्पर्यम् । तर्हि कोसौ [illegible] भगवान् कर्ता भवति इति । भगवानेव

स्वयं कथं ब्रवीत्यहं कर्ता जगत इति । सत्यम् । लोकोक्तमनुवदति नत्वनुमोदते । लोकदृष्टिमेव कथमनुसरति स इति ? न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानामिति स्वसिद्धान्तरक्षणधियेति गृहाण ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

अपृष्टमेवाह । कर्माणि कृतानि क्रियमाणानि करिष्यमाणानि वा मां न लिम्पन्ति न बध्नन्ति । कुतः ? यतो न भवति मे मम कर्मफले स्पृहा । अनेन कर्मणा मयेदमाप्यमिति स्याच्चेदभिलाषोवश्यं कर्माणि मां लिम्पेयुः । नास्ति स्पृहा न ततः कर्मलेप इति । अनेन प्रकोरण मां यः पुरुषोभिजानाति परिचिनोति सोपि न कर्मभिर्बध्यत इति । अयमाशयः। आपतितं कर्तव्यं कर्म सावधानेन मनसा कर्तव्यं परं न तत्राभिमानः कर्तव्यो मया कृतमिति । कर्मफले स्पृहा तु सर्वेषां भवत्येव । कृष्णस्यापि सासीदेव । परन्तु नातिशयिता स्पृहा कर्तव्येत्येवाशयो भगवतः प्रतीयते । एवं ज्ञात्वा यः कश्चित्कर्म कुरुते न स दुःखमवाप्नोतीति ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

पूर्वैरपि पौर्वकालिकैरपि मुमुक्षुभिर्दुःखसम्बन्धमत्यन्तं प्रजिहासुभिरेवं ज्ञात्वा यथा मयोक्तमधुनैव तथा ज्ञात्वा कर्म कृतम् । यतः पूर्वैः पूर्वतरं कृतं तस्मात्त्वमपि कर्मैव कुरु । एवकारो विभिन्नक्रमः । कर्म कुर्वेव । ननु पूर्वतरमितिविशेषणस्य किं सार्थक्यम् ? उच्यते । पूर्वैः कृतं तदपि पूर्वतरमासीन्न नूतनम् । तेषामपि पूर्व्यैस्तथैव कृतमितिभावः । यद्यस्मत्पूर्वजानां कर्म तत्पूर्वजैरपि कृतत्वात्पूर्वतरमासीत्तर्हि तत्कर्म पूर्वतरमस्तीति कृत्वावश्यं कर्तव्यमिति भावः ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेशुभात् ॥१६॥

किं कर्म कर्मणः स्वरूपं किम् ? किमकर्माकर्मणः स्वरूपं च किमित्यस्मिन्विषये कवयोऽपि बुद्धिशालिनोऽपि मोहिता मोहं गता न निश्चित्यं प्राप्ताः । तत्ततस्ते तुभ्यं तत् कर्म प्रवक्ष्याम्युपदेक्ष्यामि यद् ज्ञात्वानगत्याशुभात्पापान्मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसीति । अशुभो हि बन्धः । ननु कर्मज्ञानाद्बन्धनिवृत्तिर्भवति कर्मानुष्ठानाद्वा ? यदि कर्मानुष्ठानात्कथं तर्हि यज्ज्ञात्वेत्युक्तम् ? उच्यते । ज्ञानपूर्वकं हि अनुष्ठानं श्रेयसे भवतीति ज्ञानस्य प्राधान्य सूचयितुमियमुक्तिः । कर्म तु करणीयमेव । अन्तरिन्द्रियव्यापारो बाह्येन्द्रियव्यापारश्च कर्मोच्यते । सामान्यतः सर्व एव जानन्ति कर्म, परं यत्कर्मतत्त्वमहं तुभ्यं बोधयितुमिच्छामि तत्तु न सर्वसामान्यप्रत्यक्षमिति रहस्यम् ॥ १६ ॥

न केवलं कर्मैव बोद्धव्यं तत्सम्बद्धमन्यदपि बोध्यमित्याह—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

अत्र कर्मणस्त्रैविध्यं समीहितम् । कर्म विकर्माकर्म चेति । तत्राह कर्मणोऽपि विषये कर्मणो वा स्वरूपं बोद्धव्यं ज्ञातव्यम् । विकर्मणोऽपि स्वरूपं बोद्धव्यम् । अकर्मणोऽपि स्वरूपं बोद्धव्यमिति । हिर्हेतौ । यतः कर्मणो गतिः स्वरूपं गहना गहनं दुर्निरूपमितिभावः । ननु किं नाम विकर्म किं चाकर्मेति ? उच्यते । विकर्म विरुद्धं कर्म । येन कर्मणा स्वस्य परस्य च हानिः संभाव्यते तत्कर्म विकर्म भवति । शास्त्रप्रतिषिद्धं कर्म विकर्मेति तु अर्थादायातम् । अवशिष्टमकर्म विवेचनम् । तदपि विचार्यते । द्विविधेन्द्रियव्यापारः कर्मेत्युक्तम् । तत्र बहिरिन्द्रियव्यापारस्तु सर्वैरवगम्यते । अन्तरिन्द्रियव्यापारस्तु न सुकरोऽवगन्तुमन्यैः । अतोऽकर्मशब्देन मानसं कर्मैव ग्रहीतव्यम् । एवं चायं निष्कर्षः—बाह्येन्द्रियव्यापारः कर्म । स्वपरहानिसम्पादको व्यापारो विकर्म मानसव्यापारोऽकर्मेति ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

यः कृत्स्नकर्मकृत्साकल्येन कर्मकर्ता कर्मणि बहिरिन्द्रियव्यापारे प्रवर्तमानोपि पश्यत्यकर्म; नैवाहं किञ्चित्करोमीति मन्यते निष्कामो भवन् । यश्चाकर्मणि मानसे कर्मणि प्रवर्तमाने निरुद्धेपि बहिरिन्द्रियव्यापारे कर्म पश्यति, किञ्चित्करोमीति, स मनुष्येषु मध्ये बुद्धिमान् स च युक्तो मनोनिग्रहज्ञानवान् । एवमत्र परमार्थः । कृत्स्नकर्मकृदिति विशेषणं 'य' इत्युद्देश्ये योजनीयं न तु 'स' इतिविधेये । भवतु नाम कश्चित्सर्वेषामुचितकर्मणां कर्ता परन्तु यदि सोनासक्त एव कर्मणि कर्मफले वा तर्हि किञ्चित्कुर्वाणोपि वस्तुतः सोकर्तैव । अतस्तस्य कर्मण्यकर्मदर्शनमुचितमेव । नान्यथादर्शनमिदम् । यश्च बाह्येन्द्रियव्यापारशून्योपि मनसा चिन्तयन्निदं कृतमिदं करिष्यत इति समासीनो विद्यते स बाह्यतः किञ्चिदकुर्वाणोपि स्वं कर्तेति मन्यतेवश्यं स बुद्धिमान् । प्रायेण मनुष्या बहिरिन्द्रियव्यापारमेव कर्म मन्यन्ते तेन चात्मानं निर्दोषान्सदोषान्वा निर्धारयन्ति । परं मानसं कर्म तेवगणयन्त्येव । न च सहते स्थितिमिमां भगवान् । ततो मानसं कर्मापि कर्मैवेति मन्तव्यम् । अत एवेदृङ्मनुष्यो युक्त इत्युच्यते । युक्तः परोपकारपरायणः । युक्तशब्दस्यायमेवार्थः पञ्चमेध्यायेपि 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वे' (५।१२) त्यत्र । तत्रैवायुक्तशब्दसमभिव्याहारेणाप्ययमेवार्थः स्पष्टतया प्रतीयते । अत्रायं भावः । बाह्येन्द्रियैः शुभे कर्मणि क्रियमाणेकर्मदर्शनमेव युक्तम् । अन्तरिन्द्रियैरशुभे विचारे विचार्यमाणे कर्मदर्शनमेव युक्तम् । यद्युभयैरिन्द्रियैः शुभमेव कर्मानुष्ठीयते तदकर्मैवेति मन्तव्यम् । पूर्वं भगवतोक्तं कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेर्जुन । कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ (गी० ३।६–७) तत्सर्वमत्र साध्वनुसन्धेयम् । ननु त्रिविधं कर्मोक्तं कर्मेति विकर्मेत्यकर्म चेति । अत्र कर्माकर्मणी एव विवेचिते न तु विकर्मेति. तत्कथम् ? इत्थम् । विकर्म तु प्रसिद्धमेव । अकर्मेत्यप्रसिद्धम् । कर्म प्रसिद्धमपि विवादानुशीलितम् । अतो विकर्मणो न विचारः । स च न भवति दोषाय । संशयकवलितमविचारितमेव दोषायेति विदुषां संमतम् ॥१८॥

इदानीमुपसहरति प्रकरणमिदम्—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

यस्य सर्वे सर्वाणि समारम्भाः कर्माणि, अकर्माणीत्यपि ग्राह्यम् । कामसंकल्पवर्जिताः कामः कर्मफलेच्छा, सङ्कल्पः कामप्रवर्तको वृत्तिविशेषः । ताभ्यां वर्जिता वर्जितानि रहितानि भवन्ति बुधाः कर्मतत्त्वमर्मज्ञास्तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं पण्डितमाहुः । न हि परोपकाराय कृतैः कर्मभिर्मया किमपि स्वस्मै प्रापणीयमितियज्ज्ञानं तदेवाग्निस्तेन दग्धानि फलजननेसमर्थी कृतानि कर्माणि येन यस्य वा स पण्डित इत्याशयः । नात्र समारम्भशब्देन वैदिकयागादयो ग्राह्याः । तेषां कृष्णेनैव भर्त्सितत्वान्महाधनसाध्यानां तेषामारम्भे निष्कामाणां जनानां धनकालयोरुपयोगस्य व्यर्थत्वाच्च । ननु ज्ञानाग्निदग्धकर्माणमित्यत्र प्रारब्धसंचितक्रियमाणानां त्रयाणामेव ग्रहणं प्रारब्धेतरयोर्द्वयोर्वेति ? त्रयाणामेव ग्रहणम् । प्रारब्धसंकोचे कारणाभावात् । न च 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' इति गीतावचनमेव प्रारब्धसंकोचे कारणमितिवाच्यम् । 'ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इति गीतावचन उपात्तः सर्वशब्दो ज्ञानिनां सर्वेषां कर्मणां दाहोपपत्तिं सूचयति । न च ब्रह्मसूत्रविरोधात्प्रारब्धसंकोचो दुर्निवार्य इतिवाच्यम् । सर्वेषु विषयेषु सर्वेषां तत्त्वचिन्तकानां मतैक्ये राजाज्ञामात्रात् । ब्रह्मसूत्रं ज्ञानान्मोक्षं स्वीकरोति । कृष्णो ज्ञानादपि कर्मणोपि भक्तेरपि । मनुः कृतापराधस्य ब्राह्मणस्य देहदण्डविधानं न स्मरति । कृष्णो भारतयुद्धे द्रोणादीनां ब्राह्मणानां वधस्यौचित्यं साधयति । मनुः शूद्राय नादिशति ज्ञानम् । कृष्णः शूद्रस्यापि चण्डालस्यापि मोक्षाधिकारं मन्यते । पुराणानि वेदाश्चापि पितॄणां पिण्डमुदकं च कामयन्ते । कृष्णस्तत्रौदासीन्यं सेवते । वेदा यागादीन् कर्मकलापान्विदधति कृष्णो गालिप्रदानपूर्वकं तदनुष्ठातॄँस्तिरस्करोति । तेन सर्व एव तत्त्वचिन्तकाः सर्वस्मिन्विषये समानमतिका भवेयुरिति न भवितुं शक्यः कश्चन नियमः । किं च प्रारब्धो ग्रन्थस्त्यज्यते, प्रारब्धं भोजनं परिहीयते, प्रारब्धं ग्रामगमनं

निरुध्यते, प्रारब्धः सत्याग्रहः स्थग्यते सत्यपरिहार्ये कारणे । एवं प्रारब्धं कर्मापि नश्यति तत्र का पीडा कस्यचित् ? किं च पूर्वजन्मकृतानां कर्मणां फलभोगरूपं प्रारब्धं तु फलभोगमन्तरेण न नश्यतीति विश्वासो मोहमूलक एव न विचारमूलकः । तादृशं किञ्चित्प्रारब्धं नास्त्येव । ननु तादृशं प्रारब्धं नास्तीत्युक्ते पूर्वजन्मैव नास्तीत्यायातं भवति । बाढम् तदायातु । न भयम् । नास्त्येव पूर्वजन्म नास्त्येव भाविजन्म । इदमपि गीताया एव मतम् । अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतमितिगीतावचनानुप्राणितमेवैतन्मतमिति नात्राश्चर्यं सेवनीयं न वा ग्लानिः कर्तव्येति । योगदर्शने पातञ्जलमतं पतञ्जलेरेव न कृष्णस्येति ॥१९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

कर्मण्यकर्मेति प्रागुक्तम् । तस्यैवायं प्रपञ्चः । कर्मफलासङ्गं कर्मणां फलानि मे स्युरित्यासङ्गमासक्तिं त्यक्त्वा नित्यतृप्तः सन् । निराश्रयः फलानाश्रयश्च भवन् यः कर्मण्यभिप्रवृत्तो नितरां प्रवृत्त इव तिष्ठति तथापि स नैव किञ्चित्करोति । इदमेव कर्मण्यकर्मदर्शनम् ॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

निराशीर्निष्कामः । यतचित्तात्मा यतं नियतं वशीकृतं वा चित्तं विचारसाधनमात्मा मनश्च येन सः । अनेनाकर्मणि कर्मदर्शनमुक्तम् । त्यक्तसर्वपरिग्रहस्त्यक्तसर्वविषयसामग्रीको जनः केवलं शारीरं स्वकुटुम्बशरीरनिर्वाहार्थं कर्म कुर्वन्किल्बिषं दोषं नाप्नोति न प्राप्नोति । ननु कीदृशो दोषः ? दोषोत्र नाधर्मः किन्तु मानस उद्वेगादिकः ॥२१॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्ध्यते ॥२२॥

किञ्चित्प्रासङ्गिकमपीहोच्यते । यदृच्छालाभसन्तुष्टो यदृच्छया प्रयासमन्तरेणाल्पायासेनेतितात्पर्यम् । यो लाभस्तेनैव सन्तुष्टः । द्वन्द्वातीतो हर्षशोका-

दीनि द्वन्द्वान्यतीतेतीत्य वर्तमानः । विमत्सरो मात्सर्यरहितः । प्रयासे कृते सिद्धौ कार्यसिद्धौ, असिद्धौ कार्य्यासिद्धौ च समः समत्वेन हर्षशोकादिराहित्येन स्थितः । एवंभूतो यः स कृत्वापि कर्म, न निबध्यते संसारानलसंतप्तो न भवति । नार्जुनायेदं वचनं न च कृष्णायापि न वा कस्मैचिदुत्कर्षमभिलषते मनुष्याय । मुमुक्ष्वर्थमेवेद वचनम् । मुमुक्षवश्च कतिचित्काः । ततो नेदं वचनमत्र युज्यते ॥२२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

इदमपि वचन मुमुक्षुमेवोद्दिश्योक्तं सामान्येनापि योजनीयम् । गतसङ्गस्य कर्मणि कर्मफले वासक्तिरहितस्य मुक्तस्य लोकशास्त्रबन्धनविमुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसो ज्ञानेवस्थित चेतो यस्य तस्य यज्ञाय परोपकारायाचरतः कर्मेति शेषः । समग्रं समस्तं निरवशेषं कर्म प्रविलीयते दुःखाय सर्वथैव न प्रभवतीतिभावः । न हि यागादिभिः कर्मभिः परमात्मा प्रसीदति । उक्तं च स्वयमेव भगवता 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः । अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव इति (५।१५) । अतो यज्ञशब्दस्योक्तार्थ एव समीचीनः । अत्र मुक्तस्येत्यस्य प्रसिद्धां मुक्तिं प्राप्तस्येति नार्थः । यज्ञायाचरतः कर्मेतिवचनस्यासङ्गत्यप्रसङ्गात् । यज्ञाय कर्माचरत इत्यस्यैव गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसश्चेति त्रयं विशेषणम् । मुक्तस्येत्यस्य देहाभिमानशून्यस्येत्यपि नार्थः । तदर्थस्य गतसङ्गस्येत्यनेनैव लाभात् । ज्ञानं चात्र न जीवब्रह्माभेदज्ञानम् । न वा भगवदुपासनाजनितानुस्मृतिविषयो महापुरुषः । भगवन्महापुरुषयोरनैक्यप्रसङ्गात् । न वा भक्तिरूपम् । अनवसरोक्तित्वप्रसङ्गात् । तर्हि कोर्थो ज्ञानशब्दस्येहेति चेच्छृणु । तृतीयाध्याय उक्तः सर्व एवोपदेशो ज्ञानशब्दार्थ इति गृह्यताम् ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥२४॥

अर्प्यतेनेनेत्यर्पणं मन्त्रसमवायः । मन्त्रोच्चारणपूर्वकं हि हविरग्नौ निक्षिप्तं भवति । एवं च मन्त्रा ब्रह्म । हविरपि ब्रह्म । हूयत इति हविर्द्रव्यादि । ब्रह्माग्नौ ब्रह्मरूपेग्नौ ब्रह्मणा यजमानेन यद्धुतं तदपि ब्रह्मैव । तेनेति हेतौ तृतीया । तेन हेतुनेत्यर्थः । न हि ब्रह्मव्यतिरिक्तं किञ्चिदपीहास्तीतिहेतुना ब्रह्मकर्म-समाधिना ब्रह्मैव कर्माणि तत्र समाधिर्यस्य तेन मनुष्येण ब्रह्मैव गन्तव्यं प्राप्तव्यमिति । मन्त्राणां वेदात्मकत्वाद्ब्रह्मत्वप्रतिपत्तावपि कथं हविर्ब्रह्मेति, अग्निर्ब्रह्मेति, कर्म ब्रह्मेति च भगवदुक्तिः संगच्छते ? उच्यते । ब्रह्मकार्यत्वात् सर्वेषां ब्रह्मोक्तिः । ननु ब्रह्मकार्यत्वमेव सर्वेषामसिद्धम् । न तस्य कार्यं करणं च विद्यत इत्युपनिषद्वचनात् । नासिद्धम् । न हि साक्षात्कार्यत्वं सर्वेषां ब्रह्मणः । किं तर्हि ? विशेषणद्वारेतिब्रूमः । किमिदं विशेषणम् ? चिदित्यचिदिति च विशेषणे ब्रह्मणः । सर्व एव विकारा अचिद्रूपे विशेषणे संभवन्तो विशेष्य उपचर्यन्ते । विशेष्यविशेषणयोरभेदस्वीकारात् । अथवा स्वतोपि ब्रह्म कर्तृ जगतः कार्यस्य । चिदचिती तस्य साधने । तर्हि का गतिरुक्तोपनिषदः ? समीचीना गतिः । कथम् ? इत्थम् । तस्य परमेश्वरस्य किञ्चित्कार्यं कर्तव्यं नास्ति पूर्णकामत्वात् । कार्यं नास्ति ततः करणमपि तस्य नास्तीति तात्पर्यम् । ननु कथमाकस्मिकमुत्थानमस्य श्लोकस्य ? नात्र विचारणा कर्तव्या । सर्वमत्राकस्मिकमेव । सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिरेव जनः प्रशस्यो नान्य इति श्लोकस्यास्याभिप्रायः ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः (४।२४) इत्यारभ्यापरे नियताहाराः (४।३०) इत्यन्तं बहुविधा यज्ञा उच्यन्ते । तदनन्तरमेवैतेषां यज्ञानां परिणामो वक्ष्यते । अपरे योगिनः कर्मयोगिनो दैवमेव यज्ञं पर्युपासते । ननु को नामासौ दैवयज्ञ इति ? उच्यते । देवा इन्द्रियाणि । तत्सम्बन्धी यज्ञो दैवयज्ञ इति । ब्रह्मार्पणमितिश्लोकेन सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिरुक्ता । अनेन च विभिन्नदेवदृष्टिरुच्यते । ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैव परोपकारेणैव । हेत्वर्थे तृतीया । उपजुह्वति ॥२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

दैवमेव यज्ञं विवृणोति । अन्ये योगिनः श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि संयमाग्निषु संयमाख्येष्वग्निषु जुह्वति संयमेन तानि स्वेच्छया स्वविषये गच्छन्ति निवार्यन्त इतिभावः । एवमन्ये शब्दादीन्विषयानिन्द्रियविषयाग्निषु जुह्वति । अयं भावः । किञ्चिदेव नवीकृत्यात्रोच्यते । शब्दादयो ये विषयास्तानिन्द्रियाग्निषु जुह्वतीत्यस्येन्द्रियाणां विषयेषु रुचिं केचन योगिनो निवारयन्तीति तात्पर्यम् ॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

अपरे योगिनः सर्वाणीन्द्रियकर्माणि कर्मेन्द्रियकर्माणीतिभावः । प्राणकर्माणि श्वासप्रश्वासादीन्यात्मसंयमयोगाग्नौ । आत्मा मनः । मनःसंयमरूपो यो योगः स एवाग्निस्तस्मिन् ज्ञानदीपिते विचारसम्पन्ने जुह्वति । कृत्याकृत्यग्राह्याग्राह्यादिज्ञानेनैव मनःसंयमो भवितुमर्हति । अतो मनःसंयमरूपाग्नेर्दीपकत्वं ज्ञानस्योक्तम् । मनसा सर्वेषां कर्मेन्द्रियाणां प्राणानां श्वासप्रश्वासादीनां चापरे योगिनो निग्रहं कुर्वन्तीत्युक्तम् ॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

बहवो यतयो योगिनः संयमिनः सन्ति । तेषु केचन द्रव्ययज्ञा द्रव्यव्ययसाध्ययज्ञकर्तारः केचन तपोयज्ञास्तप एव यज्ञो येषां तथाभूताः, केचन योगयज्ञा इन्द्रियसंयमनक्रियापरायणाश्चित्तवृत्तिनिरोधरूपयज्ञकर्तारः । तथापरे स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च स्वाध्यायो वेदाध्ययनम् । वेदाध्ययनमुपलक्षणं सर्वेषां पवित्रग्रन्थाध्ययनस्य । स्वाध्यायाज्जातं यज्ज्ञानं तदेव यज्ञो येषां तथाभूताः सन्ति । स्वाध्यायाज्जातं ज्ञानं स्वपरहितावबोधः । एते सर्व एव यतयः संशितव्रतास्तीव्रव्रता एव सन्ति ॥२८॥

अन्येपि योगिनः सन्तीत्याह—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

तथापरेभ्यो योगिनोपाने वायौ प्राणं प्राणवायुं तथा प्राणेपानमपानवायुं जुह्वति स्थापयन्ति । एवं च प्राणापानयोर्गती रुद्ध्वा नियम्य प्राणायामपरायणा भवन्तीतिशेषः । अपाने प्राणस्य होमः पूरकाख्यः प्राणायामः । प्राणे चापानस्य होमो रेचकाख्यः प्राणायामः । प्राणापानगतिरोधनं हि कुम्भकाख्यः प्राणयामो भवतीति ॥२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अपरे योगिनो नियताहाराः कृतभोजनसंयमाः सन्तः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति प्राणातिरिक्तापानव्यानोदानसमानाख्यान् प्राणान् प्राणेषु । लीनान् कुर्वन्ति । एते सर्वेपि पूर्वोक्ता यज्ञविदो यज्ञज्ञातारः सन्ति सर्वे च यज्ञेन क्षपितकल्मषा निरस्ताखिलमलनिकाया भवन्तीतिभावः । उपर्युक्तानेतान् यज्ञानाचरतां सकलकल्मषहानिर्भवतीतितात्पर्यम् ॥३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोस्त्ययज्ञस्य कुतोन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

यज्ञः परोपकाराय कृतं कर्म । उपरिष्टादुक्तानि यज्ञाख्यानि सर्वाण्येव कर्माण्युपकारायैव कर्तव्यानि । ननु प्राणायामयज्ञेन क उपकारः सिध्येत् ? उच्यते । प्राणायामेन मनसो देहस्य च स्वास्थ्यं रक्षितं भवेत् । स्वास्थ्यसम्पन्न एव परोपकारं कर्तुं शक्नोति । नास्ति यस्य मनः स्वस्थं देहो वा स्वस्थस्तस्य परोपकारप्रवणतैव न स्यादिति । यज्ञशिष्टामृतभुजो यज्ञाय शिष्टान्यनुशिष्टानि यान्यमृतान्यमृतोपमकर्माणि । न मृतानि नष्टानि भवन्तीत्यमृतानि । कृतानि कर्माण्यपि भोगपर्यन्तं स्ववतिष्ठन्त एवेतितान्यमृतान्युक्तानि । तानि भुञ्जन्ति पालयन्तीति यज्ञशिष्टामृतभुजः । भुज पालनाभ्यवहारयोः ।

शिष्टमित्यस्यावशिष्टमित्यर्थकल्पना न्यायादपेता। शासु अनुशिष्टौ। क्तः। शासेरनुशिष्टिरेवार्थो न त्ववशिष्टिः। परोपकारार्थं कर्मणां कर्तारः सनातनं ब्रह्म यान्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। यश्चायज्ञो भवति न कञ्चियज्ञं सम्पादयति तस्य नायं लोकः सुखकरः शान्तिप्रदो वेतिशेषः। हे कुरुसत्तम, अन्यो लोकः कुतः सुखकरः शान्तिप्रदो वा भवेत्? ननु सनातनमितिब्रह्मणो विशेषणं किमर्थम्? तत्तु सनातनमेवेति डिण्डिमः। उच्यते। मम योनिर्महद्ब्रह्म' (१४।३) इति महत्तत्त्वेपि ब्रह्मशब्दो गीतायामेव प्रयुक्तः। मा भूदयं भ्रम इति सनातनमिति विशेषणम्। अयं भावः। एतैः सर्वैरेव यज्ञैरन्यैरप्यनुक्तैः स्वस्य परेषां चोपकारो भवति। इन्द्रियदमनरूपयज्ञेन प्राणायामयज्ञेन च स्वस्यैवोपकारो महान् शान्तिसम्पादनरूपो विषयानिर्हाररूपश्च सम्पादितो भवति। द्रव्ययज्ञैः परेषामुपकारः साध्यते। स्वस्य परस्य चोपकारं कृत्वैव यो जीवति स सनातनं ब्रह्म प्राप्नोति। कृष्णस्येयं पद्धतिः सर्वेषां शुभकर्मणां फलं ब्रह्मप्राप्तिर्भवतीति महता रवेणोच्चारणमिति। यथा 'समदुःखसुखोमृतत्वाय कल्पते (२।१५) धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते (२।३१) सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (२।३८) बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि (२।३९) स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् (२।४०) कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ (२।५१) विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (२।७१) एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वास्यामन्तकालेपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति" (२।७२) परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ(३।११) यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः (३।१३) असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः (३।१९) कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः(३।२०)ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः। श्रद्धावन्तोनसूयन्तो मुच्यन्ते तेपि कर्मभिः॥ (३।३१) जन्मकर्म च···। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति (४।९) वीतरागभयक्रोधा···पूता मद्भावमागताः (४।१०) इति मां योभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते (४।१४)

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् (४।१६) परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् । यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ (१४।१) आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् (१६।२२) समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते (४।२२) यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते (४।२३) ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम् (४।२४) इत्यादि । पद्धतिश्चेयं विवेकपूर्विका । येन केनापि साधुना वर्त्मना गच्छतां मनुष्याणां मुक्तिर्निश्चितैवेति भगवदाशयः ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

एवमुक्तप्रकारेण बहुविधा यज्ञा ब्रह्मणो महतो मुख आरम्भ सृष्ट्यारम्भ इति यावत् । महत्तत्त्वादेव स्थूलसृष्टेरारम्भोऽभिमतस्तेन ब्रह्मणो मुखे इत्युक्तम् । वितता विस्तृताः सन्ति । तान्सर्वान् कर्मजान्विद्धि जानीहि । ननु किमेतत्कर्मजानिति ? कुतो न कर्मैवेति ? सत्यम् । यज्ञादिकं सर्वं कर्मैव । कर्म क्रिया । ते सर्वे यज्ञाः क्रियारूपा एव । संयमरूपो यज्ञोऽपि मनइन्द्रियनिग्रहरूपेण कर्मणैव सम्पाद्यते । तपोयज्ञाः प्राणायामाश्चापि मनोदेहादिव्यापारसाध्या एव । कर्मभिरेव कर्माणि साध्यन्त इतिसर्वं प्रसिद्धम् । अतः सुष्ठूक्तं कर्मजानिति । एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे दुःखमुक्तो भविष्यसि । सर्वाण्येव दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपमुक्तिसाधनानि कर्मजानीति ज्ञात्वा कर्मोपासा कर्तव्येतिभगवद्वादम् ॥ ३२ ॥

स्वमतं निर्धारयति—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परन्तप द्रव्यमयाद्यज्ञात्प्रचुरद्रव्यसाध्याद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः शास्त्राध्ययनानुगुणमननरूपोऽथवा तृतीयाध्यायोक्तरूपः श्रेयान् श्रेयस्करः । कुतः ? हे पार्थ सर्वमखिलं नावशिष्टं किमप्येवंभूतं सज्ज्ञाने परिसमाप्यते कर्म । ज्ञाने सत्येव सर्वेषां कर्मणां परितः सम्यगाप्तिर्भवतीति ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

हे परन्तप, प्रणिपातेन ज्ञानिनां वैनम्याश्रयणेन परिप्रश्नेन जिज्ञासया सेवया तदाज्ञापरिपालनरूपया तज्ज्ञानं विद्धि जानीहि । ननु तज्ज्ञानं तु भवतैव बोधितं कुतो ज्ञानिनामाश्रयणमिति चेत्सत्यम् । त्वां द्वारीकृत्यान्येपि त्वादृशा ज्ञानिसांनिध्यं सेवन्तामित्युपदिश्यते । तत्त्वदर्शिना रहस्यवेदिनो ज्ञानिनो ज्ञानवन्तस्तज्ज्ञानं ते तुभ्यमन्येभ्यः सर्वेभ्योपि तत्समीपं प्राप्तेभ्य उपदेक्ष्यन्ति । तादृग् ज्ञानं रहस्यवेदिभ्यो वेद्यमितितात्पर्यम् ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

तस्य ज्ञानस्य माहात्म्यमुच्यते । यज्ज्ञानं ज्ञात्वानुभूय हे पाण्डव, एवमनेन प्रकारेण मोहं पुनर्न यास्यस्यधिगमिष्यसि । येन च ज्ञानेन भूतान्यशेषेण साकल्येनात्मनि स्वस्मिन्नथ च मयि द्रक्ष्यस्यनुभविष्यसि । अयमाशयः । तत्त्वदर्शिभिर्ज्ञानिभिरुपदिष्टेन ज्ञानेन सर्व एव मनुष्या अन्ये च प्राणिनस्त्वदभिन्ना मदभिन्नाश्चेति त्वया विज्ञातं भविष्यति । नन्वस्य ज्ञानस्य सम्प्रति प्रस्तुतेवसरे किं प्रयोजनम् ? कर्तव्यं त्वस्ति युद्धम् । युद्धे ज्ञानस्यैतस्य क उपयोगः ? उच्यते । इमे गुरव इमे च बान्धवा इमे च स्याला इमे च श्वशुरा इमे च पुत्रा इमे च पौत्रा इत्येव मोहोर्जुनस्य युद्धकाल इति प्रथमाध्याये द्वितीये च स्पष्टम् । ज्ञान्युपदिष्टेन ज्ञानेन कर्मनिष्ठा रक्षिता भवेत् । देशजातिकुलविनाशायोद्यतानां व्यापारेण न भवति कस्याप्युपकारः स्पष्ट इति च विवेकोदयः स्यात् । ततश्च कर्मण्यभिप्रवृत्तिः स्यात् । नन्वनेन युद्धेन कर्मणार्जुनेन कथं कस्योपकारः साधितो भवेत् ? सर्वेषामेव । दुर्योधनादीनां चिरजीवित्वे सर्वेषां महद्दुःखं स्यात् । सपदि तस्य तदनुयायिनां च वधे सर्वदुःखनिवृत्तिः स्यात् । ननु दुर्योधने शासति प्रजा नासीत्प्रजानां किमपि दुःखमिति । न शक्यते वक्तुमेतत् । पाण्डवपक्षीयाणामखिलानां दुःखमेवासीत् । दुर्योधनपक्षीयाणामपि भीष्मा-

दीनां दुःखमेव । बहूनामेव पाण्डवेषु पक्षपात आसीत् । अतः सर्व-दुःखनिवृत्तिरेकं प्रयोजनम् । अन्यायविजयमाकलय्य मा बहवोन्यायाचारा भूवन् मा च तेन नरकाधिकारिणो भूवन्निति धिया पाण्डवेन योत्स्यमानं युद्धं परोपकारसाधनायैवासीदिति ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

अपि चेत् सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापकृद्भ्यस्त्वं पापकृत्तमोसि पापकृत्सु पापतमोसि तदानेन ज्ञानप्लवेनैव ज्ञानरूपेणैव प्लवेन सर्वं वृजिनं पापसागर-मित्यर्थात् । सन्तरिष्यसि सम्यक् तरिष्यसि । नात्मा पापादीनां कर्ता प्रकृति-गुणेष्वेव कर्तृत्वमितिविश्वास एव तज्ज्ञानं येन वृजिनसागरस्तीर्णो भविष्यति । यद्यहमेव पापानां कर्तेति कश्चिद्विश्वस्यात्फलमपि तेनैव भोक्तव्यं स्यात् । यदि नाहं कर्तेति विश्वासस्तर्हि फलं प्रकृतिगुणसमाजेन भोक्तव्यमिति श्रीकृष्णाशयः । परं न समीचीनमेतन्मतम् । चैत्रं मैत्रोहन्नित्यत्र मैत्राख्येनात्मना चैत्रो हत इति मन्यते मैत्रस्वामिकदेहान्तर्गतप्रकृतिगुणशब्दबोधितान्तःकरणेन वा स हत इति वा मन्यते दण्डस्त्वनुभवनीय एव । तस्यानुभविता क इति प्रश्ने आत्मा वा स्यादन्तः करणं वा स्यादिति विज्ञातुं को नाम समर्थः ? चैत्रो मैत्रेण हत इति मैत्रोपि शासनेन वध्य एव । तत्र मैत्रः कः ? आत्मा वान्तःकरणं वेति को नाम विजानीयात् । भ्रामकमेवेदं ज्ञानमिति मे मतम् ॥३६॥

यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात्कुरुतेर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

हे अर्जुन, यथा समिद्धः प्रदीप्तोग्निरेधांसि काष्ठानि भस्मसात्कुरुते तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानाग्निर्ज्ञानरूपोग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते । ननु सर्वकर्माणीत्यत्र सर्वशब्दार्थः कः ? उच्यते । यान्यप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक्कृतानि ज्ञानसहभावीनि चानीतानेकजन्मकृतानि चेति सर्वशब्दार्थ इति शङ्कराचार्याः । अन्येपि विद्वांसस्तथैवानुप्रवृत्ताः । सर्वाण्येव कर्माणि प्रवृत्तफला-न्यप्रवृत्तफलानि चेति वयम् । वस्तुतस्तु नास्त्येव किञ्चित्कर्माप्रवृत्तफलम् ।

यत्कर्म यस्मिन्क्षणे कृतं भवति तस्मिन्नेव क्षणे तस्य फलं प्रवृत्तं भवति । यस्मिन्समये केत्यक्षरशिक्षणरूपं कर्म प्रवृत्तं तस्मिन्नेव समये तस्य ज्ञानरूपं फलमपि प्रवृत्तम् । यस्मिन् क्षणे कस्यचित्कण्ठे निशितस्य कुठारस्य प्रहारो भवति तस्मिन्नेव क्षणे प्रहारबलानुरूपं फलमपि प्रवर्तत एव । प्रेमसमकालमेव प्रेम द्रोहसमकालमेव द्रोहः प्रवर्तते । गालिदानस्याशीःप्रदानस्य च फलं तत्कालं प्रभवति । यथाबुद्धि यथाशक्ति प्रवर्तितस्य पुरुषार्थस्य फलमपि तत्कालं मन्दमपि प्रवर्तत एव । वस्तुतस्तु प्रारब्धसंचिते कर्मणी नैव स्तः । क्रियमाणमेव कर्म फलदायकं भवति । भूतमपि कर्म क्रियां करोति परं न तत्सञ्चितमित्युच्यते । सञ्चितं कर्म तु नास्त्येव । तत्कालं फलदानोन्मुखं कर्म कथं नाम सञ्चितं भवेत् ? सञ्चिते सति प्रारब्धं स्यात् । तदभावे तदपि नास्ति । ननु यज्ञादिधार्मिककर्मणां फलस्य स्वर्गादिरूपस्य वर्तमानदेहत्यागानन्तरमेव सम्भवान्न कथं सञ्चितस्य प्रारब्धस्य च स्वीकार इति ? उच्यते । यामिमां पुष्पितां वाचम् (२।४२) कामात्मानः स्वर्गपराः (२।४३) इतिश्लोकाभ्यां स्वर्गप्रदेषु यज्ञेषु श्रीकृष्णेनानास्थायाः प्रकाशनात् स्वर्गादिलोकस्यासत्त्वात् यज्ञारम्भे स्वर्गादिफलोक्तेरर्थवादत्वेन केवलं कर्मनियोजनफलकत्वाच्च यज्ञादिधार्मिककर्मणामपि तत्कालमेव फललाभस्य दर्शनान्न सञ्चितप्रारब्धकल्पनाया अवसरः । सर्वकर्माणीति बहुवचनं क्रियमाणानां बहुत्वमुद्दिश्य । करिष्यमाणानि कर्माणि क्रियमाणतानुरेन्येव भस्मसाद्भवन्ति । न हि समिद्धोऽग्निर्भूतानि भविष्यन्ति चैधांसि प्रज्वलयति, वर्तमानान्येव । एवं च ज्ञानाग्निरपि वर्तमानान्येव कर्माणि ज्वलयति नावर्तमानानि । न च प्रारब्धमपीदानीं वर्तमानत्वमेवोपगतं कथं न तस्य प्रज्वलनं स्वीकर्तव्यमितिवाच्यम् । सञ्चितानां कर्मणामभावात्प्रारब्धस्याप्यभावादेव । ननु वेदान्तदर्शनविरोधः स्यात् । भवतु नाम विरोधः । क्षतिः का ? किं च भयम् ? विचारे तत्त्वानां सर्वेषां स्वातन्त्र्यम् । न हि सा मतिर्मतिर्या परकीयां मतिमेवानुसरति । विचारे विरोधस्त्वनिवार्य एव । व्यासोपि कपिलं विरुणद्धि । कपिलश्चान्यम् । सर्वे महिष्णवः । मतभेदे कलहस्तु कुबुद्धीनाम् । वास्तविको मतभेदो विरोधमजनयन्विचारशक्तिं बुद्धि-

कौशल्यं च जनयति । सत्यं ग्रहीतव्यम् । असत्यं च परिवर्जनीयम् । अयमेव न्याय्यः पन्था धार्मिकस्य । व्यासादतिरिक्तो नास्ति कश्चित्सत्यप्रवक्तेतिवचनं तु नादर्तव्यं मनीषिभिः । 'अनारब्धकार्य एव तु पूर्वे तदवधेः' (ब्रह्म० ४।१।१५) 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते' (ब्र०-४।१।१९) इत्यादिप्रकरणं तु मदीये ब्रह्मसूत्रवैदिकभाष्ये द्रष्टव्यम् । अत्रैव ब्रह्मविद्यायाः प्रागनुष्ठितमभुक्तफलमनारब्धफलं पुण्यपापरूपं कर्मानादिकालसंचितमनन्तं विद्यामाहात्म्याद्विनश्यति विद्यारम्भोत्तरकालमनुष्ठितं च न श्लिष्यतीति श्रीभाष्यमपि मदुक्तेन वर्त्मनैव समाधेयम् । उपनिषदोऽपि यथाकथञ्चित्समाधेयाः ॥३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

ज्ञानेन तत्त्वज्ञानेन सदृशं तुल्यमिह न हि किञ्चिदन्यद्विद्यते पवित्रं वस्तु । तज्ज्ञानं योगसंसिद्धो योगेन कर्मयोगेण संसिद्धो याथात्म्यदर्शित्वं गतः पुरुषः कालेन यावता कालेन संसिद्धो भवति तावता कालेनाल्पेनानल्पेन वा स्वयमात्मनैवात्मनि मनसि विन्दति प्राप्नोति । ननु पूर्वमुक्तं तज्ज्ञानं ज्ञानिनस्तुभ्यमुपदेक्ष्यन्तीति, अत्र चोच्यते स्वयं तज्ज्ञानं योगसंसिद्धो विन्दतीति विरुद्धं प्रतिभाति । न विरुद्धम् । ज्ञानप्राप्तेरुभावेव मार्गौ । अन्यस्माद्गुरोर्महापुरुषाज्ज्ञानं ग्रहीतव्यमिति स्वप्रयासेन स्वयमपि प्राप्तव्यमिति च । समर्थः स्वयं ज्ञानं प्राप्स्यति, असमर्थं च गुरुस्तत्प्रापयिष्यतीति ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाल्लँभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

ज्ञानेनैव मच्छ्रेयः सेत्स्यतीति श्रद्धावान् पुरुषस्तत्परो ज्ञानपरायणः संयतेन्द्रियो ज्ञानोत्पादे विघ्नकराणीन्द्रियाणि येन संयतानि निगृहीतानि सं ज्ञान लभते । लब्ध्वा च तज्ज्ञानमचिरेणैव न भूयसा कालेन परां शान्तिं ब्रह्माख्यां मुक्त्याख्यां वाधिगच्छति प्राप्नोति ॥३९॥

संशयात्मानं विगर्हयन्नाह—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

योस्त्यज्ञो जडो यश्चाश्रद्दधानः श्रद्धाविहीन एवंभूतः संशयात्मा विनश्यति दुःखमाप्नोतीतिभावः । गर्तापतनमेवात्मनां विनाशः । अह सर्वज्ञानसम्पन्न इति मन्वानोज्ञ उच्यते । स्वयं किञ्चिन्निर्णेतुमशक्योन्येषां वचनेषु न विश्वसिति सोश्रद्दधान इत्युच्यते । ईदृशावुभावपि केवलं दुःखाय जीवतः । नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मन इति शब्दा नियता एव श्रीकृष्णस्य स्पष्टार्थाः । अयज्ञानां संशयात्मनां च समानैव गतिरिति भावः । सैवं मतमेतच्छ्रीकृष्णस्येति विज्ञेयम् ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥

योगसंन्यस्तकर्माणं योगेन विवेकेन विचारेण संन्यस्तानि सम्यङ् न्यस्तानि परित्यक्तानि कर्माणि कर्मफलानि सुखदुःखरूपाणि सर्वाणि येन तं ज्ञानसंछिन्नसंशयं ज्ञानेन विवेकेनैव संछिन्नाः सर्व एव संशया इदं कर्म स्वर्गायेदं च देवपदप्राप्तय इत्येवंरूपा यस्य तमात्मवन्तं दृढमनसं हे धनञ्जय कर्माणि न निबध्नन्ति न दुःखाय तस्य प्रभवन्ति कदाचिद-पीतिभावः । अनेनेदमप्युपदिष्टं धर्माधर्मादिफलविषये तटस्थ एव भगवान् जीव एव तत्र सर्वेश्वर इति । यदि कर्मफलं त्यजति निःसंशयो भवति । अकिञ्चित्कराण्येव तस्य कर्माणि ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इति श्रीमहाभारते श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम

चतुर्थोध्यायः

तस्माद् ज्ञानमेतत्प्रशस्तमितिहेतोः । अज्ञानसम्भूतमज्ञानाद्विचारशक्तेर्विकुण्ठितत्वात्संभूतमुत्पन्नमेनं संशयमात्मनः स्वस्य । हृत्स्थं हृदयस्थितम् । हृदयशब्देन मनसो ग्रहणम् । मनस्थमितिभावः । ज्ञानासिना ज्ञानरूपेण खड्गेन छित्त्वा खण्डशः कृत्वा दूरीकृत्येतियावत् । हे भारत, उत्तिष्ठ कार्पण्यं विकम्पय । ततश्च योगं कर्मयोगमातिष्ठ कुरु । ननु कोसौ संशयो यस्यच्छेदनमिहाभिहितमिति ? युद्धे सम्बन्धिनां वधो नरकायैव मम भविष्यतीति, ज्ञानं श्रेष्ठं कर्म वेति ज्ञानेनान्यत्फलमाप्यते कर्मणा चान्यदित्यादिरूपः संशय इति गृहाण । ननु आत्मन इत्यस्य कुत्र सम्बन्धः ? आत्मनोज्ञानसंभूतमिति वा ? आत्मनो हृत्स्थमिति वा ? आत्मनो ज्ञानासिनेति वा ? आत्मनः संशयमिति वा ? यदि प्रथमः पक्षो, न समीचीनः । आत्मन्यज्ञानाभावात् । न द्वितीयः । हृदयेनात्मनः सम्बन्धाभावात् । न तृतीयः । इहात्मज्ञानाप्रसङ्गात् । न चतुर्थः । ज्ञानस्वरूपे ज्ञानवति वात्मन्यज्ञानापरपर्यायसशयस्यासम्भवात् । उच्यते । येषां मत आत्मा ज्ञानस्वरूपस्तेषामप्यज्ञानप्रवृत्तेरात्मन्यङ्गीकारात्, येषां च मत आत्मा ज्ञानवांस्तेषामपि संकोचविकासशालित्वादात्मनो ज्ञानस्य, प्रथमे पक्षे नासमीचीनता । द्वितीयेपि न । इदानीं देहित्वाद्देहस्वामित्वादात्मनो हृदयस्यापि स्वामित्वं न पराहतम् । तृतीयेपि न । सर्वमेव ज्ञानमात्मन एव भवतीतिसर्वतन्त्रसिद्धान्तात् । चतुर्थेपि न । ज्ञानसंकोचावस्थायां संशयस्य संभवादात्मनीति । एवं च यत्र कुत्राप्यात्मपदं संयोज्यमिति ॥४२॥

समुत्सार्यैव मनसो भयं निरयकारणम् ।
यः सत्यमनुसन्धत्ते स कृतार्थो भवेद्भुवि ॥

इति श्रीमहाभारते श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीमत्परमहंस-परिव्राजक-पण्डितराज स्वामिश्रीभगवदाचार्यप्रणीते भगवद्भाष्ये

चतुर्थोऽध्यायः ।



अथ पञ्चमोध्यायः

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

द्वितीयाध्यायेप्यर्जुनेनोक्तं "यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे" (२।७), तृतीयाध्यायेप्युक्तं 'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोहमाप्नुयाम्' (३।२), इह पञ्चमेपि तदेवाभ्यर्थितम् । परमाश्चर्यभूमिरेषा प्रपन्नपारिजातो भगवान्स्वस्यानन्यैकशरणस्य प्रियभक्तस्य बहुशः प्रार्थितोपि न निवारयत्यनिश्चितताम् । अस्तु श्लोको व्याख्येयः । तत्रेदं विचार्यते संन्यासशब्दोत्र स्वतन्त्रो वा कर्मणामित्यनेन संनिबद्धो वा ? स्वतन्त्रस्तर्हि तस्य रूढोर्थो ग्राह्यः पारिभाषिको वा ? संन्यासशब्दश्चतुर्थाश्रमे रूढः । 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः' (१८।२) इति पारिभाषिकोर्थो यदि तस्य रूढो गृह्यते, अन्याय्यमेवैतत् । अप्राकरणिकत्वात्संन्यासस्य । एवं च पारिभाषिक एवार्थो ग्रहीतव्यः । एव च स्वतन्त्र एवायं शब्दो न संनिबद्धः कर्मणामित्येतेन । कर्मणां न्यास एव संन्यासशब्दस्य वाच्यतया कर्मग्रहणस्य निरर्थकत्वात् । संन्यासशब्दस्यैवार्थः कर्मसन्यास इति । तथा च हे कृष्ण त्वं सन्यासं कर्मसंन्यासं शंससि, पुनः कर्मणां योगं कर्मयोगं च शंससि । विरुद्धमेतत् । ततः प्रार्थये, एतयोर्यच्छ्रेयः यः श्रेयान् संन्यासो वा कर्मयोगो वा तदेकं तमेकं मे मह्यं प्रपन्नाय सुनिश्चितमतिशयेन निश्चितं यथा तथा ब्रूहि । प्रार्थने लोट् । कृपयोपदिशेति भावः। कर्मशब्देन कुत्रापि श्रीकृष्णस्य श्रौतयागादिकं नेष्टम् । वर्णाश्रमविहितमपि कर्म नेष्टम् । यथावसरं सम्पादनीयं कर्मैव कर्मशब्देन तस्य विवक्षितमिति तस्य हार्दम् । वैदिकेषु कर्मसु कृष्णस्य सर्वथैवानास्था । अत एव द्वितीयाध्याये कर्मिणो याज्ञिका यामिमां पुष्पितां वाचमित्यादि वदता भगवताविपश्चित्त्वेन निर्दिष्टाः । न हि कुत्रापि श्रुतिमुल्लिख्य तद्धर्मं पालयितुमादिष्टवान् । ब्राह्मणं लक्षयता

मनुनोक्तम्—"अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव षड्विधं ब्रह्मलक्षणम् ।" तद्विपरीतमेव 'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ (१८।४२) इति भगवतोक्तम्। न च विवदितव्यं मनुना ब्राह्मणलक्षणमुक्तं भगवता च स्वाभाविकं तस्य कर्मेति। अध्यापनाध्ययनाद्यपि कर्मैव भवति। तदेव लक्षणम्। किं च लक्षणकर्मणोर्भिदामाश्रित्यैव तिष्ठासा चेत्, द्रोणादिषु ब्राह्मणत्वं व्याहन्येत। तेषु क्षात्रधर्मस्यैव प्राधान्यात्। यद्यपि कर्मलक्षणयोर्भेदाभावेपि तद्दूषणं प्रसज्येतैव परन्तु तदन्येन पथा निराकरणीयम्। स चायं पन्थाः। न हि मनुष्याणां किमपि स्वभावजं कर्म भवितुं शक्नोति। स्वभावो दुरतिक्रमो भवति। विश्वामित्रः क्षत्रियोपि ब्रह्मत्वं प्राप। तत्र तस्य स्वभावजं कर्म युद्धादि वा ? शमदमादि वा ? न किमपि। अवसरनिर्मेयो हि मनुष्यः। कदाचित्स ब्राह्मणतां गच्छति कदाचिद्राजन्यतां वैश्यतां च कदाचित्कदाचिच्च शूद्रताम्। मनुष्याणां नास्त्येव कोपि नियतो धर्मः। अतो यत्र यदा वा ब्राह्मणधर्माः प्रादुर्भवन्ति तदा स ब्राह्मणः। यदा यत्र च क्षत्रियधर्माः प्रादुर्भवन्ति तदा स क्षत्रियः। एवं वैश्योपि। शूद्रोप्येवम्। प्रसङ्गानुसरणं क्रियते। एवं च कर्मयोगशब्देन नाग्निहोत्रादयो गृह्यन्ते। सर्वैः सम्पादनीयानि स्वपरहितसम्पादीन्येव कर्माणि ग्रहीतव्यानि। अर्जुनाय कर्मोपदेश इह मुख्यः। नाग्निहोत्रादिनार्जुनेन किमपि सम्पाद्यमस्ति। ततो लौकिकान्येव कर्माणि कर्मशब्दवाच्यानि। अर्जुनः पृच्छति कर्मसंन्यासमपि शंससि कर्मयोगमपि शंससि। किं करोषीति ? मया किं कर्तव्यम् ? एतस्य प्रश्नस्यावकाशः कुतोर्जुनस्येति दुस्सहं दुःखम्। न कुत्रापि भगवानुपादिशत्कर्म त्यजेति। प्रत्युत 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत' (३।५) 'योगमातिष्ठ' (४।४२) 'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' (४।२३) 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' (४।२१) 'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः' (४।१९) कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किञ्चित्करोति सः' (४।२०) 'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः···स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।' (४।१८) एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' (४।१५)

इत्येतैर्वचनैः कर्मानुष्ठानमेव प्रातिक्षिपत् । कथं समायातः संन्यासप्रसङ्ग इति दुर्बोधम । अग्रे द्वितीयेन श्लोकेनोत्तरं प्रतिपादयता भगवता प्रश्नोय स्वीकृत इत्येव प्रतिभाति । न च काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुरित्युक्त्या काम्यकर्मन्यास एव संन्यास इतिवक्तव्यनयेह संन्यासशब्देनागत्या ज्ञानस्य ग्रहणं कर्तव्यमिति वाच्यम् । त्वद्रीत्या ज्ञानकर्मणोस्तारतम्यादुभयोर्निःश्रेयसकरत्वालाभात् । काम्यानामित्यस्य, तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते इत्यनुपदमेव वक्ष्यमाणत्वानपेक्षितत्वात् । न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति (३।४) इतिवचनेन कर्मसंन्यासस्य महत्त्वप्रतीत्यभावान्च । न च 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥' (३।१७) 'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।' (३।१८) इत्याभ्यां कर्मसंन्यासः संकेत्यत इतिवाच्यम् । आत्मरत्यात्मतृप्तस्य तथात्वप्रतिपादनात् । इदं तु प्रतीयते–'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' (३।२६) इत्येतेन कर्मसङ्गिनामित्यस्याज्ञानामिति विशेषणं स्वीकृत्य कर्मसंन्यासाभासो गृहीतोऽर्जुनेन । भगवांस्तमनुमोदते स्मेति । एतदपि संभवति–काम एष क्रोध एष (३।३७) इत्युपक्रम्य 'पाप्मानं प्रजहि ह्येनम्' (३।४१) इति कामहननोपदेशात्कर्मसंन्यास उपस्थित इति । अथवा चतुर्थाध्याये बहुविधयज्ञनिरूपणप्रसङ्गे श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप । सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥' (४।३३) इतिभगवद्वचनेन कर्मापेक्षया ज्ञानस्य महत्त्वं निशम्य कर्मसंन्यासः कर्तव्य इत्यर्जुनो मनसि संचक्लृपे तदनुसारेणैव प्रश्नमुत्थापयामास । सर्वज्ञो हि भगवांस्तदाशयं विदित्वोत्तराय प्रवृत्त इति । यद्भवतु, तद्भवतु इदं तु निश्चितं न क्वापि भगवता कर्मसन्यासः समीहितो न वोपदिष्ट इत्यलं काकदन्तपरीक्षयेति ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

हे अर्जुन यद्यपि संन्यासः कर्मसंन्यासः कर्मफलसंन्यास इत्यर्थः। कर्मयोगश्चोभौ निःश्रेयसकरौ कल्याणकरौ। तु तथापि कर्मसन्यासात्कर्मसंन्यासापेक्षया कर्मयोगो विशिष्यतेतिरिच्यते विशिष्टो भवतीतिभावः। ननु कर्मसंन्यास इत्यस्य कर्मफलसंन्यास इतिविवरणं न युक्तम्, सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः (१८।२) इतिवक्ष्यमाणत्वात्कर्मफलत्यागस्य त्यागशब्दस्येव वाच्यत्वान्न संन्यासशब्दस्य। सत्यम्। त्यागसंन्यासशब्दयोरसकृद्गीतायामेव पर्यायत्वेन प्रयुक्तत्वात् तयोर्भिन्नार्थकत्वाभावात्। नित्यनैमित्तिकयोः कर्मणोः फलाभावस्य सिद्धतया काम्यानां चावश्यानुष्ठेयतया कर्मसंन्यासशब्दः शब्दमात्रमेव वितिष्ठेत यदि त्यागसंन्यासयोः पर्यायत्वं नाङ्गीक्रियेत। अत एवाष्टादशेऽध्याये 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥' (१८।११) इत्युक्त्वा अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित्॥' (१८।१२) इति ब्रुवाणेन त्यागसंन्यासयोरैकार्थ्यं भगवतैव स्वीकृतम्। ननु 'तयोस्तु कर्मयोगो विशिष्यते' इत्येव वक्तव्यतया किमर्थं 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते' इत्येवमुक्तम्? अस्त्येवार्थः। कोऽर्थः? संन्यासशब्देन कर्मसंन्यास्यैव ग्रहणं यथा स्यान्न स्याच्चतुर्थाश्रमरूपसन्यासस्य ग्रहणम्। तस्य ग्रहणे किं फलं स्यात्? संन्यासशब्देन बलाज्ज्ञानस्योपस्थितिं सम्पाद्य प्रथमश्लोके यच्छ्रेय एतयोरित्यस्य ज्ञानकर्मयोगयोर्यच्छ्रेयस्तद्वदेत्यर्थः संभावितः स्यात्। यद्येवं कृतं स्यात्का च हानिः स्यात्? न काप्यन्या हानिर्द्वितीये श्लोके तयोस्तु कर्मसंन्यासादिति प्रब्रुवाणः संन्यासशब्दं व्याचक्षाणश्च भगवान् कृष्णः कुर्येत्। 'कर्मयोगो विशिष्यते' इत्यस्य निष्कामकर्मयोगो विशिष्यत इत्येवार्थः। फलत्यागस्य बहुकृत्व उपदिष्टत्वादुपदेक्ष्यमाणत्वाच्च कर्मत्यागस्य तु प्रसङ्ग एव नास्ति। न हि कृष्णः कर्म परितित्याजयिषति। यदि कर्मत्याग इष्टः स्यात्तर्हि न स तं कर्मकूपारं प्रविवेशयिषेत्॥ २॥

वस्तुतो न कर्मयोगी कर्मफलसंन्यासिनोतिरिच्त इत्युच्यते—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥३॥

स कर्मयोग्येव नित्यसंन्यासी ज्ञेयो यो न किञ्चिद्द्वेष्टि न किञ्चित्काङ्क्षति । नित्यसंन्यासीत्यत्र नित्यपदनिधानेन कर्मयोगिणो महात्म्यं विद्योत्यते । हि अवश्यम् । हे महाबाहो निर्द्वन्द्व इष्टानिष्टविषयकरागद्वेषविरहितः कर्मयोगी सुखमनायासेनैव बन्धाद्दुःखात्प्रमुच्यते मुक्तो भवति । कर्मफलसंन्यासकर्मयोगयोर्न न कश्चन विशेष इत्यनेनाह ॥ ३ ॥

दृष्टान्तेन कर्मयोगकर्मफलसन्यासयोरभेदमाह—

सांख्ययोगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

यथा सांख्यं ज्ञानं योगोऽष्टाङ्गयोगः इमौ द्वौ बाला रहस्यानभिज्ञा एव पृथग्वदन्ति न पण्डितास्तत्त्ववेत्तारः । एकमपि सांख्यमेव वा योगमेव वा सम्यक् सविधि चारुरूपेणास्थितोऽनुष्ठाता फलमुभयोः सांख्ययोगयोर्विन्दते लभते ॥ ४ ॥

नवीकृतशब्दैः पुनर्दृष्टान्तमेवाह—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

किं च, सांख्यैः कापिलैर्यत्स्थानं प्राप्यते योगैरपि पातञ्जलैरपि तदेव गम्यते प्राप्यते । अतोः यः सांख्यं योगं चैकमेवाविरोधि एव पश्यति स पश्यति स एव वस्तुतो रहस्यवेत्तेतिभावः । ननु सांख्ययोगयोरेकत्वमनुपपन्नम् । सांख्यमनीश्वरवादि । योगश्चेश्वरवादी । कथं समानमेव स्थानमुभाभ्यां प्राप्यम् ? उच्यते । बाढमुक्तम् । योगोप्यनीश्वरवादिसमकक्ष एव । क्लेशकर्मविपाकाशयैरस्पृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इति हि योगेश्वरः । पुरुषो जीवः । जीवविशेष एवेश्वरतां गच्छति यदि क्लेशकर्मविपाकाशयैरसम्बद्धः स्यात् । सांख्याः पुरुषं स्वीकुर्वन्ति । योगाश्चेश्वरम् । ईश्वरश्च यौगो नातिरिच्यते सांख्यपुरुषात् । ततः सुष्ठूक्तं सांख्ययोगौ पृथग्बाला इति यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानमिति च ॥५॥

उक्तं दृष्टान्तं समन्वयति—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

हे महाबाहो, संन्यासस्तु कर्मफलसंन्यासस्तु, अयोगतः कर्मयोगेण विना दुःखं यथातथाप्तुं प्राप्तुं कर्तुं वा शक्यः । दुःखेन स आप्तुं शक्यत इति तात्पर्यम् । परम्, योगयुक्तः कर्मयोगी परोपकारपरायणो मुनिर्मननशीलः परोपकारः कर्तव्य इति ज्ञानवान्वा । नचिरेण सपद्येव ब्रह्माधिगच्छति प्राप्नोति । सन्यासयोगयोः सांख्ययोगयोरिव समानमेव फलं किन्त्वेको दुःखेन प्राप्योपरश्च सुकर इति भावः ॥६॥

योगयुक्तस्य माहात्म्यमाह—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

योगयुक्तः कर्मयोगी परोपकारपरायणः । अत एव विशुद्धात्मा विशुद्धमना नह्यात्मशुद्धिमन्तरेण कस्यापि परोपकरणे प्रवृत्तिर्भवति । जितेन्द्रियो जितानीन्द्रियाणि येन सः । विजितात्मनः फलमेतत् । यदा तु मनोपीन्द्रियमेव तदा निजितात्मेत्यस्य विजितान्तःकरण इत्यर्थः । यद्यपि मनो प्यन्तःकरणपाति तथापि तत्र न केवलं मनो, बुद्धिचित्ताहङ्काराणामपि तत्र प्रवेशः । जितेन्द्रियन्याय यथा मनसो विजयस्तथैव बुद्धचित्तादीनामपि विजय एष्टव्यः । किं च, सर्वभूतात्मभूतात्मा सर्वेषां भूतानां प्राणिनामात्मभूतं स्वत्वेन स्वकीयत्वेन वाभिमतमात्मा शरीरं यस्य सः पुरुषः कुर्वन्नपि कर्मेतिशेषः । न लिप्यते कर्मबन्धनैर्न सम्बध्यत इत्यर्थः । श्रौतयागादीनामनुष्ठातारो न भवन्ति विशुद्धात्मानो न वा विजितात्मानो न वा जितेन्द्रियाः । न ह्येतत्फलमनुसन्धाय यागादिषु कस्यापि प्रवृत्तिः । तादृशं कर्म कृष्णस्यापि नैवाभिमतम् । द्वितीयाध्याये तस्य निरस्तत्वात् । ततः परोपकरणमेवैकं तादृशं कर्म यदनुष्ठानेन न भवति बन्धनं न दुःखं न वा पश्चात्ताप इति । ननु कथमात्मशब्दस्य क्वचिन्मनसि क्वचिच्च शरीरे प्रवृत्तिः ? उच्यते । मन

एवात्मेति, देह एवात्मेति सिद्धान्तो भारते सामान्येन प्रचलित आसीत् । गीतायामपि तस्य क्वचित्स्पष्टतोऽस्पष्टतश्च क्वचिदाभासो विद्यत एव । अतोऽपि मनोऽध्यात्मशब्दप्रवृत्तिप्रकृतिः शरीरमपि । अन्यथा विशुद्धात्मविजितात्मशब्दयोर्नैरर्थक्यमेव स्यात् । आत्मन्श्चेतनस्य विशुद्धरूपत्वाज्जेयत्वाभावादिन्द्रियाणां चाभावाद्विशुद्धात्मत्वं विजितात्मत्वं च शशशृङ्गायितमेव भवतीति ॥७॥

कुर्वन्नपि न लिप्यत इत्युक्तम् । अलेपे कारणमाह—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

इन्द्रियाण्येवेन्द्रियार्थेषु रूपरसगन्धादिषु वर्तन्ते प्रवर्तन्ते न तत्रात्मनः प्रवृत्तिरिति धारयन्निश्चिन्वन्नैवाहं किञ्चित्करोमीति युक्तस्तत्त्वविन्मन्यते । न करोमि नातो भवामि फलभागित्यपि स मन्यत इत्यपि विज्ञेयम् । "गन्तव्यः सलिलपथो द्रष्टव्या मदनविह्वला रामा । यदि लाभो न भवेत्कश्चिन्नयनसुखं केन वार्यते ॥" इत्यादिभावैरिन्द्रियाण्येवानुभवन्ति नात्मेत्याह — पश्यन्रमणीयपदार्थान्, शृण्वन्कोकिलकण्ठमधुरध्वनिमपि, स्पृशल्ललितवनितालताद्या अपि, जिघ्रन्कुसुमानि सरसिजसुन्दरवदनविनिस्सृतगन्धानपि ललनानाम्, अश्नन्नपि षड्रसमयविविधास्वाद्यवस्तूनि, स्वपन्कुसुमशय्यायामपि श्वसन्नपि यस्यकस्यापि विरहानलसन्तप्तोभूत्वोच्छ्वसन्नपीत्यर्थः । प्रलपन्नपि 'संतापय चिरं चन्द्र न तत्र प्रतिषिध्यसे । निवारयकरस्पर्शं रामस्याहं परिग्रहः ॥' इतिरीत्या, विसृजन्नपि किञ्चिद्ददपि, गृह्णन्किञ्चिदादानोऽप्युन्मिषन्निमिषन्नप्युन्मेषनिमेषौ कुर्वन्नपि, सर्वमिदमाचरन्नाहं किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्यत इति पूर्वेण सम्बन्धः । युक्तस्य लक्षणं तु 'यदा विनियतं चित्तम्' (६।१८)' ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा' (६।८) इत्यादि षष्ठे भगवान्स्वयं वक्ष्यति । अत्र तृतीयाध्यायोक्तो ज्ञानयोगः स्मर्तव्यः । न भवति कर्ता कर्मणामात्मा, इन्द्रियाणामेव कर्तृत्वम् । अन्तःकरणं वा कर्तृ ।

कर्मलेपाभावे नाहं कर्तेति ज्ञानमेव हेतुः । ननु विप्रतिषिद्धमुच्यते । न करोति कुर्वन्नपीति । यदीन्द्रियाणामेव कर्तृत्वं कर्मसु तर्हि कुर्वन्नपीति वचनं विरुध्यते । यदि तन्न विरुद्धं तर्हीन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इत्येव विरुद्धम् । सत्यमुक्तम् । भगवद्गीताया एतदेव माहात्म्यं यन्न विप्रतिषिद्ध वचनं प्रत्यवायाय भवतीति । अत एव कर्मण्यकर्म यः पश्येदित्यादीनां निष्कण्टकः समाधिः । क्वचिदिन्द्रियाण्येव कर्तृ क्वचित्प्रकृतिगुणोन्तःकरणमेव कर्तृ क्वचिदात्मापि कर्ता । शरीरे कः कर्ता कश्च नियन्तेत्याद्यद्यावध्यनिर्णीतत्वादितस्ततो धावनं नावसादाय न वा विषादायेति मन्तव्यम् ॥ ८।९ ॥

अन्यमप्युपायमाह कर्मफलालेपस्य—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

यो ब्रह्मणि निरञ्जने परमेश्वरे कर्माण्याधाय समर्प्य, सङ्गं तेषां कर्मणां सम्बन्धं च त्यक्त्वा कर्म करोति सोऽम्भसा जलेन पद्मपत्रमिव पापेन कर्मफलेन न लिप्यते । अयुक्तमेतत् । कर्मणां ब्रह्मण्याधानं कथमपि न संभवति । कर्म क्रिया । कर्मसमाप्त्यवाद्यन्ताः सर्वा एव क्रिया विनष्टा भवन्ति । कथं स्याद्ब्रह्मणि तदाधानम् ? किं च 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः, इत्याह भगवानेव । आहितान्यपि कर्माणि स्वभावविरुद्धत्वात्कथमाददीत ? नास्ति ब्रह्म कश्चित्कुशूलो यत्र कर्माणि प्रक्षिप्तानि भवेयुः । वस्तुतस्तु सङ्गं त्यक्त्वेत्येव वक्तव्यं मन्तव्यं च । ब्रह्मण्याधायेति लोकसंवादः । लौकिकाः कथयन्ति निवेद्यत इदं ब्रह्मणे, दीयत इदं ब्रह्मणे, समर्प्यत इदं ब्रह्मण इत्यादिकम् । किं च कः खलु पुनः सङ्गं त्यजेज्जीवो वेन्द्रियगणो वा ? न जीवः । तस्य कर्तृत्वाभावात् । नेन्द्रियगणः जडत्वात्त्यजिक्रियाया असम्भवात्तत्र । यदीन्द्रियगण एव जीवात्मेति मतं तर्हिं सङ्गत्यागो व्यर्थ एव । इन्द्रियाणां शरीरेण सह विनाशशालितया सत्यामप्यासक्तौ न परलोकनिबन्धनो बन्धः । ननु लिप्यते न स पापेनेत्युक्तम् । कीदृशा

पापेन ? न हि पापं कर्मणा विधेयम् । पुण्यान्येव कर्माणि कर्तव्यत्वेनाभिमतानि श्रीकृष्णस्यापि । कुत आगतं तदा पापम् ? उच्यते । न हि पापं किञ्चित्कर्म भवति । निषिद्धकर्मजन्यत्वं हि तस्य । नह्यत्र निषिद्धकर्मसम्पादनानुमतिर्भगवतः । अतः पापेनेत्यस्य कर्मफलेनेत्यर्थः । तथैव मया व्याख्यातम् । अथवा भगवता सततं समरो विचार्यते । समरस्तु पापमेव । हिंसाप्रधानत्वात् । इति संनिहितं तत्पापं भगवतो जिह्वामारूढमितिवेदितव्यम् । पद्मपत्रमिवाम्भसेति दृष्टान्तो न संगतः । यावत्पद्मपत्रमम्भसि विद्यते तावज्जलसम्पर्कफलमुपभुङ्क्त एव । हारित्यं शैत्यं च जलसम्पर्कस्यैव फलम् । यदि जलादुद्धृतस्य पद्मपत्रस्य जलसंसर्गराहित्यमपेक्षितं तर्हि तिष्ठतु स दृष्टान्तो न तत्र विवादः । एतावान्विशेषः । जलसंसर्गेण बिना पद्मपत्रं गतजीवनं भवति, आत्मा तु कर्मसङ्गेन विना लब्धजीवनं भवतीति ॥ १० ॥

सङ्गत्यागपूर्वकं कृतं कर्मात्मशुद्धये भवतीत्याह—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

आत्मशुद्ध्यर्थं कर्म कर्तव्यमित्याह कायेनेति । ननु केन कर्मणात्मशुद्धिः सम्पद्यते ? उच्यते । परार्थसम्पादकेन येन केनाप्यभिमानवर्जितेन कर्मणा सुलभा भवत्यात्मशुद्धिः । श्रौतयज्ञादिना तु नात्मशुद्धिस्तस्य परोपकारित्वाभावात् । ननु भवत्येवोपकारो यज्ञादिनापि वायुमण्डलशुद्धिद्वारा 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' इति मनूक्तदिशापि जगच्छ्रेयसिद्धिर्भवत्येवेति । न । वायुमण्डलशुद्धिर्वायुना भानुना च क्रियत एव । न हि प्रकृतिः परतन्त्रा स्वतन्त्रैव । सूर्यः स्वकार्यं स्वयं संपादयति । वायुरपि स्वयं स्वकार्यं निर्वाहयति । जलं हिमवदादिपर्वतान्निरन्तरं स्रवत्येव । वसुन्धरा सर्वान्धारयत्येव । यदा नासीन्मानवः पृथिव्यां तदापि वृष्टिरासीदेव । हरितायमानानि वनानि स्वयमेवासन्नेव । वायुशुद्ध्यर्थं जलवर्षणार्थं च नास्त्यावश्यकत्वं यागादीनाम् । महती खलु मही । बहवश्च धर्माः सम्प्रदायास्तदनुयायिनश्च । पाश्चात्यदेशेषु न प्रवर्तन्ते वैदिका

यज्ञास्तथापि तत्र पुष्कला वृष्टिर्भारतादधिका शुद्धिः समृद्धिर्ज्ञानं विज्ञानं चापि दृश्यत एव । यज्ञोनेन कर्तव्योनेन नेतिभावनया निरर्थको भेदः समृध्यते । मया यज्ञः कृतः कृताश्च मया वहवो यज्ञाः पुष्कलानि दत्तानि धनानि ब्राह्मणेभ्य इत्यादिरीत्याभिमानो वर्धते । स च पतनकारणम् । अतो निरर्थका एव यज्ञाः । देवप्रसत्तये यज्ञः कर्तव्य इति मूढविज्ञानम् । यत्कृतं तत्कतव्यबुद्धया परोपकारबुद्धया च, येषां मम साहाय्यमपेक्षितं तेभ्यो दत्तं तन्मानवीयधर्माचरणबुद्धयेति यत्कर्म कृतं भवति भवति च तदात्मशुद्धये । श्लोको व्याख्यायते । केवलशब्दोपिशब्दश्च कायेन मनसा बुद्धयेत्यत्रापि योजनीयौ । तथा च योगिनः . कर्मयोगिणः परार्थकर्माण इति यावत् । केवलेन कायेनापि केवलेन मनसापि केवलया च बुद्धयापि केवलैरिन्द्रियैरपि सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये कर्म कुर्वन्ति । अयमाशयः । कर्मणां सर्वेषां फलमात्मशुद्धिर्भवति नापि च भवति । सङ्गोभिमानः । यद्यभिमानः स्यान्मयेदं कृतमिति तदा न भवत्यात्मशुद्धिर्वर्धते च गर्व इत्युक्तं पूर्वम् । केवलेन कायेन कर्म शरीरेणैव साहाय्यदानं परार्थम्, आवश्यकं च स्वशरीरसम्बन्धि स्वार्थम् । केवलेन मनसा कर्म स्व-परहितचिन्तनम् । केवलया बुद्धया कर्माध्यापनोपदेशादिप्रदानम् । केवलैरिन्द्रियैर्नेत्रेण शुभदर्शनं श्रोत्रेण शुभश्रवणं घ्राणेन शुभघ्राणं रसनया शुभास्वादनमित्यादि । वस्तुतस्तु नात्र केवलत्वमवधारणत्वं न वेतरासहायत्वम् । नैर्मल्यार्थकः केवलशब्दः । एवं च निर्मलेन कायेन निर्मलेन मनसा निर्मलया बुद्धया निर्मलैश्चेन्द्रियैरपि योगिनः कर्म कुर्वन्तीति योजना । एवार्थेपिः । निर्मलेनैव कायेन निर्मलेनैव मनसा निर्मलयैव बुद्धया निर्मलैरेवेन्द्रियैः योगिनः कर्म कुर्वन्तीत्याशयः । अयमेवार्थः समीचीनः । अन्यथा सिद्धसाधनम् । सर्व एव कायेन मनसा बुद्धया च कर्म कुर्वन्त्येव । नह्यत्र किंचिन्नावीन्यम् । केवलैरिन्द्रियैः कर्मसम्पादनस्यासम्भवोपि । कायमनोबुद्धयादीनां साहाय्यं तत्र नियतम् । न ह्येतैर्विना किञ्चिदपि कर्तुं पार्यत इन्द्रियैः ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कर्मकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्तः संयमी सर्वगर्वपरित्यागी कर्मफलं 'मयास्यायमुपकारः कृतो-ऽनेन च समये ममापि करिष्यते' इत्याशासां त्यक्त्वा परित्यज्य नैष्ठिकीं स्थिरामनन्तां शान्तिमाप्नोति । यश्चायुक्तः कर्मफलाभिलाषी न दयया स्वधर्मस्मृत्या च येन परोपकारः कृतः किन्तु व्यापार एव कृतः स कामकारेण करणं कारः क्रियेति यावत्। कामेन कृतः कारः कामकारस्तेन फलवासनया कृतया क्रियया फले सक्तः कृतचित्तः सन्निबध्यते, परिणामे दुःखमेवानुभवति । फलाशा केवलं दुःखायैवेति ॥१२॥

तस्मात्—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

वशी संयमी युक्त इत्यर्थः । सर्वकर्माणि सर्वाण्येव कृतानि कर्माणि परोपकाररूपाणि मनसा संन्यस्य न मया किञ्चित्कृतमिति विस्मृत्य सुख-मास्ते सुखं जीवति । सुखपूर्वकजीवनं सर्वकर्मविस्मृतिरेको हेतुः । अप-रश्चोच्यते—नवद्वारे नव नवसख्याकानि द्वाराणिच्छिद्राणि द्वे नेत्रे द्वे कर्णे द्वे नासिकाछिद्रे मुखबिलमेकं मलद्वारं मूत्रद्वारं चेत्येतानि यस्मिंस्तस्मिन्पुरे शरीरे स्थितो देही देहाधिष्ठाता नैव कुर्वन् न कारयन् न करोति न कारयति ततोपि स सुखं जीवति । मया कृतमित्यस्य विस्मृत्या नैव कुर्वन्नित्युक्तम् । यदि स्वकृतेः स्मरणं स्यात्तदा स्वोपकृतेन ममाप्युपकारः कर्तव्य इत्याशा जागर्यात् । परन्तु सा स्मृतिस्तु विनष्टैवेतिकारयितुं कारणं न विद्यते ततो न कारयन्नित्युक्तम् ॥१३॥

ननु मा भूज्जीवात्मा कर्ता वा कारयिता वा स्वातन्त्र्येण परमेश्वरस्तु कारयितास्त्येवेत्याशङ्क्याह—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

प्रभुः परमेश्वरो लोकस्य न कर्तृत्वं सृजति न कर्माणि सृजति । नैतावदेव, अपि तु स कर्मफलसंयोगमपि न सृजति । अनेन जीवेनेदं

कर्म कृतं तस्य चेदं फलं जीवेन भोक्तव्यमित्यपि न स नियमयति। तर्ह्येतत्त्रितयस्य कुतः प्रवृत्तिरिति चेत्, स्वभावस्तु प्रवर्तते। स्वभावादेव जीवस्य कर्तृत्वं स्वभावादेव कर्मसम्पादनं स्वभावादेव कर्मफलसंयोगः। योधीते स्वभादेवाध्ययनफलेन स संयुज्यते। स्वभावादेव भोजनाच्छादनस्नानपानध्यानचलनकम्पनशयनादिषु कर्मसु जीवः प्रवर्तते। तत्कर्मफलान्यपि च स्वभावादेवानुभवति। नेश्वरस्तत्र हस्तक्षेपं करोति। अत्र प्रभुशब्देन जीवग्रहणमिच्छतां भयातुरत्वं प्रतीयते। ननु स्वभावशब्दस्य कोर्थः? भवनं भावः। स्वेनान्येनाप्रचोदितेन भवनं स्वभावः। हेत्वन्तरानपेक्षो वस्तुधर्मविशेष इति यावत्। उज्ज्वलदत्तेन प्राणिस्वभावो द्विविधो निरूपितः। तथा हि—बहिर्हेत्वनपेक्षी तु स्वभावोथ प्रकीर्तितः। निसर्गश्च स्वभावश्च इत्येष भवति द्विधा॥ निसर्गः सुदृढाभ्यासजन्यः संस्कार उच्यते। अजन्यस्तु स्वतः सिद्धः स्वरूपो भाव उच्यते॥" इति। एतन्मतेन स्वो भावः स्वभाव इत्यपि वेदितव्यम्॥१४॥

अन्यथापि प्रभुस्वभावं वर्णयति—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥१५॥

स च विभुः परमात्मा कस्यचित्पापं न वा सुकृतं धर्ममादत्ते गृह्णाति। किमिदं पापग्रहणं? किं चेदं सुकृतग्रहणमिति? सत्यं जिज्ञासितम्। उच्यते। न हि पापं पुण्यं वा ग्रहीतव्यं वस्त्वस्ति। ग्रहणमत्र स्वीकार एव। परन्तु किमर्थं पापस्य पुण्यस्य वा परमेश्वरः स्वीकारं करिष्यति? न तस्य पापेन किञ्चित्प्रयोजनं न वा सुकृतेन। तेन तत्स्वीकारो निरर्थक एव। न केवलं तत्स्वीकारोनुचितोसमञ्जसोपि। अस्वस्य स्वकरणमेव स्वीकारः। च्विः। किमर्थं सोस्वं स्वत्वेन स्वीकुर्यान्नाम? न च तस्येह किञ्चिदप्यस्वं नास्तीतिवाच्यम्। गीताचार्यस्यास्मादेव वचनात्तथा स्वीकारस्य आख्यानुसरणत्वात्। अन्यस्य कृतं पापं किमर्थं स स्वकीयं मन्येत? एवं च सुकृतदुष्कृतानामादानं तत्साक्षित्वसम्पादनमात्रम्।

तच्चापि निरर्थकम् । कर्मफलप्रदानार्थमेव साक्षित्वं तच्च 'न कर्मफलसंयोगं सृजति प्रभु'रितिवचनेनैव तिरोहितम् । न च स्वयमेव भगवान्वक्ष्यति 'यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ (९ । २७) इति तद्व्याहन्येत । न व्याहन्येत । न हि पारमार्थिकं तद्वचनम् । युद्धप्रेरणार्थैव सोक्तिः । न चैतच्छ्लोकोक्तमेव तत्त्वमपारमार्थिकमिति वाच्यम् । असङ्गो ह्ययं पुरुष इति सिद्धान्तस्याभिमतत्वाच्छ्रीकृष्णस्यात्मनि कस्यापि संगस्यानुचितत्वात् । न च सर्वथा सङ्गाभावस्वीकारे "सङ्गं त्यक्त्वा" "फले सक्तो निबध्यते" इत्यादि भगवद्वचनानां विरोधः स्यादिति वाच्यम् । जीवमनसोरपृथग्भावं परिकल्प्य तथोक्तः समर्थनीयत्वात् । यदि वस्तुतो न किञ्चिद्भगवान् गृह्णाति तर्हि कथं 'परमेश्वरप्रीत्यर्थमिदं कर्म करोमि' 'प्रीयतामनेन परमेश्वरः' 'नैवेद्यं समर्पयामि' 'पूजां समर्पयामि' 'गन्धाक्षतं समर्पयामी'ति लोकानामुक्तिः संगच्छेतेत्याह स्पष्टवक्ता भगवान्—अज्ञानेन ज्ञानमावृतं तेन जन्तवो मनुष्या मुह्यन्ति मोहं प्राप्नुवन्ति । अज्ञानप्रेरितमेव तादृशं वचनं कर्मिणां न तु तत्र किञ्चित्तत्त्वं विद्यत इति परमार्थः । ननु तर्हि परमेश्वरपूजनोपासनयजनादीनां नैष्फल्यमेव सिद्ध्येत् ? आम, सिद्ध्येदेव । तेन किम् ? परमेश्वरावतार एव द्रढयति चेत्स्वपूजनोपासनादीनां नैष्फल्यं तर्हि विवशा एव मनुष्याः । न च पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छतीत्यादिभगवद्वचनस्य का गतिरितिचेच्छृणु । ज्ञानिनोऽज्ञानिश्चेति द्विविधा मनुष्याः । तत्राज्ञानिनामेव कृते पत्रं पुष्पमित्यादिवचनं मन्तव्यम् । ज्ञानिभिस्तु सर्वकामविवर्जितं परोपकारार्थमेव कर्म कर्तव्यमितिभावः । न च यं स उन्निनीषति पुण्येन कर्मणा योजयतीत्याद्यर्थिकाथर्वणी श्रुतिः प्रकुप्येतैतच्छ्लोकस्वीकार इति वाच्यम् । कृष्णेन वेदस्य तृणाय मतत्वात् ॥१५॥

पुनस्तत्त्वं विवृणोति—

ज्ञानेन न तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

येषां जीवानामात्मनोन्तःकरणस्य मनस इतियावत् । तदज्ञानं ज्ञानेन तु नाशितं व्यपोहितं तेषां ज्ञानमावरणरहितं तत्परं प्रकाशयति । अज्ञानेनैवात्मनः कर्तृत्वं क्रियासु सर्वे मन्यन्ते । विनष्टेऽज्ञाने तत्त्वविदो भवन्तः सर्वे कृष्णोपदिष्टमार्गेण, नात्मा कर्ता, प्रकृतिगुण एव कर्तेत्यादिकं तत्त्वं निश्चिन्वन्तीत्यर्थः । तुरवधारणे । ज्ञानेनैवाज्ञाननाशो नियतो नान्येन साधनेनेति । ज्ञानेनेति कर्तरि तृतीया । आदित्यवदिति दृष्टान्तः । यथा मेघाद्यावरकवस्तुभी रहित आदित्यो द्रष्टव्यं सर्वं प्रकाशयति तथैव तन्निर्मलं ज्ञानं परं तत्त्वं प्रकाशयति । विषमो दृष्टान्तः । निर्मलोप्यादित्यो गुहास्थमन्धकारावृतं वस्तु न प्रकाशयति । ज्ञानं तु निगूढमपि प्रकाशयत्येवेति । न वैषम्यम् । न ह्यज्ञानेन ज्ञानमाव्रियते । ज्ञानमपि जडमेव । अज्ञानमपि जडमेव । मया ज्ञानमावरणीयमिति न भवत्यज्ञानस्य ज्ञानम् । उभयोरेवस्थितिः स्वाभाविकी मनसि । कदाचिज्ज्ञानस्य वृद्धिरज्ञानस्य चापवृद्धिः। कदाचिच्चाज्ञानस्य वृद्धिर्ज्ञानस्य व्यृद्धिः । यस्य प्राबल्यं भवति तदनुसारिणी क्रिया प्रवर्तते । कदाचिज्ज्ञानानुसारिणी क्रिया । कदाचिदज्ञानानुसारिणी । अयमेव क्रमो ज्ञानेनाज्ञानं नाश्यते ज्ञानं चाज्ञानेनाव्रियत इत्यादिशब्दैर्व्यवह्रियते । एवं तमःप्रकाशौ सर्वत्रैव तिष्ठतः । यत्र तमोवृद्धिस्तत्र न प्रकाशस्य गतिः । यत्र प्रकाशस्य वृद्धिर्न तत्र तमोगतिः । गुहास्थः प्रकाशस्तमोपेक्षया दुर्बल इति न तत्प्रकाशने क्षमतां धत्ते । सूर्योपि जडस्तमोपि जडम् । न हि मया तमो निवारणीयमिति निश्चित्य सूर्य उदयमयते न वा तमः प्रवर्तते सूर्यप्रकाशो मयावरणीय इति समवधार्य । केवलं स्वभाव एव तेजोमयस्यादित्यस्य वस्तुप्रकाशनाय । स्वभाव एव तमसो वस्तुस्वरूपविलोपाय । अथवा न तमो विद्यते कश्चन भावपदार्थः । प्रकाशस्याभाव एव तम इति व्यवह्रियते । सति प्रकाशे प्रकाशते सर्वं प्रकाशाभावे न प्रकाशते । अज्ञानमपि ज्ञानाभाव एव । सति ज्ञाने तत्त्वं प्रकाशतेऽसति च तस्मिन्विलीयते तत्त्वम् । तत्रापि तारतम्यमवगमनीयम् । प्रकृष्टं ज्ञा[illegible] प्रकर्षेण तत्त्वमवगमयति मध्यमं दुर्बलं वा ज्ञानं तथावगमयति तत्त[illegible] स्वरूपानुरूपम् ॥१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

तद्बुद्धयः सा तृतीयाध्यायोक्ता बुद्धिर्येषां ते तद्बुद्धयः । समानाधिकरणबहुव्रीहिः । तदात्मानः सैव बुद्धिरात्मा नियन्ता येषां ते तदात्मानः । तन्निष्ठाः सैव निष्ठा नितरां स्थात्री येषु ते तन्निष्ठास्तादृशा बुद्धया सहैव स्थितिमन्तः । तत्परायणाः सैव परं परममयनं स्थानं शरणं येषां ते तत्परायणाः । ज्ञानैकशरणा इत्यर्थः । ज्ञाननिर्धूतकल्मषा ज्ञानेन निर्धूतो नितरां कम्पितो दूरीकृत इत्यर्थः । कल्मषो दोषोऽज्ञानरूपो येषां ते प्रबुद्धज्ञाना इतिभावः । अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति न हि भवति तेषां पुनर्जन्म । स्वत एव सर्वेषां सिद्धं जन्माभावं क्वचिज्ज्ञानेन साधयति क्वचिन्निष्कामकर्मणा क्वचिच्च भक्त्या क्वचिच्चान्येनोपायेनेति ज्ञेयम् । सर्वस्यात्र पुनर्जन्म न भवतीत्यत्रैव विश्रम इत्यवधेयम् । निष्ठा इत्याकारान्तः पुंलिङ्गो विश्वपेतिवत् ॥१७॥

येषां भवति ज्ञानोदयो ज्ञानप्रकाशो वा तेषां किं स्वरूपमित्याह--

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

पण्डिताः पण्डा पूर्वोक्तरीत्या सदसदवलोकनी बुद्धिर्जाता येषां ते मानवा विद्याविनयसम्पन्ने विद्यया विनयेन च सम्पन्ने यस्मिन् कस्मिश्चिज्जने, ब्राह्मणे ब्रह्मज्ञानिनि, गवे, हस्तिनि, शुनि कुक्कुरे, श्वपाके चण्डाले च समदर्शिनो भवन्ति । किमुक्तमनेन श्लोकेन ? उच्यते । विद्याविनयाभ्यां सम्पन्नो यः कोपि तस्मिन्नब्रह्मविदि, ब्रह्मविदि ब्राह्मणे च पण्डिताः समदर्शिनो भवन्ति इति प्रथमं द्विकम् । गवि गजे चापि पण्डिताः समदर्शिनो भवन्ति । अल्पमूल्या गावो बहुमूल्या गजा इतिमत्वा न विषमदर्शिनो भवन्तीतिभावः । इति द्वितीयं द्विकम् । शुनि श्वपाके चापि पण्डिताः समदर्शिनो भवन्ति । श्वा विष्ठाशी मांसाहारी च भवति । श्वपाकः श्वाशी भवति । द्वयोरेव समभावः पण्डितानाम् । इति तृतीयं द्विकम् । विद्याविनयसम्पन्ने

इति न ब्राह्मण इत्यस्य विशेषणम् । निरर्थकत्वात् । ब्रह्मणो वेदस्यायं सम्बन्धी ब्राह्मणः । स च ब्रह्मज्ञानी । न ।ह विद्याविनयसम्पन्न एव ब्राह्मणो भवति प्रत्युत ब्राह्मणो विद्याविनयसम्पन्नतां जहाति, ब्रह्मत्वं च परिगृह्णाति । अतो विद्याविनयसम्पन्ने मनुष्येब्रह्मविदि ब्रह्मविदि च मनुष्ये पण्डिताः समदर्शित्वं भजन्ते । ननु यदि ब्राह्मणो ब्रह्मत्वं भजन्ते तर्हि ते मनुष्याच्च्यवन्तीति। न। भवत्यात्मा मनुष्यो वा पशुर्वा । शरीरं भवति मनुष्यः पशुर्वा । ननु मनुष्यस्य शरीरं पशोः शरीरमिति व्यवहारस्य का गतिः ? उत्तमा गतिः । आम्रस्य फलं कदल्याः फलं शिंशपाया वृक्ष इतिवच्चेदः समर्थनीयः । ब्रह्मविदब्रह्मविदोरुत्तमा कोटिर्मनुष्यत्वात् । गोगजयोर्मध्यमा कोटिः विशिष्टपशुत्वात् । श्वश्वपाकयोरधमा कोटिः । ननु किं नाम पण्डितानां समदर्शित्वम् ? उच्यते । सर्वत्रैव प्रकृतिगुणत्वं विद्यते । क्वचिदधिको विकासः प्रकृतिगुणे, क्वचिन्न्यूनः क्वचिच्चन्यूनतरः । सर्वत्रैव प्रकृतिगुणो विलसतीतिमत्वा विषमदृशमपहाय समदृक्त्वधारणपूर्वकं सर्वत्र समानं प्रेमेति ॥ १८ ॥

फलमाह समदर्शित्वस्य—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

येषां मनः साम्ये स्थितं समदर्शितां यातं तैरिहैव न प्रमाणशून्येन्यस्मिंल्लोके । देहत्यागादूर्ध्वमितिभावः । सर्गः संसारो जितः । न पुनस्तेषां जन्म भवितुमर्हति । समदर्शित्वमपि मोक्षहेतुरित्यत्रोक्तम् । सर्वत्र समदर्शित्वं रागद्वेषौ लोभक्रोधौ व्यपोहति । मनोदूषणसम्पादकानामभाव एव मोक्ष, इति तात्पर्यम् । किं च, समदर्शित्वं सद्गुणः । सद्गुणत्वेत्र निर्दोषता । हि यतो ब्रह्म निर्दोषं मतम् । तस्मात्ते समदर्शिनो ब्रह्मण्येव स्थिताः । सर्वत्र समदर्शनं ब्रह्मरूपम् । येषां मनः समत्वे स्थितं तेषां तद्ब्रह्मण्येव । स्थितमिति मन्तव्यम् । ब्रह्मणि मनसोवस्थानमेव जीवानामवस्थानमभिप्रेतम् । अन्यथा ब्रह्मणो व्यापकत्वेन सर्वेषां प्राणिनां पदार्थानामव्यापकानां स्वत एव ब्रह्मण्यवस्थानस्य सिद्धत्वाद्वचनमेतदनर्थकं स्यात् । समबुद्धित्वं

मोक्षाय भवतीति भावः । ननु विषम उपन्यासः । साम्ये मनः स्थितमित्युक्तम् । मनसि न साम्यं तिष्ठतीत्यनुभवः । साम्ये मनस्तिष्ठतीत्यनुभवाभावः । सत्यम् । साम्ये स्थितं मन इत्युक्तेः साम्य सम्पादयितुमुत्कं मनो येषामित्यर्थः ॥ १९ ॥

निर्दोषे समे ब्रह्मण्यवस्थितानां को व्यापार इत्याह—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

प्रियं वस्तु प्राप्य न प्रहृष्येत्प्रकृष्टं हर्षं नानुभवेत्केवलं सन्तुष्येत् । अप्रियं च प्राप्य नोद्विजेदुद्वेगं नानुभवेच्छान्त्या तदपसारयितुमुपायं चिन्तयेत् । प्रियत्वमप्रियत्वं च न नियते । काल्पनिके हि ते । कालेन प्रियमप्यप्रियमप्रियमपि प्रियं भवति । एवं चास्थिरवस्तुकृते न प्रहर्षो नोद्वेगोऽनुभवितव्यः । तर्हि किं कर्तव्यम् ? स्थिरबुद्धिः स्थिरा निश्चला न प्रहृष्टा नोद्विग्ना बुद्धिर्यस्य तथाभूतः सन्नसमूढो नित्यानित्यविचारशून्यः कृत्याकृत्यविचारशून्यो वा न भवन् ब्रह्मवित्समत्वविद्ब्रह्मणि निर्दोषे ब्रह्मणि स्थितो भवति ॥२०॥

किं च—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

स्पर्शा विषयाः । बाह्यस्पर्शेष्विन्द्रियानुभाव्येषु विषयेष्वितिभावः । असक्तात्मा वियुक्तान्तःकरणो यत्सुखमात्मनि मनसि विन्दति लभते, तदपि वरमेव । परन्तु स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ब्रह्मणि समत्वरूपे योगः सम्बन्धस्तेन युक्तः सर्वत्र सम आत्माक्षय्यं न क्षेतुं शक्यं यत्सुखं तदश्नुतेऽनुभवति । इदमुक्तं भवति । बाह्येषु विषयेषु यथाप्रयोजनं विचरन्न च तत्र मन आसञ्जयन्नवश्यं सुखं शान्तिमधिगच्छति । परन्तु तदपेक्षया तस्य परम सुखं भवति तस्य यस्य मन इष्टानिष्टादिविवेकविधुरं सहर्षोद्वेगाभ्यां दूरे तिष्ठतीति । तृतीयपादे ब्रह्मयोगयुक्तात्मेत्यस्य ब्रह्मयोगेण युक्तम् आत्मा मनो यस्येत्यपि

विग्रहो ज्ञेयः । सर्वं समीचीनम्, परन्तु यत्सुखमित्यत्र दृश्यमानस्य यच्छब्दस्य किं सामञ्जस्यमिति वक्तव्यम् । यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध इति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः । अन्यतरप्रयोगेदृष्टमन्यतरदध्याहार्यं भवति । अत्र यदि तच्छब्दोध्याह्रियते तदात्मनि यत्सुखं तद्बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दतीत्यर्थो निष्पद्यते । तत्रेदं विचारणीयम् । मनसि किञ्चित्स्थायि सुखं विद्यते न वेति । यदि विद्यते तन्निरूपणीयम् । यदि न विद्यते विषयानुभवसहजन्मैव तद्भवति तर्हि कथमात्मनि यत्सुखं तल्लभत इत्युक्तिश्चरितार्था भवेत् ? उच्यते । द्वितीये पादे श्रूयमाणस्य सइतिपदस्य स्थाने तदितिवेद्यम् । एवं च विषयासक्तात्मा मनसि यत्सुखमश्नुते तत्सुखमक्षय्यं यथा स्यात्तथा ब्रह्मयोगयुक्तात्माश्नुत इति तात्पर्यम् । विषयासक्तसमत्वस्थितयोरुभयोरेवान्तःकरणे सुखं तूत्पद्यत एव परं सममनसः सुखमक्षय्यं भवति । अक्षय्यपदस्य स एवार्थो यः 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवती'त्यस्याः श्रुतेरिति ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

संस्पर्शः सम्बन्धः । केषाम् ? विषयेन्द्रियाणाम् । हे कौन्तेय संस्पर्शजा विषयेन्द्रियसंस्पर्शजा विषयेन्द्रियसम्बन्धसंजाता ये भोगास्ते सर्व एव दुःखयोनयः । दुःखानां योनयः कारणानि । कथं ते दुःखानां योनयः ? यतस्त आद्यन्तवन्त आदिमन्तोन्तवन्तश्च । आद्यन्तवत्त्वं नश्वरत्वेन व्याप्तम् । ते नश्वरा इत्यर्थः । तेषु नश्वरेष्विन्द्रियविषयसंस्पर्शजभोगेषु बुधो बुद्धिमान्न रमते नासक्तो भवति । कश्चित्प्रखरो विषयलम्पटः 'त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ । विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥' इतिश्लोकमुदाहृत्य 'न रमते' इत्यस्य वैराग्यं विधाय विरमतीत्यर्थमाह । तदयुक्तम् । सर्वेषां हरिहरादीनां रामकृष्णादीनां च विण्मूत्रे रममाणानामद्यावधि, कृमीणामेव तौल्यं स्यादीश्वरत्वं चाभिमतं व्याहन्येत ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्छरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

शरीरविमोक्षणाद्देहत्यागात्पूर्वमेव कामक्रोधोद्भवम् । काम इच्छा । क्रोधो द्वेषोद्भवो मनोविकारविशेषः । कामक्रोधाभ्याञ्चोद्भव उत्पत्तिर्यस्य तं वेगं य इहैव सोढुं शक्नोति तेन न पराजीयते स नरो युक्तः संयमी जितेन्द्रियः सुखी शान्तात्मा च भवति । नन्विहैवेत्यस्य किं तात्पर्यम् ? उच्यते । यो नात्र कामक्रोधोद्भवं वेगं सहते मरणानन्तरं यमदूतैर्यमालयं स नीयते । तत्र च पावकप्रतप्ते पर्यङ्के स प्रखरो दुराचारी कदाचिदेककः कदाचिच्च स्त्रिया सहितस्तत आलोड्यते । तत्र स कामक्रोधोद्भवं वेगं सहते हठादिति पौराणिकाः । वयं तु एवेत्यस्य शक्नोतीत्यनेन सम्बन्धो य इत्यनेन वा । एवं च यस्तादृशं वेगं सोढुं शक्नोत्येव स नर इह युक्तः सुखी चेत्यन्वयः । स एवेह तादृशं वेगं सहितुं शक्नोति स एवेह नरो युक्तः सुखी चेति वान्वयः । अत्र द्वितीय एवकारोऽध्याहार्यः सर्वं वाक्यं सावधारणं भवतीतिन्यायेन ॥२३॥

योन्तःसुखोन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोधिगच्छति ॥२४॥

फलितमाह । पूर्वमुक्तं स युक्तः स सुखी नर इति । सुखमस्यास्तीति सुखी । कीदृशं तत्र सुखमभिप्रेतमित्याह—योन्तःसुख आन्तरं सुखं यस्य सः । वस्तुतः सुखं न भवति तथापि लोकप्रतारणाय सुखमभिनयति तत्सुखं न भवत्यान्तरम् । आन्तरमेव सुखं वास्तविकम् । काल्पनिकं कृत्रिमं च तन्न भवत्यामोदाय । यश्चान्तरारामः अन्तरेवारमति न बाह्यविषयारामेण कृत्रिमेण यस्य प्रयोजनम् । तथा योन्तर्ज्योतिः पूर्वोक्ततत्त्वज्ञानसम्पन्नः । स एव योगी कर्मयोगी परोपकारपरायणो ब्रह्मभूतः सन् ब्राह्मीं स्थितिमधिगच्छन् ब्रह्मनिर्वाणमधिगच्छति । परोपकारपरायणो ब्रह्मत्वमाप्नुवन् न तु ब्रह्मैव भवन् । अत एव ब्रह्मभूत इत्युक्तम् । ब्रह्मणि यन्निर्वाणं निर्वृत्तिः शान्तिस्तामधिगच्छति । निर्वात्यत्रेति निर्वाणम् । क्तोधिकरणे चेत्यनेनाधिकरणे क्तः । निर्वाणोऽवाते इति निष्ठानत्वम् । ब्रह्मरूपं निर्वाणं ब्रह्मनिर्वाणम् इति वा । भावे क्तः । अथवा भावे ल्युट् । एवं च ब्रह्मणि

निर्वाणं निर्वृतिरिति यावत् । ब्रह्मभूत इत्यस्य ब्रह्मेव भूत इतितात्पर्यम् । किमिदमुक्तम् ? ब्रह्मभूतो ब्रह्मेव भूतो ब्रह्मनिर्वाणमधिगच्छतीति ? कथमिदं स्यात् ? इवार्थः सादृश्यम् । तच्च तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्वम् । एवं च ब्रह्मब्रह्मभूतयोर्भेदावगमस्तु तिष्ठत्येव । ब्रह्मरूप निर्वाणं तु ब्रह्मण एव स्यान्नतु ब्रह्मसदृशस्य । ब्रह्मैव भूतो यद्यर्थस्तर्हि ब्रह्म ब्रह्मनिर्वाण-मधिगच्छतीत्युक्तिरसङ्गतैव । सत्यमसङ्गतम् । न क्षतिः । श्रेष्ठीव यः स श्रेष्ठित्वमाप्नोतीत्यनुदिनं सर्वैरनुभूयत एव । पण्डित इव यः स पण्डितमानम ऽयत्येवेत्यप्यनुदिनमनुभूयत एव । ब्रह्मेव भूत इत्यर्थेपि नासङ्गतिः । स्वरूपावाप्तिः प्रयोजनम् । अन्तःसुखादिसम्पन्नो ब्रह्मणि निर्वृतिं प्राप्नोतीति ब्रह्मरूपं निर्वाणं प्राप्नोतीतिभावः । आतिशायिकं सुखमधिगच्छतीति हार्दम् ॥२४॥

परोपकारपरायणा एव ब्रह्मनिर्वाणं लभन्त इत्याह—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

ऋषिशब्दो न प्रसिद्धर्षिवाचकः किन्तु सत्यवागिति तस्यार्थः । तत्त्वज्ञ इति वार्थः । सर्वभूतहिते रताः सर्वकल्याणसिद्धिपरायणा यतात्मानो विजितेन्द्रिया विजितमनसो वा छिन्नद्वैधा विनष्टसन्देहाः क्षीणकल्मषा अपहृतपापा ऋषयः सत्यवचसो ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते । पूर्वोक्तश्लोकस्य फलितार्थकथनमेतत् । श्लोकसंख्यावृद्धय एवास्य कलेवरम् । नात्र किञ्चिन्नूतनार्थसूचनम् । योन्तर्ज्योतिः स एव च्छिन्नद्वैधः । यतात्मैव योगी । अन्तःसुखोन्तराराम एव क्षीणकल्मषः । क्षीणकल्मष एवान्तःसुखोन्तरारामश्चेति वा । अकिञ्चित्कराणि विशेषणानि ॥२५॥

निरलसो भगवान्पुनस्तमेवार्थमाह—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

शक्नोतीहैव (५।२३) इत्युक्तमेवार्थं संग्रहेणाह । यतचेतसां यतं संयतं विषयनिरुद्धं चेतो येषां तेषाम् । यतीनां संयमिनाम् । यतियतचेतसोर्न कश्चन भेदः । न च यतिशब्देनेह संन्यासिनां ग्रहणमितिवाच्यम् । तेषामप्रस्तुतत्वात् । कामक्रोधवियुक्तानां परित्यक्तकामक्रोधानामत एव विदितात्मनां विदितोवगत आत्मा यैस्तेषाम् । आत्मेह मनः । मनसो विदितत्वं च तस्य वशीकारः । ब्रह्मनिर्वाणमभितः सर्वतो वर्तते । एतादृशां सर्वथा ब्रह्मभावसिद्धिरेव । अभित इत्यस्योभयत इति नार्थः । जीवतां मृतानां च मोक्षो भवतीत्यपि नार्थः । जीवतामेव कामक्रोधवियुक्तानां यतचेतसां ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते इत्येव तात्पर्यम् । मृतानां कामक्रोधवियुक्तत्वोक्तिः परिहासायैव ॥२६॥

मुक्तस्य स्वरूपमाह—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

ये बाह्याः स्पर्शा विषया अज्ञानदशायामन्तःस्थिताः सन्ति तान्सर्वान् बहिः कृत्वा बहिष्कृत्य तेषां सङ्गं हित्वेत्यर्थः । भ्रुवोरन्तरे चक्षुः कृत्वा बाह्येभ्यः पदार्थेभ्यो निरुद्धय चक्षुरिन्द्रियमितिभावः । नासाभ्यन्तरचारिणौ नासायामभ्यन्तरे गुदमार्गे च चरन्तौ प्राणापानौ प्राणमपानं च समौ कृत्वा नैरोग्यसमृद्धिं सम्पाद्येत्यर्थः । यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मननशीलो मोक्षपरायणो दुःखापगमं कामयमानो विगतेच्छाभयक्रोधो विगता इच्छा च भयं च क्रोधश्च यस्मादेवं भूतो यः स सदा मुक्त एव । न तस्य दुःखकारण किञ्चिद्विद्यत इत्यर्थः । मुक्तदशासम्पादने भ्रुवोरन्तरे चक्षुषोः करणं प्राणापानयोः समीकरणं च सर्वथैवाहेतुः । सदा मुक्त एव सः इत्युक्त्या वैदिकाभिमता मुक्तिर्निरस्ता । यतेन्द्रियनोबुद्धिरित्यत्रेन्द्रियग्रहणे सत्यपि मनोग्रहणं मनस इन्द्रियत्वे सर्वसम्मानाभावं सूचयति । सर्वेषां ज्ञानेन्द्रियाणां

गोलकं विद्यते न च मनसः किञ्चिद्गोलकं तेन मनसो नेन्द्रियत्वमित्यपि पार्थक्येन ग्रहणे हेतुः। भयवतां क्रोधवतां च न कथमपि मुक्तिः श्रीकृष्णाभिमता। वैदिकैरभ्युपगतापि न सुतराम् ॥२८॥

उपसंहरति—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पञ्चमोऽध्यायः

यज्ञः परोपकारः। तपः सहिष्णुत्वादि। यज्ञतपसां यज्ञानां परहितोपयोगिकर्मणां तपसां सहिष्णुत्वादीनां च भोक्तारं पालयितारं सर्वलोकमहेश्वरं सर्वेषां लोकानां विषयेक्षितॄणां ज्ञानेन्द्रियाणां महेश्वरं वशयितारं सर्वभूतानां सुहृदं मां ज्ञात्वा शान्तिमृच्छति प्राप्नोति। कः? सर्व एव। यो मामीदृशं ज्ञास्यति स मामनुगच्छन्मादृगेव भविष्यति। एभिरेव साधनैरहमस्मिन्भयङ्करे युद्धेपि शान्तिमार्च्छं सोपि शान्तिमेभिरेव साधनैररिष्यतीति तात्पर्यम् ॥२९॥

समुत्सार्यैव मनसो भयं निरयकारणम्।
यः सत्यमनुसन्धत्ते स कृतार्थो भवेद्भुवि ॥

इति श्रीमहाभारते श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीमत्परमहंस-परिव्राजक-पण्डितराज-स्वामिश्रीभगवदाचार्यप्रणीते भगवद्भाष्ये

पञ्चमोऽध्यायः।

अथ षष्ठोऽध्यायः

द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमाध्यायेषु यत्किञ्चिदुक्तं भगवता तत्सर्वमिहार्जुनं स्मारयितुं पुनरप्याह—

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

'संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि' (५।१) संन्यासः कर्मयोगश्च' (५।२) 'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी' (५।३) 'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः । योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म' (५।६) 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी' (५।१३) इत्यादिषु संन्यासशब्दो योगशब्दश्चासकृद्व्यवहृतः । संन्यासशब्दरहस्यं पञ्चमाध्याये विवृतमेव । योगशब्दस्तु स्पष्टार्थ एव । उक्तमेवार्थं द्रढयितुं भगवानुपदिशति—कर्मफलं कर्मणां फलमनाश्रितः न कामयमानः कार्यं कर्तव्यमनुष्ठातव्यं कर्म परोपकाररूपं स्वोपकाररूपं च यः करोति निर्वर्तयति स संन्यासी च योगी च स एव संन्यासी कर्मसंन्यासी स एव योगी कर्मयोगी । एवार्थे चः । एवं च कर्मफलं परिहृत्यानभिलष्य वा कर्म कुर्वन्नेव सन्यासी कर्मसंन्यासीत्युच्यते । कर्मसंन्यासी कर्मफलसंन्यासी कर्मयोग्यपि स एव । अनेन यद्व्यावर्तितव्यं तदाह निरग्निरिति । अग्निशब्देन लक्षणया यागो गृह्यते । स च परोपकार एव । एवं च निर्यागः परोपकाररूपयागपरित्यागमात्रेण स्थितो यः स न च संन्यासी न च कर्मयोगीतिभावः । एवमक्रियोऽपि । किं मे कर्मणा ? कर्म बन्धनकारणं रागद्वेषकारणं दुःखकारणं चेति चिन्तयित्वा त्यक्तक्रियोऽपि न संन्यासी । कर्मयोगित्वस्य तु योग्यतैव नास्तीति स न स इति स्वतः सिद्धम् । एवं च 'संन्यासः कर्मयोगश्च (५।२) 'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी' (५।३) 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः' (५।४) 'एकं सांख्यं च योगं च' (५।५)

'योगयुक्तो विशुद्धात्मा' (५।७) 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति' (५।११) 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा' (५।१२) 'सर्वकर्माणि मनसा' (५।१३) इत्यादिभिर्वचनैः समानार्थकोयं श्लोकः । निरग्निशब्देनाक्रियशब्देन च वैदिकसंन्यासी प्रतिक्षिप्त इत्यपि वेदितव्यम् ॥१॥

स संन्यासी च योगी चेत्युक्तम् । तदेव पुनर्द्रढयति—

यं +संन्यास इति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

विद्वांसो विवेकिनो यं संन्यास इति प्राहुर्यं संन्यासं मन्यन्त इतिभावः । हे पाण्डव, तं तमेव योगं कर्मयोगं विद्धि जानीहि । द्वयोरभेद एव । शब्दतो भेदो नार्थतः । एतदेव सूचयितुमाह—असंन्यस्तसंकल्पो न संन्यस्तः परित्यक्तः सङ्कल्प इदं करिष्यामीदं च प्राप्स्यामीत्यादिरूपो येन स कश्चन योगी न भवति । स एव कर्मयोगी भवति यः सर्वेषां सङ्कल्पानां संन्यासं करोति । कर्मफलसंन्यसनशील एव कर्मयोगी भवतीत्यनेन प्रत्यपीपदद्भगवान् ॥२॥

कर्मानुष्ठानत्यागयोः कश्चन क्रमो निर्दिश्यते—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

योगं कर्मयोगमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोर्मुनेर्मननशीलस्य बुद्धिमतः कर्म कारणमुच्यते । किमुक्तं भवति योगमारुरुक्षोर्मुनेः कारणं कर्मेति ? न । आरुरुक्षोर्मुनेः किमपि कारणं न भवितुमर्हति । तर्हि कस्य कारणमिहोच्यते ? आरोहणस्येति गृहाण । यदि कश्चिद्विद्वान् कर्मयोगं कर्मफलत्यागरूपयोगं साधयितुमिच्छति तर्हि पूर्वं तेन कर्मैव कर्तव्यम् । न हि कर्म विना कर्मत्यागः संभवति । कर्मफलत्यागरूपारोहणमपि दुःशकम् । अतः कर्मफलत्यागरूपकर्मयोगारोहणे कर्मणः कारणत्वम् । स एव यदि योगारूढो भवति कर्मफलत्यागाभ्यसनवान् भवति तदा तस्यैव योगारूढस्य कर्मफलत्यागव्यसनिनः

+संन्यासमित्यपि पाठः ।

शमः कारणमुच्यते । अत्रापि पूर्ववत्स एव प्रश्नः शमः कस्य कारणं भवतीति ? उच्यते । अत्र शान्तये इति पदमध्याहार्यम् । योगारूढस्य शान्त्यै शमः कारणं भवति । शमश्च विषयलौल्याभावः । यदि विषयेच्छा न निवर्तेत योगारूढत्वं न सिद्धयेत् । कर्मफलत्यागे विषयेच्छानिवृत्तिः कारणमितिभावः । ननु कर्म तु परोपकाररूपमेव ग्राह्यम् । तत्र विषयेच्छाप्रवृत्तिरेव दुर्लभा । तर्हि कथं निवारणप्रयास इति ? सत्यं परोपकारकर्मणोन्यत्कर्म नैव गृह्यते । तथापि प्रारम्भे स्यादेवेच्छा स्वर्गप्राप्तेर्देवत्वप्राप्तेः कीर्तिप्राप्तेश्च । एतादृशीच्छापि विषय एव । विषयसम्बन्धिनीच्छापि विषयत्वेनैव ग्रहीतव्या भवति । एवं च कर्मफलत्यागे विषयेच्छानिवृत्तिः कारणमितिभावः । न हि मुनिरत्र संन्यासी न वा प्रपन्नः । केवलं विद्वानेव विचारशील एव । कर्म परोपकाररूपमेव न तु यागादिरूपम् । द्वितीयाध्याये तस्य भगवता तिरस्कृतत्वात् । किं च यागादिकर्मणि न कथमपि शान्तिः कर्मफलत्यागप्रेरणाया वा काचिच्छक्तिर्विद्यते । न च श्रूयते स्मर्यते वा कश्चिदत्रेतिहासः । ननु जनकादीनां कर्मणैव संसिद्धेर्भगवतैवो (३।२०) क्तत्वात्कथमितिहासाभावः समर्थ्यते ? उचितं हि तत्क्रियते । तत्रापि कर्मशब्दो न यागादिपरः । परोपकारपर एवेति । न हि कुत्रापि भगवान् यागस्य शान्तिप्रदत्वं समर्थितम् । यामिमां पुष्पितां वाच(२।४२,४३, ४४) मित्यादिभिर्निकृष्टतमशब्दैस्तस्य निराकृतेरेव दृष्टत्वात् । न हि कश्चन सम्प्रदायं वैष्णवं वा शैवं वा प्रतिष्ठापयितुं भगवतः प्रवृत्तिः । नासीच्छिष्योर्जुनोद्वैतवादी वा विशिष्टाद्वैतवादी वा शुद्धाद्वैतवादी वा । एतेषां वादानामुत्थानमपि तदानीं नासीत् । अतो यत्किञ्चित्सम्प्रदायसिद्धयर्थं भगवद्वचनस्योपयोगोन्याय्य एव । नासीत्कश्चन सम्प्रदायो भगवतः । ज्ञानयोगोपि न तस्य सम्प्रदायः । न च कर्मयोगोपि । भक्तियोगोपि न । यद्येतेषु कोपि तस्य स्वसम्प्रदायत्वेनाभिमतः स्यात्तमेव द्रढयेन्न सर्वान् । भगवांस्तु सर्वत्रैव गुणमवलोकते । अतस्त्रिष्वन्यतममपि योगमुपास्य दुःखविमोकः साधयितुं शक्य इत्येव तन्मतपरिष्कारः ॥३॥

योगारूढस्य सम्पत्तिरुपवर्ण्यते—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

यदा हि कश्चिदिन्द्रियार्थेषु रूपरसादिषु कर्मसु कर्मफलेषु च नानुषज्यते सर्वसंकल्पसन्यासी भवति भवति च यदा सर्वेषां सङ्कल्पानां न्यसनशीलस्तदा स योगारूढ उच्यते । अव्यवहितपूर्वश्लोकस्यैवायं पूरकः । न कर्मस्वित्यस्य परोपकारेतरकर्मसु नानुषज्यते इत्यप्यर्थः । यः सर्वसङ्कल्पसंन्यासी भवति स कर्मसु नानुषक्तो भवति यश्च कर्मसु नानुषक्तः स इन्द्रियार्थेष्वपि नानुषक्तो भवतीति भावः ॥४॥

कर्मफललौलुप्यात्मनोधःपातो भवति, अन्यथा च तस्योद्धारो भवतीत्याह—:

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

आत्मानमात्मना स्वयमुद्धरेद्दुष्कृतेर्दूरं नयेत् । आत्मानं नावसादयेन्नावनतिं नयेत् । आत्मनोवनतिस्तु स्वरूपापरिज्ञानं विषयप्रवणता च । आत्मैवात्मनो बन्धुर्मित्रम् । आत्मैवात्मनो रिपुः शत्रुः । मन :एवात्मेति मनसिकृत्यायं श्लोकः । अन्यथासङ्गत एव स्यादयं श्लोकः । न ह्यात्मानं विहाय परमेश्वरो रक्षणार्थं प्रार्थनीय इत्यपि भगवतोभिप्रायः । न हि परमेश्वरः कस्यापि रक्षायै प्रवर्तते विनष्टये वा । अतस्तत्प्रार्थना केवलं बालविलसितमेव । मनसः सन्मार्गगमनमेव मनस उद्धारः । असन्मार्गगमनमेव मनसोवसादनमिति ॥५॥

कीदृगात्मा बन्धुः कीदृक् च शत्रुरिति परिचाययति—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

स आत्मा तस्यात्मनो बन्धुर्येनात्मना स्वयं सततसत्प्रयत्नेनात्मा जितो विकारान्निवारितः । अनात्मनस्त्वजितेन्द्रियस्य तु येन स्वेन्द्रियाणीन्द्रियविषयाश्च नो जितास्तस्य शत्रुत्वे आत्मैव शत्रुवद्वर्तेत । अयं भावः । अत्रात्मशब्दः क्वचिन्मनोवाचकः क्वचिदिन्द्रियवाचकः । येनेन्द्रियाणीन्द्रियविषयाश्च स्ववशीकृता स आत्मा स्वस्य मित्रत्वे तिष्ठति । मित्रवदात्मान-

मुपकरोति । येन च नेन्द्रियाणि जितानि न वेन्द्रियविषया जिताः स एव स्वस्य शत्रुत्वे वर्तते । मनो नैर्मल्यमपेक्षिततम् । कुटिलः पुरुषः शत्रुत्वाय सरलश्च मित्रत्वायेतिभावः । कुटिलः आत्मनः परेषां च विनाशाय भवति । सरल आत्मनोन्येषां च निःश्रेयसाय भवति ॥६॥

जितेन्द्रियं स्तौति—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

येनात्मा मन इन्द्रियाणि च जितानि तस्य प्रशान्तस्यातिशयेन शान्तस्यात्मा मनः शीतोष्णसुखदुःखेषु द्वन्द्वेषु तथा मानापमानयोर्माने चापमाने च परमत्यन्तं समाहितः समाहितं सावधानं भवति । यस्य मनोजितं विद्यते तस्य शीतोष्णादीनां प्रतीतिर्भवति तथा च सुखदुःखादीनामपि प्रत्ययो भवति । यस्य जितमेव मनस्तस्य न किमपि वस्तु विकाराय भवतीति ॥७॥

स्वेनैव बहुषु प्रसङ्गेषु प्रयुक्तस्य युक्तशब्दस्य युजधात्वर्थस्य च मनीषितमर्थमाह—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ज्ञानेन शास्त्रीयज्ञानेन विज्ञानेन स्वानुभवेन तृप्तमात्मा मनो यस्य सः । अत एव विजितेन्द्रियो विजितानि विषयपराङ्मुखत्वं नीतानीन्द्रियाणि येन सः । त एव च समलोष्टाश्मकाञ्चनः समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य सः । समविषबुद्धिरहितो लोष्टाश्मकाञ्चनेषु य इति व्यधिकरणबहुव्रीहिर्वा । लोष्टं मृत्खण्डं मूल्यं तुच्छम्, अश्मा पाषाणः स चाल्पमूल्यःकाञ्चनं सुवर्णं तच्च बहुल्यमितिविचार्य लोभप्रयोजिता यस्य बुद्धिर्विषमत्वं न भजति समैव तिष्ठति स ते भावः । अत एव च कूटस्थः कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थः । कूटो हघनः । तत्रोष्णमनुष्णं च लोहं स्थापयित्वा लोहकारो लोहमुद्गरेण कुट्टति च स विशीर्दति यथा, तथैव यः परस्परहस्तैर्दुर्जनैः प्रत्यवायैश्च सन्तापितोपि

न स्वीयां स्थितिं जहाति स कूटस्थ इत्युच्यते । एवं भूतो योगी कर्मयोगी युक्त इत्युच्यते ॥८॥

समबुद्धेर्वैशिष्ट्यमुच्यते—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृच्छोभनं हृदयं यस्य सोसूयादिरहितः । मित्रं स्निग्धहृदयः । अरिर्द्वेष्टा हितविघातकश्च । उदासीनस्तटस्थः । मध्यस्थ उभयोरेव पक्षयोर्हितचिन्तकः । द्वेष्योप्रियः । बन्धुः सम्बन्धी । साधुरपापः । पापः पापप्रवृत्तिकः । एतेषु सर्वेषु समबुद्धिः समानभावो विशिष्यते विशिष्टो भवति सर्वोत्तमो भवति ॥९॥

समबुद्धित्वाप्तयेभ्युपायमाह—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

एकाक्येककः । यतचित्तात्मा यते चित्तमात्मा मनश्च यस्य सः । निराशीर्निरपेक्षो निस्तृष्णः । अपरिग्रहो निष्प्रयोजनवस्तुसंग्रहेच्छारहितः । योगी कर्मयोगी । रहसि स्थितो बहुसम्बन्धरहितः सन् सततं नैरन्तर्येणात्मानं युञ्जीत परोपकाररूपे कर्मणि समाहितं कुर्वीत ॥१०॥

अप्रासङ्गिकान् कतिपयानर्थान् पञ्चभिराह—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

शुचौ रागद्वेषादिप्रतिबोधप्रतिबन्धके देशे स्थाने चैलं वस्त्रं वाजिनं मृगचर्म व कुशा दर्भा दर्भासनं वोत्तरमुत्तमं नात्युच्छ्रितं नात्युच्चम्, नातिनीचम् । आत्मनः स्वस्य स्थिरमासनं प्रतिष्ठाप्य । तदासन उपविश्य । तत्रैकाग्रं निश्चलं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः सन्नात्मविशुद्धये योगं

कर्मयोगं युञ्ज्यात्प्रयुञ्जीत । इदमत्रोक्तम् । कर्मयोगिणः कर्मक्षेत्रेण पवित्रेण भाव्यम् । यस्मिन् क्षेत्रे कर्म कर्तुं निर्धारितं तत्रैव तस्य नियता स्थितिरपेक्षिता । शयनार्थं चैलं वा मृगचर्म वा दर्भा वा, उत्तमा शय्या । नात्युच्छ्रितं नातिनीचमिति देशकालयोरनुरोधेन । एवंस्थितिको योगी स्वकर्तव्ये कर्मणि व्याप्टतस्तिष्ठेत् ॥११।१२॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

कायः शरीरं शिरो ग्रीवा चेत्येतत्सर्वं समं समानस्थितिकमचलं निश्चलं च स्वयं स्थिरोचलः सन् धारयन् स्वं नासिकाग्रं सम्प्रेक्ष्य दिशश्चानवलोकयन् चक्षुषी निमील्येत्यर्थः । प्रशान्तात्मा प्रकृष्टेन शान्तमात्मा मनो यस्य । विगतभीर्विशेषेण गतं भीर्भयं यस्य । ब्रह्मचारिव्रतं ब्रह्मचारिणां व्रत उपस्थादिसंयमने स्थितो वर्तमानो मच्चित्तो मयि चित्तं यस्य तथाभूतः । मत्परोहमेव परं प्रधानं यस्य तथाभूतः सन् । मनः संयम्य युक्तः पूर्वोक्तलक्षण आसीत । कर्मयोगिणाष्टाङ्गयोगानुयायिनेव वर्तितव्यमित्याशयः । अतः सर्व एव विशेषणसमूहो निरर्थकः । युक्त इतिकथनेनैव सर्वमुक्तं भवति ॥१३।१४॥

तेन किं स्यात् ?

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

नियतमानसः संयतचित्तो योगी कर्मयोगी सदात्मानमेवं युञ्जन् स्वपरकल्याणसाधकेषु कर्मसु प्रयुञ्जानो मत्संस्थां मत्तुल्यां निर्वाणपरमामत्युत्कृष्टां शान्तिमधिगच्छति । यथाहं परोपकारपरायणो युद्धादस्मात्किमप्यनिच्छन्युद्धे प्रवर्तमानोपि शान्तमना अस्मि तथा सोपि कर्मयोग्यपि भविष्यतीति भगवदाशयः ॥१५॥

कर्मयोगोयं केन साध्य इत्याह—

नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

अत्यश्नतो मर्यादामतिक्रम्य भोजनं कुर्वतो बहुभोजिन इत्यर्थः । कर्मयोगो नास्ति । बहुभोजिन आलस्यप्रमादादिदोषग्रस्तत्वेन कर्मयोगे न स्याद्रतिर्विरतिश्च सुतरां स्यात्कर्मफलत्यागात् । एवमेकान्तमत्यन्तमनश्नतो भोजनमकुर्वतोपि योगो नास्ति । दुर्बलत्वात्क्षीणकायत्वाच्च न शक्नोति कर्मयोगं साधयितुम् । अतिस्वप्नशीलस्यातिजाग्रतोतिजागरणशीलस्य चापि, हे अर्जुन, कर्मयोगो नास्ति । नह्येतैश्चतुःप्रकारैर्मनुष्यैः कर्मयोगः कर्तुं शक्यः ॥१६॥

तर्हि केन स साध्य इत्याह—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तो योग्य नियतं वाहारो भोजनं विहारो विषयादिसेवन यस्य तथा कर्मसु युक्तचेष्टस्य युक्ता नियता संलग्ना चेष्टा वृत्तिर्यस्य तथा युक्तस्वप्नावबोधस्य युक्तो नियतं स्वप्नः शयनमवबोधो जागरणं च यस्य तस्यैवंभूतस्य पुरुषस्य सम्पादितो योगः कर्मयोगो दुःखहा सर्वेषां क्लेशानां निहन्ता भवति ॥१७॥

पूर्वोक्तो (६।८) युक्तः कदा सम्पद्यत इत्याह—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युज्यते तदा ॥१८॥

यदा विनियतं विशेषेण नियन्त्रितं चित्तमात्मन्येव स्वस्मिन्नेवावतिष्ठते न बहिर्गच्छति न वा बाह्यान् कामान् रागेण लोभेन वा स्वस्मै कामयते तेन हेतुना सर्वकामेभ्यो निःस्पृहः स्पृहारहितो भवति जीवस्तदा स युक्त इत्युच्यते । आत्मन्येवावतिष्ठत इत्यनेन मनसो वासनाराहित्यं

द्योतितम् । वासनारहितमेव चित्तं स्थिरं भवति नान्यत् । मनःस्थैर्येणवात्मनो निःस्पृहत्वं सिध्यति । आत्मा मन एव ॥१८॥

कर्मयोगिणश्चरमां स्थितिमुपमादानेन वर्णयति--

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

यथा निवातस्थो निर्वातप्रदेशे स्थितो दीपो नेङ्गते न कम्पते सैवोपमा योग कर्मयोगं युञ्जतः कुर्वतो यतचित्तस्य विजितमनसो योगिनः कर्मयोगिण आत्मनः स्मृता । कर्मयोगपरायणो जानाति स्वहिताय परहिताय चायं योग इति । तेन संस्थिरेण चेतसा सम्यग्विचार्यावधार्य च परिणामं परहितसाधनं करोति । चञ्चलमनसो योगिनो न भवति कर्मयोगः साधीयान्न च भवति ततोपेक्षितो लाभः कस्यापीति ॥१९॥

योगस्वरूपं विविनक्ति चतुर्भिः श्लोकैः--

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

यत्र यस्मिन्वस्तुनि काले वा योगसेवया कर्मयोगानुष्ठानेन चित्तमुपरमत उपरमति यत्र चात्मनात्मन्यात्मानं पश्यस्तुष्यति तं योगसंज्ञितं विद्यादिति दूरेणान्वयः । आत्मनात्मानमात्मनि पश्यन्नितिशब्दजालेन न किञ्चिद्विलक्षणं वस्त्वभिहितं भवति । अनिमिषनयनेन निरुद्धचेतसा हितमेव कर्माचरणीयमित्येवात्र तात्पर्यम् । न ह्यत्रात्मदर्शनस्य चर्चाचरणीया । युद्धस्यात्मदर्शनेन नास्ति कोपि सम्बन्धः ॥२०॥

अपरं च—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

यत्र चायं पुरुषोतीन्द्रियमिन्द्रियव्यापारानाराध्यं बुद्धिग्राह्यं केवलं धैर्येवानुभवनीयं च यत् तदात्यन्तिकं परमं सुखं सन्तोषं वेत्त्यनुभवति, यत्र

च स्थितो धृतव्रतस्तत्त्वतः सिद्धान्तान्न चलति न स्खलति तंयोगज्ञि संतं विद्यादित्यन्वयः । इन्द्रियजन्यसुखं मनुष्यं मानुष्याच्च्यावयति स्वगृहीतसिद्धान्ताच्च पातयति ततोतीन्द्रियमित्युक्तम् । इन्द्रियाण्यतीत्य यत्सुखं तस्यानुभवः कया रीत्या सम्पादनीय इत्याह—बुद्धिग्राह्यै बुद्धया मनसैव सम्पादनीयः । परोपकारादिसम्पादनेन न कश्चिदैन्द्रियक आनन्दोनभूयते केवलं मानसिक एवं । न च मनोपीन्द्रियमेव तत्कथं मनोग्राह्य 'भवेदिति चेत् । उच्यते । मनोविषये गीताचार्यस्य न हि किञ्चिन्नियतं मतम् । क्वचित्तस्येन्द्रित्वमुक्तं क्वचिन्न । तस्मिन्विषये सिद्धान्तनैयत्येन लाभोपि कश्चिन्न दृश्यते ॥२१॥

अपरं च—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

यं च लब्ध्वा प्राप्यापरं लाभं ततोधिकं न मन्यते, यस्मिंश्च स्थितो गुरुणापि महतापि दुःखेन विघ्नेन च कर्तृणा न विचाल्यते न शिथिलीक्रियते त योगसंज्ञितं परोपकाररूपकर्मयोगसज्ञितं विद्यादित्यन्वयः । न किमप्यत्र नूतनं वस्तु । केवल चर्वितचर्वणम् ॥२२॥

उपसंहरति—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥२३॥

परोपकाररूपे योगे दुःखस्य नासम्भवः । अत एव पूर्वमुक्तं न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यत इति । सुखस्यापि नासम्भवः । तदर्थमेव प्रयत्नः । एवं च दुःखेन दुखैः सह संयोगः सम्बन्धो वियोगोसम्बन्धश्च यस्मिंस्तं योगसंज्ञितं योग इति संज्ञा योगसंज्ञा । योगसंज्ञा संजातास्येति योगसंज्ञितः । तम् योगं कर्मयोगं विद्यायत्र दुःखेन सह संयोगोपि भवति वियोगोपि भवति । दुःखवियोग एव सुखम् । कर्मयोगो न हि नैयत्येन सुखमेव जनयति प्रत्यवायप्रत्यूहेन तदाचरणे दुःखमपि भवति । तथाप्यनिर्विण्णचेतसा दुःखेनानुद्विग्नमनसा निश्चयेन दार्ढ्येन स योगो योक्तव्यः सेवनीयः । यदि कर्म-

योगे सुखमेव स्यान्नियतं न दुःखं तर्हि व्यर्थमेव स्यादनिर्विण्णचेतसेतिवचनम् । निर्विण्णताया अवकाश एव न स्यात् ॥२३॥

कर्मयोगिभिः किं कर्तव्यमित्याह द्वाभ्याम्—

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

सर्वानशेषतो यथा न किञ्चिदप्यवशिष्येत् तथा सङ्कल्पप्रभवान्संकल्पादेव जायमानान्कामानभिलाषानिदं मे भूयादित्यादिरूपांस्त्यक्त्वा समन्ततः सर्वतः सर्वेभ्य एव विषयेभ्य इन्द्रियग्राममिन्द्रियाणि मनसैव विनियम्य निरुध्य धृतिगृहीतया धृत्या मनोवृत्तिविशेषरूपया धैर्येणेत्यर्थः । गृहीतयोपेतया बुद्ध्या शनैः शनैरुपरमेत्सांसारिकव्यवहारादित्यर्थः । सांसारिको व्यवहारो रागद्वेषादिप्रयोज्यः । तदनन्तरमात्मसंस्थमात्महिते संस्थमात्मकल्याणनिरतं मनः कृत्वा विधाय कल्याणकृतेरन्यत्किञ्चिदपि न चिन्तयेत् । एकाग्रमनसा स्वस्मै परस्मै च कृतानि कार्याणि सन्तोषावहाणि भवन्तीतिभावः ॥२४।२५॥

मनोनिग्रह एव कर्तव्यः कर्मयोगिभिरित्याह—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

मनोतीव चञ्चलम् । शब्दान्तरेण पुनराह—अस्थिरं न स्थिरं चञ्चलमेवेत्यर्थ । तन्मनो यतो यतो यस्माद्यस्मात्कर्मणो निश्चरति विरमति ततस्ततस्तस्मिन्नेव शुभावहे कर्मणि नियम्य निरुध्य संयोज्यात्मन्येव वशं नयेत् । आत्माधीनं कुर्यादितिभावः मनसः स्वातन्त्र्यं विनाशाय सिध्येत् ततस्तस्य पारवश्यमेव साधयेदित्यर्थः । मनो नियम्यात्मनो वशं नयेदित्युक्तम् । कर्ता कः ? आत्मैव । एवं तर्ह्यात्मा मनो नियम्यात्मनो वशं नयेदित्यर्थः । आम । एवं तर्ह्यात्मा मनो नियच्छेदित्येव वक्तव्यम् । न ह्यात्मनीत्यधिपदस्य प्रयोजनम् । मन एवात्मेतिपक्ष उद्धरेदात्मनात्मान-

र्मितिवन्मनसा मनो नियम्य मनसो वशं नयेदिति स्थापनीयम् । यदीदं शब्दजालं न रोचेत तर्हि मनसा स्थिरेण भाव्यमित्येवात्र परमार्थ इति ज्ञेयम् । चञ्चलस्य मनसः स्वभाव एवैष एकं परित्यज्यान्यत्र धावनम् । तदपि परित्यज्यान्यत्र धावनमिति । अतो यदि सर्वोपकारकमेकं प्रवृत्तं कर्मातिहायान्यत्र धावेत्तदा ततस्तस्मात्कर्मणश्च्यावयित्वा पुनरेव पूर्वप्रारब्धे कर्मण्येव नियोज्यमित्यप्याशयो वर्णनीयः ॥२६॥

मनसश्चाञ्चल्यनिरोधे किं फलमित्याह--

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

प्रशान्तमनसं प्रकर्षेण शान्तं मनो यस्य तम् । शान्तरजसं शान्तो रजोगुणो यस्मिंस्तम् । ब्रह्मभूतं ब्रह्मेवावस्थितमेनमकल्मषं निर्दोषं योगिनं कर्मयोगिनामुत्तममुत्कृष्टं सुखमुपैति प्राप्नोति । अत्र किञ्चिद्विचारणीयं विद्यते । तिरोहितगुणं ब्रह्मेति शास्त्राणामुद्घोषः । यत्र न सत्त्वगतिर्न रजोगतिर्न तमोगतिस्तद्ब्रह्मेतितात्पर्यम् । सत्त्वं सत्कार्याणि प्रवर्तयति । रजो मनश्चाञ्चल्यप्रेरककार्याणि प्रवर्तयति । रजो दुःखावहकार्याणि निर्वर्तयतीति । एवं च प्रशान्तमनस्त्वे रजसः शान्तिरेव हेतुः । परोपकारपरायणे जने न स्यात्तमउपद्रवः । केवलं रजस एव भयम् । रजउपद्रव एव मनश्चाञ्चल्यं साधयेत । अतः शान्तरजसमित्यनेन मनसः प्रशान्तत्वे रजःशान्तेर्हेतुतामवगमयति । शान्त एव रजोगुणे सत्त्वबाधा न भवेदित्याशयः । तमो न कर्मप्रवर्तकमितिमन्दवादः । सर्व एव गुणाः संभूयैव तिष्ठन्ति न भवति तेषां पार्थक्यम् । कस्यचिदाधिक्यं कस्यचिच्च न्यूनत्वमित्यन्यत् । गुणा न सन्ति द्रव्यविशेषाः । अन्तःकरणानीव तेपि जीवसहायकधर्मा एव । उत्तममध्यमाधमा हि तिस्रः श्रेणयो वस्तूनां मनुष्याणां च देवानामपि । उत्तमा श्रेणिः सत्त्वशब्दाभिलप्या । मध्यमा रजःशब्दाभिलप्या । अधमा च तमःशब्दाभिलप्या । केनचित्कारणेन सत्त्वस्यातिरेको द्वयोश्च दौर्बल्यम् । केनचित्कारणेन रजसोतिरेको द्वयोश्च दौर्बल्यम् । केनचित्कारणेन तमसोतिरेको द्वयोश्च

दौर्बल्यम् । सर्व एव गुणाः सर्वत्र तिष्ठन्ति । कालानुसारेण कस्यचिदतिरेको जायते । नास्ति कश्चिदेवं यः सर्वथा सात्त्विकः स्याद्राजसो वा तामसो वा । समय एव मनुष्यान्सात्त्विकादीन्करोति । क्रोधो न सर्वथा तामसः । मातुः पुत्रे क्रोधो न तामसः । शत्रोः शत्रौ क्रोधात्तामस एव । क्रोधोपि सात्त्विको भवत्येव । तत एव वेद उपदिष्टवान् 'मन्युरसि मन्युं मयि धेही' ति भगवन्तं प्रार्थयितुम् । करुणाप्रभवः क्रोधो न तामसः । स तु कदाचित्सात्त्विकः कदाचिच्च राजस इति विवेकः । ब्रह्मभूतमित्यरुन्तुदं पदं बहूनाम् । परं न भेतव्यं न भेतव्यम् । सर्वगुणविवर्जितं हि ब्रह्म भवति । जीवोपि यदा सर्वगुणविवर्जितो भवति भवति तदा ब्रह्मशब्दाभिलप्यः । ननु ब्रह्म न सर्वगुणविवर्जितं किन्तु हेयप्रत्यनीकगुणं हि तत् । उच्यते । हेयत्वं तत्प्रत्यनीकत्वं च किमपेक्ष्य निरूप्यते । हेयत्वमिति सापेक्षम् । यद्यहेयं स्यात्किञ्चित्तदा हेयमपि तिष्ठेत् । नास्ति किञ्चिन्नियतं हेयमहेयं वा । एकमेव वस्तु कदाचिद्धेयतां व्रजति कदाचिदहेयताम् । क्रोधो हेयो वाहेयो वा ? यदि हेयः कथं रामादिषु दृश्यते । यद्यहेयः क्व उपायः क्रोधं परित्याजयतां शास्त्राणां प्रकोपशान्तये । यदि ब्रह्मणि क्रोधो विद्यते तदा सोप्यहेयतामेव व्रजेत् । सर्वेषामेव गुणानां तस्मिन्स्थितानामहेयत्वात् । यदि न विद्यते क्रोधो ब्रह्मणि कथं तदा तत्प्रसादाय प्रयत्नपरिवारः ? ननु परिगण्यन्तां के गुणा हेयप्रत्यनीका इति । सत्यं दया शौचमार्जवं कारुण्यं वात्सल्यं सौशील्यमित्यादयः । बाढम् । कदैषां गुणानां ब्रह्मणि प्रतीतिर्भवति ? अस्ति कश्चन ब्रह्मणो भाषणप्रसङ्गो यत्रासत्यस्य स्थानं सत्यं गृह्णीयात् ? अस्ति क्वचिन्निर्दयताप्रदर्शनावसरो ब्रह्मणो यत्र तत्स्थानं दया च्छिन्द्यात् ? अस्ति ब्रह्मण्यशौचं यस्य स्थाने शौचपरिग्रहः स्यात् ? एवं च तत्कदार्जवं कदा वात्सल्यं प्रकटयेत् ? नास्त्येव कोप्यवसरः । यदि स पापेषु दुष्टेषु दयां कुर्यात्कुर्यादेव न्यायविसर्गम् । दयाकाल एव वात्सल्यसौशील्योः प्रतिपत्तिः स्यात् । दयैव तु तत्र नास्ति । तिष्ठति तत्र न्यायोः । दयान्याययोः पारस्परिको विरोधः । तर्हि न्याय एव गुणः । तेनैव गुणेन ब्रह्मणो हेयप्रत्यनीकगुणत्वं

सिध्यति । न सिध्यति । न्यायोपि न लौकिकरीत्या बोध्यः । तत्सन्नियोगेन तत्संकल्पेन वा सर्वेषां धर्माधर्माख्याणां कर्मणां स्वभावत एव फलं प्रवर्तते । धर्माय कृतं कर्म न दुःखाय प्रभवति । अधर्माय कृतं कर्म न शान्तये प्रभवति । चौर्येण चोरायापि मानसं दुःखं तु भवत्येव । तच्च स्वाभाविकम् । दुःखिसेवातः सेवाकर्त्रे प्रमोद एव भवति नाप्रमोदो नवाशान्तिः । नियतं सर्वस्य कर्मजातस्य कमकर्त्रे स्वयमेवोपतिष्ठते फलम् । तर्हि संकल्प एव गुणः । न । तस्याप्यनावश्यकत्वात् । सर्वमेव कर्म स्वतः फलमुत्पादयति । अध्ययनं विद्वत्तामुत्पादयति । सत्यं प्रतिष्ठां सम्पादयति । असत्यभाषणं मानुष्याच्च्यावयति । क्रोधः क्रोधं वर्धयति । प्रेमा प्रेमाभिनन्दति । औद्धत्यं सुजनतामपनयति । विनयो दुर्जनतां द्रवयति । नयननिमीलनं गच्छतः पातं कण्टकादिवेधं च सृजति । अविचारोऽविवेकश्च पश्चात्तापमुत्पादयति । एवं च सर्वमेव कर्म स्वतः फलं जनयति । नास्त्यवसरो ब्रह्मसंकल्पायेति । भवतु तर्हि जगत्सृष्टिरेव ब्रह्मणः कर्म । जगत्सर्जनमेव गुणः । आम । तत्र विचार्यतां जगत्सर्जनं हेयो गुणोऽहेयो वेति । यदि हेयं न तदा सिध्यति ब्रह्माहेयगुणकम् । यदि तद्धेयप्रत्यनीकगुणं कथं तर्हि मोक्षोपायप्रतिपादनम् ? अहेयगुणात्कथमुद्वेगः ? कथं च तस्मादुद्विज्य मोक्षावाप्तये प्रयत्नोपदेशः शास्त्राणाम् ? एवं च हेयप्रत्यनीकगुण इति शब्दोऽनौपयिको ब्रह्मणः स्वरूपनिरूपणे । अलमतिविस्तरेण ॥ २७ ॥

फलान्तरमप्याह—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

विगतकल्मषो द्वेषादिविवर्जितो योगी कर्मयोगी सदा निरन्तरमात्मानमेवं युञ्जन्कर्मयोगेणेतिशेषः । निरन्तरं कर्मयोगमनुतिष्ठन्निति भावः । ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मतुल्यमतिशयितं सुखं सुखेनानायासेनाश्नुते प्राप्नोति ॥२८॥

कर्मयोगिमाहात्म्यं प्रस्तौति—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

सर्वत्र समदर्शनः शत्रुषु मित्रेषु च ब्राह्मणादिष्वन्त्यजेषु च रागद्वेषादिरहितः समानं पश्यन् योगयुक्तात्मा योगेन कर्मयोगेण युक्तमात्मा मनो यस्य तथा सन्नात्मानं सर्वभूतस्थं सर्वेषु भूतेषु स्थितं सर्वभूतानि सर्वाणि च भूतान्यात्मनि स्वस्मिन्नीक्षते पश्यति । यावन्न स्यात्सर्वत्र समदर्शित्वं तावन्न सिध्येत्कर्मयोगस्तस्य । कर्मयोगी हि परोपकारप्रवणः । उपकारस्तु साधुतां तदैव गच्छति यदा शत्रुमित्रब्राह्मणचण्डालादिभावना नितरामन्तं गच्छेत् । प्रेमप्रेरितो ह्युपकारः प्रवर्तते । प्रेम च न बध्नाति सीमानम् । अतोतिसीममेवोपकारदलं श्रेयसे भवति । आत्मा सर्वेभ्यः एव प्रियो भवति । एवं च सर्वभूतेष्वात्मबुद्धिरात्मनि च सर्वभूतावस्थानबुद्धिः प्रेमसंवृद्धये भवति । न परेषामुपकारोपि तु स्वतः स्वस्मै वोपकरोमीतिसमदर्शनस्य हार्दिको भाव उत्पद्यते । तदैव च कर्मयोगः समुज्ज्वलो भवेत् ॥ २९ ॥

अमुमेवार्थं शब्दान्तरेणाह—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

यो मां परमात्मानं सर्वत्र पश्यति सर्वं च मयि पश्यति तस्य नाहं प्रणश्यामि सर्वदैव स मयि निरतस्तिष्ठति । स च मे मम न प्रणश्यति । सर्वदैवाहं तं स्मरामि रक्षामि चेति । अत्र विचार्यतेस्य श्लोकस्यात्र क उपयोग इति ? कं हि नवीनमर्थं चमत्कृतिपूर्णं ज्ञापयत्ययम् ? नास्त्येव कश्चिदुपयोगोस्य । न कश्चन नवीनोर्थः । न च काचन चमत्कृतिरत्र । कृष्णस्य स्वभाव एवात्मश्लाघां कर्तुम् । चिरेण स आसीन्मौनी । न स्वश्लाघां कृतवान् । इदानीं च स्मृतिरायाता । श्लाघारब्धा । किं च यदा कृष्णेनोक्तम् 'इमं विवस्वते योगम्…' (४।१) तदानीमविलम्बेनाहार्जुनः 'अपरं भवतो जन्म…' (४।४) अत्र कथं नार्जुनेन जिज्ञासितं कथं त्वयि सर्वस्य दर्शनं सर्वेषु च तव दर्शनमिति ? कस्त्वमिति चेति ? नास्यहमिव त्वमपि परिच्छिन्नो जीवविशेष इति ? अद्यावधि नास्ति ज्ञानमर्जुनस्य कृष्ण ईश्वरावतार इति । एकादशे विराड्दर्शनावसरे यथाकथञ्चिद्दिव्यदृष्टिसहयोगेन भविष्यति तथा ज्ञानं परन्तु नतरां भवति नितरां

ज्ञानमयमीश्वर इति । कथं न तद्यर्जुनेन जिज्ञासितं कस्त्वमिति ? 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' (४।१३) इत्यादिस्थलेपीदं जिज्ञासनीयमेव कस्त्वमिति । निराधारं निष्प्रयोजनं च प्रतिभाति वचनमिदम् । एकादशे स्वरूपदर्शनानन्तरं सा प्रदत्ता दिव्यदृष्टिरर्जुनात्पुनरपहृतैव । ततश्च यदर्थमर्जुनः पश्चात्ताप—'सखेति मत्वा' (११।४२) 'यच्चावहासार्थं' (११।४२) स एव भावः पुनर्जजागारार्जुनहृदये स एव कृष्णः स एव सखेति । एवं च कदाप्यर्जुनस्य ज्ञानं नाभूत्कृष्ण ईश्वर इति, परमात्मेति । तर्हि कथं न सकृदपि पृष्टमर्जुनेन कस्त्वमिति ? निरर्थकोयं श्लोक इति वयम् ॥३०॥

अप्रासङ्गिकमेवाह—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

यः सर्वभूतस्थितं मामेकत्वमनन्यत्वमास्थितो मन्वानः सन्भजति स योगी सर्वथा वर्तमानोपि यथा तथा यद्वा तद्वाचरन्नपि मयि वर्तते । मोक्षार्हो भवतीतितात्पर्यम् । उच्छृङ्खलोयं श्लोकः । सर्वथा वर्तमानोपीति नोचितोक्तिः । सर्वथेत्यस्य समाधिदशायां व्युत्थानदशायां चेत्यर्थकल्पनं तु न कथमपि विद्वन्मनोरमम् । हिंसन्नहिंसन्वा कमपि सत्यमसत्यं वा व्यहरन् स योगी कृष्णे वर्तत इत्येव कृष्णस्य तात्पर्यं चेदनुचितम् । निरर्थकोयं श्लोकः ॥ ३१ ॥

प्रसङ्गादाह—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

आत्मौपम्येन, उपमाया भाव औपम्यम् । आत्मन औपम्यमात्मौपम्यम् तेन । आत्मानमेवोपमां कृत्वा—'यदि कश्चिद्वैषम्यं मयि साधयति महदेव कष्टं तन्निर्माति, अहमपि कस्मिंश्चिद्वैषम्यं सृजानि चेत्तस्यापि तद्वदेव दुःखं भविष्यती' ति विदित्वा, अर्जुन, यः सर्वत्र ब्राह्मणेषु चण्डालेषु गोषु श्वसु हस्तिषु समं सुखं वा दुःखं वा पश्यति—येन मम सुखं

दुःखं वान्यस्यापि तेन सुखं दुःखमेवेति पश्यति-अधिगच्छति विचारयति स योगी कर्मयोगी परमः श्रेष्ठो मतः ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच—

योयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अर्जुनः पृष्टवान् । किम् ? हे मधुसूदन, त्वया सर्वत्र समावस्थानरूपो यो योगः कर्मयोगः प्रोक्तः, एतस्य स्थिरां स्थितिं नाहं पश्यामि । कुतः ? चञ्चलत्वात् । कस्य चञ्चलत्वात् ? मम, मम मनसो वा । मदीयं मन इदानीं चञ्चलं जातं तेन तवोक्तः साम्येन योगो मयि न स्थिरतामास इति । अर्जुनेन केवलं साम्ययोगविषयिण्येव वार्तात्रोपस्थापिता न तु 'यो मां पश्यति सर्वत्र' (६।३०) 'सर्वभूतस्थितं यो माम्' (६।३१) इत्यादिवचनविषयिणी । तत्रेदमेव कारणं तत्सर्वमप्रासङ्गिकमेवेति । न स्यात्कृष्णवचनं तदित्यपि संभाव्यते ॥३३॥

चञ्चलत्वात्साम्ययोगस्य स्थिरा स्थितिर्नेत्युक्तम् । तत्र विशेषमाह—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

हे कृष्ण, हीति निश्चये । मनश्चञ्चलं प्रमाथि प्रमथनशीलं बलवद्दृढम् । चञ्चलमस्थिरम् । स्थिर एव मनस्युपदेशोवतिष्ठते । स्वभावत एव मनोस्थिरम् । 'चञ्चलं हि मनः, इत्युक्त्या मनसः स्वभावत एव चाञ्चल्यं व्यज्यते । ननु यदि स्वभावत एव चञ्चलं मनस्तर्हि स्वभावो न निवर्तते । सर्वदैव तस्य चाञ्चल्यं वर्ततैव । एवं च न कदापि कस्यापि कोप्युपदेशस्तत्र स्थैर्यं बध्नीयात् । ततश्चोपदेशो व्यर्थ एवेति । उच्यते । स्वभावस्यापि प्रतिरोधो दृश्यते । निम्नप्रवाहि जलमुपर्यपि द्विभूमे त्रिभूमे चतुर्भूमे च प्रासादे प्रवहति । दहनस्वभावोपि वह्निरौषधादिभिः स्वव्यापारविरही सम्पद्यते । स्वभावादूर्ध्वगाम्यपि ज्वलन्ननलः पवनेनेतस्ततोधश्च संचार्यते । एवं स्वभावादपि चञ्चलं मनः प्रयत्नेन स्थिरीकर्तुं शक्यत इति वक्ष्यत्यनुपदम् ।

तन्मनो न केवलं चञ्चलं प्रमाथ्यपि । प्रमथ्नाति विवकमिति । न केवलं मथ्नाति प्रमथ्नाति प्रकर्षेण मथ्नाति । ततोपि न सन्तोषः । अतो दृढं प्रमाथीति । यतो हि तद्बलवत्ततः शास्त्रोपदेशादीनां बलं तदग्रे तुच्छम् । ततोहं वायोर्निग्रहमिव तस्य निग्रहं दुष्करं मन्ये । ननु न समीचीनो दृष्टान्तः ? वायोर्निग्रहस्तु दृश्यते कन्दुकादौ क्रीडापुत्तलिकादौ च । नासमीचीनो दृष्टान्तः । प्रयत्नेन विना वायोर्निग्रहस्य दुष्करत्वोक्तिः किं च कन्दुकादौ न हि यावद्वायुर्निगृहीतो भवति । निगृहीतोपि तस्मिन्वायौ बहिरस्त्येव महद्वायुमण्डलम् । दुष्करत्वमेवाह नासम्भवत्वम् । 'तस्याहं निग्रहं मन्ये' इत्यनेन ज्ञायते मनसि निगृहीते भवत्युपदेश स्थिर इति ज्ञानमर्जुनस्यासीदिति । कृष्णमुखादुत्तरं श्रोतुमेवैतद्वचनमर्जुनस्य । कर्मयोगी हि अर्जुनो भवितुमिच्छति । साधनेन विना कर्मयोगो न सिध्येदिति विश्वासः समजनि तस्य हृदये । ततस्तन्निग्रहोपायमवगन्तुमयं वचनविन्यासः । तर्हि किं नाद्यावधि ज्ञानमासीदर्जुनस्य मनोनिग्रहः कथं कर्त्तव्य इति ? नासीदित्यत्र किमाश्चर्यम् ? न हि सर्वः सर्वं जानाति । जानानोपि वा मनसश्चञ्चलत्वाद्विस्मृतिवान् स्यात् । अथवा मम मन इदानीं तथा चञ्चलं जातं येन तस्य निग्रहः सुदुष्करः प्रतीयते । न हि तवोपदेशो मम मनसि स्थानं लभत इतिभाव ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

हे महाबाहो कौन्तेय, असंशयं नास्त्यत्र सन्देहो मनो दुर्निग्रहं दुःखेन निग्रहीतुं शक्यम् । तथा चलं चञ्चलम् । अर्जुनोक्तिमनूद्य रोगस्यौषधमुपदिशति । अभ्यासेन वैराग्येण च तद्गृह्यते निगृह्यत इति तात्पर्यम् । निग्रहीतुमभ्यासः कर्तव्यः । मनः कुत्रापि गच्छेत् , ततो निवारणं तत्कालमेव कर्तव्यम्, ध्येये चिन्त्ये च विषये नेयम् । श्रेयस्करं वस्तु परित्यज्यान्यत्र मनो धावेच्चेत् पुनस्तस्मिन्नेव विषये बलात्स्थापनीयम् । पुनर्गच्छेच्चेत्पुनर्निग्रहणीयम् । अयमेवाभ्यासः । धैर्यं च सम्पादनीयम् । विषयलौल्यं हि

मनश्चाञ्चल्यहेतुः। इदं गृहीतमिदं ग्रहीतव्यमिदं प्राप्तव्यमिदं प्राप्तमिति बहुविधः संकल्पप्रवाहः। वैराग्येण विना नासौ प्रवाहो विरोधनीयः। वैराग्यवान्न क्वचिदनावश्यके कार्ये मनो गमयति। स त्वात्मौपम्येन सर्वेषां दुःखं शमयितुं सुखं च प्रवर्तयितुं सर्वथा सप्रयत्नस्तिष्ठति। निर्वैराग्यश्च पुरुषो बहुकामो भूत्वा क्वचिदपि शान्तिमलभमानो दुःखायैव केवलं भवति। एवं च यदि मत्कृतः साम्ययोगोपदेशो न ते मनसि स्थैर्यमलभत पौनःपुन्येन तस्यैव स्मरणं कर्तव्यम्। यदि तद्व्यपगतं भवेत्पुनरपि बलादाकृष्य तत्रैव स्थाप्यं मन इति भगवदाशयः ॥३५॥

अस्मिन्विषये स्पष्टतया स्वमतिमाह—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

असंयतात्मनानिर्जितमनसा योगः कर्मयोगो दुष्प्रापो दुःखेन प्राप्तुं शक्य इति मे मम मतिरभिप्रायः। वश्यात्मना वश्यं स्वाधीनं मनो यस्य तेन तु यतता प्रयतमानेनोपायेनोवाप्तुं शक्यः। ननु यत्न एवोपायः कथं पुनरुपायत इत्युच्यते? उपायः कर्तव्य इति स्पष्ट प्रतिपादनायैव पुनरुपायत इति ग्रहणमित्यवेहि। वस्तुतस्तु नोपायप्रयत्नयोरैक्यम्। यत्किञ्चित्कार्योत्पादे समर्थ उपाय इत्युच्यते। साक्षात्परम्परया वेत्यन्यत्। सामदानदण्डभेदाश्चत्वार उपायत्वेन व्यवह्रियन्ते। ज्वराद्यपनयने औषधादीनामुपयोग उपायत्वेन प्रसिद्धः। प्रयत्नस्तु मनोग्राह्यो गुणविशेषः। अहं यते स यतते इत्यादि व्यवहारासाधारणं कारणं वा प्रयत्नः। प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति प्रशस्तपादभाष्ये। प्रयत्नस्तु फलावाप्त्यै व्यापारोतित्वरान्वितः॥ इति विश्वनाथः साहित्यदर्पणे। उपायः प्रयत्नेनानुष्ठेय इति लौकिकप्रयोगादप्युभयोर्भेदोवसेयः ॥३६॥

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

योगेन सिद्धिमाप्नोति मानव इति कृष्णोक्तिं स्मृत्वार्जुनः पृच्छति— अयतिरसंयतात्मा श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसो योगसंसिद्धिमप्राप्य हे कृष्ण

कां गतिं गच्छतीति । अयमाशयः । अस्त्येको जनः । कर्मयोगे श्रद्धावान् । परन्तु न तस्य मनः संयतम् । तेन कर्मयोगे न रमते तस्य मनः । एवं च योगसंसिद्धिरपि तस्य दूरं गता । तत्र प्रश्नस्तस्य, कां गतिं स गच्छतीति । प्रश्नस्यास्य वैयर्थ्यं तु स्पष्टमेव । श्रद्धावान् कथमपि योगाच्चलितमानसो न स्यात् । श्रद्धैव योगे प्रयोजिका । कारणे सति कार्यस्योत्पत्तिरवश्यंभाविनी । अयतौ श्रद्धा कर्मयोगे नैवोत्पद्येत । श्रद्धा मानसी वृत्तिरेव । फलावश्यंभावनिश्चयो हि श्रद्धा । किं च कर्मयोग एवेह प्रस्तुतो नत्वष्टाङ्गयोगः । यदि कर्मयोगसंसिद्धिर्न प्राप्येत तर्हि कुत्सिते कर्मणि प्रवृत्तिर्दुर्निवारा । तत्फलं तु सर्वप्रत्यक्षम् । यदि न स्याद्दुष्कर्मप्रवृत्तिर्नास्त्येव कापि चिन्ता योगाच्चलितमानसस्य । सत्कर्म तु सम्पादितमेव । दुष्कर्मणि प्रवृत्तिर्नास्त्येव । ततो नास्ति चिन्तावसरः । ततश्च प्रश्नोसङ्गत एव ॥३७॥

अपरं च प्रश्नमवतारयति—

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

कच्चिदिति प्रश्नार्थकमव्ययपदम् । कर्मयोगी गच्छति च स्वार्थाय गच्छति च परार्थाय । स्वार्थो लोकयात्रा । परार्थः परोपकारादिः । तत्र पृच्छति हे महाबाहो कृष्ण ब्रह्मणः परमात्मनः पथि मार्गेप्रतिष्ठोकृतस्थितिक उभयविभ्रष्टः स्वार्थपरार्थाद्विरक्तः पश्चाच्च विमूढः किंकर्तव्यविमूढः कर्मयोगी छिन्नाभ्रमिव कच्चिन्न नश्यति ? अनवच्छिन्नमभ्रं तु जलवर्षणेनैव नश्यति । स च तन्नाशः लोकश्रेयसे । छिन्नमभ्रं तु जलवर्षणमन्तरेणैव विनाशं गच्छति । न कस्मा अपि लाभं प्रयच्छति । तद्वत्तु स न नश्यतीतिप्रश्नः ॥३८॥

उपसंहरति—

एतन्मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण एतं मे मम संशयं त्वमशेषतः साकल्येन च्छेत्तुं निरसितुं

मर्हसि । यतस्त्वदन्यस्त्वत्तोऽतिरिक्तोऽस्य संशयस्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते । अन्यस्मिन्नस्य संशयस्य निवारणाय योग्यतैव नास्तीति ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

हे पार्थ, तस्य कर्मयोगाद् विभ्रष्टस्य विरक्तस्य विनाशो नैवेह भवे विद्यते नामुत्र न च परलोके । कुतः ? हि यतः । कल्याणकृत्स्वकल्याणे परकल्याणे च निरतः कश्चित् हे तात दुर्गतिं दुष्टां गतिं न गच्छति । ननु कीदृशो विनाशोऽभिप्रेतोऽत्र ? अविनाश्येवात्मेति मतं चेत्कथं विनाशप्रसङ्गावतारः ? उच्यते । विनाशो दुर्गतिप्राप्तिः । तस्य विनाशो न विद्यत इत्युक्त्वा कल्याणकृतो दुर्गतिर्न भवतीत्युपसंहारवचनाद्दुर्गत्यपरपर्याय एव विनाशशब्दः । तातेत्याश्वासनसमर्पकः शब्दः ॥४०॥

दुर्गतिं न गच्छतीतिसत्यम्, किन्तु तस्य किं भवतीत्याह—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

पुण्यकृतां लोकान्निवासप्रदेशान्प्राप्य तत्र शाश्वतीः समा बहूनि वर्षाण्युषित्वा निवासं कृत्वा शुचीनां शुचिहृदयानां श्रीमतां प्रतिभावतां गेहे स योगभ्रष्टः कर्मयोगविरक्तोऽभिजायते प्रकृष्टजन्मा भवति । ननु शाश्वच्छब्द आनन्त्यवाचकः कथं तर्हि बहूनि वर्षाणीति व्याख्यायते ? सत्यं व्याख्यातम् । यद्यनन्तकालं तत्र निवासः स्याच्छ्रीमतां गेहे पुनरागतेरवकाश एव न स्यात् । किं च शाश्वतनिवासो मोक्ष एव भवति नान्यत्र । ननु पूर्वमुक्तम्—'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयादि'ति ॥ (२।४०) ततश्च स्वल्पोपि कर्मयोगो मोक्षायैव प्रभवति कथं योगभ्रष्टगतेर्विचारश्चारुतामाचिनुयात् ? नात्र काचन चारुता । अर्जुनेन किञ्चित्प्रष्टव्यं कृष्णेन समाधातव्यमर्जुनेन च तच्छ्रोतव्यमित्येव गीताक्रमः ।

क्वचिज्ज्ञानप्रशंसा क्वचित्कर्मप्रशंसा क्वचिद्भक्तिप्रशंसा । क्वचिज्ज्ञानान्मुक्तिः क्वचित्कर्मणो मुक्तिः क्वचिच्च भक्तेर्मुक्तिः । कृष्णेन सर्वाण्येव द्वाराणि विवृतानि । अथवा पूर्वत एव विवृतानि कृष्णेन पुनर्घोषितानि । आकूतस्त्वयम् । परहितनिरतस्य शुद्धमनसो न पुनर्जन्मेति । नेहाष्टाङ्गयोगमाहात्म्यं ग्रहीतव्यम् । अप्रस्तुतत्वात्तस्य । ननु पुनर्जन्मापि दुर्गतिरेव । अतस्तन्निवारयितु ज्ञानमार्गनिषेवणमीश्वरप्रपदनं वा प्रत्यपीपदन्नाचार्याः । कथं तर्हि दुर्गतिं न गच्छतीत्युक्तं भगवता ? बाढमुक्तम् । प्रत्युच्चारणं शब्दा भिद्यन्ते । प्रत्युच्चारणं शब्दानामर्था भिद्यन्ते । भगवदुच्चारितस्य दुर्गतिशब्दस्य मानवलोकसुलभदुःखमित्यर्थः । भवदुच्चारितस्य च दुर्गतिशब्दस्य पुनर्जन्मेत्यर्थः । अन्यद्विचार्य भगवता तथा शब्दितमन्यच्च विचार्य भवता तथोच्यते । न कश्चन महान्प्रत्यवाय उपतिष्ठत इति । ननु श्रीमतामित्यस्य प्रतिभावतामित्यर्थस्तु न सुपरीतो विपरीत एव, श्रीशब्दस्य लक्ष्मीवाचकत्वात् । सत्यम् । तथापि न मयोक्तोर्थो विपरीतः । स एव सुपरीतः । कर्मयोगस्य फलं कुत्रापि भगवता श्रीसम्पत्तिरिति न प्रतिपादितम् । कथं तर्हि मृतोऽनन्तस्य कर्मयोगभ्रष्टस्य लक्ष्मीसंप्राप्तिः प्रतिपाद्यताम् ? न चान्ये भाष्यकारास्तथैव व्याचख्युरिति मयापि तथैव व्याख्येयमितिवाच्यम् । व्याचक्षतां ते यथातथा । नायं नियमः सर्वैर्यथा व्याख्यातमन्यैरपि तथैव व्याख्येयमिति । बह्वर्थाः सन्ति शब्दाः । यस्मै योर्थो रोचते स एव तेन प्रकाशयितव्यः । तथ्यातथ्यं तु विद्वद्वर्यैर्निर्णेयं सत्यैकपक्षपातिभिः । ननु श्रीमतामित्यस्य न प्रतिभावतामित्यर्थ उचितः । धीमतामित्यस्यानुपदमेव वक्ष्यमाणत्वात् । बाढं वक्ष्यति । धीमतामिति वक्ष्यति न तु प्रतिभावतामिति । धीप्रतिभयोर्महदन्तरम् । धियो यो नः प्रचोदयादितिश्रुत्या धियः प्रचोदनं भवति न प्रतिभायाः । प्रतिभाशब्दवाच्याया मेधाया उपासनं सर्वैर्देवैः पितृभिश्च क्रियते न नाम धियः । नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभेत्युच्यते । सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं धीर्भवति । अतः सुष्ठूक्तं श्रीमताम्प्रतिभावतामिति ॥४१॥

विकल्पमाह—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा धीमतां बुद्धिमतां कर्मयोगबुद्धिमतामितितात्पर्यम् । योगिनामेव कर्मयोगिनामेव कुले कर्मयोगभ्रष्टस्य जन्म भवति । यदीदृशं प्रतिभावद्गेहे धीमद्योगिगेहे त्राह्लादनीयं कमनीयं वा जन्म, तदेतल्लोके दुर्लभतरम् । दौर्लभ्यप्रकाशनेन कर्मयोगे रुचिमुद्भावयति भगवानर्जुने । अत्र योगिनामित्यस्य दरिद्राणां योगिनामिति व्याख्यातारो भ्रान्ता एव ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

तत्र शुचीनां श्रीमतां गेहे वा धीमतां योगिनां गेहे वाभिजातः स कर्मयोगभ्रष्टः पौर्वदेहिकं पूर्वदेहे भवं बुद्धिसंयोगं लभते । योसौ बुद्धिसंयोगः कर्मयोगबुद्धिसंयोगः पूर्वस्मिन्देहे आसीत्तमेव तत्रापि स लभत इतिभावः । ततस्तेन बुद्धिसंयोगेन हेतुना भूयोपि पुनरपि हे कुरुनन्दन स संसिद्धौ यतते कर्मयोगे पूर्णतालाभाय प्रयत्नवान् भवति ॥४३॥

तादृशः कर्मयोगी श्रुतिविहितयज्ञाद्यनुष्ठातुः कामणापेक्षयाधिक इत्याह—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

पूर्वस्मिन्देहे यः कर्मयोगाभ्यासः सम्पादितस्तेनैव स हि अवशोपि बलादपि ह्रियत आकृष्यते । ननु कथमवश इत्युच्यते ? धीमतां योगिनामेव कुले जन्म । तत्र नास्ति कश्चन प्रतिबन्धकः कर्मयोगानुष्ठाने येनान्यत्र हृतः स बलात्कर्मयोगे हृतो भवेदिति ? सत्यम् । नात्र बलात्कारः प्रतीयते । पूर्वाभ्यासेनैव सोवशः सन् ह्रियत इति तात्पर्यम् । पूर्वाभ्यासस्तं कर्मयोगमेव नयति नान्यत्रेतिभावः । एवं चापीति निरर्थकं ज्ञेयम् । कर्मयोगस्य माहात्म्यमभ्यस्यति—योगस्य कर्मयोगस्य जिज्ञासुरपि कर्मयोगाभ्यासं कर्तुमिच्छुरपि शब्दब्रह्म वेदम् । लक्षणयात्र वेदबोधितयागादि कर्म । तदतिवर्तते तदतिक्रम्य तिष्ठति । न हि कर्मयोगस्य नवाधिकार्यपि

श्रौते यागादौ श्रद्धां करोतीत्यर्थः । तन्नैष्फल्यं ज्ञात्वैव परोपकाररूपे योगे तस्य प्रवृत्तिः । अतो नैव तस्मिन्नत्र श्रद्दधातीत्यर्थः ॥४४॥

कर्मयोगिणः परां गतिमाह—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

प्रयत्नादुत्साहाद्यतमानो योगी कर्मयोगी संशुद्धकिल्बिषो निरस्तपापः सन्ननेकजन्मसंसिद्धोनेकेषां कर्मणां जन्मभिरारम्भैः संसिद्धो भूत्वा ततस्तस्मादेव देहात्परं परां गतिं याति प्राप्नोति । ननु यतमानशब्देनैव प्रयत्नोपि प्रतीयत एव कथं तर्हि प्रयत्नयतमानयोरुपन्यासः ? उच्यते । यतमान इत्यस्य कर्मयोगं सेवमान इत्यर्थः । औचित्यात् । संसिद्ध इत्यस्यैव फलितार्थो विशुद्धकिल्बिष इति । ततश्च परां गतिमश्नुते । अत्र क्रमः प्रतिपादितः । पूर्वं प्रयत्नपूर्वकं सामान्येन कर्मयोगनिषेवणम् । ततः शनैः शनैरनेकेषां परोपकृतिसमर्थानां कर्मणां जन्म । ततश्च कर्मयोगी सम्यक् सिद्धो भवति । रागद्वेषक्रोधादिनिवृत्तिरेव संसिद्धिरिति भावः ॥४५॥

कर्मयोगिणां प्राकर्ष्यमाह—

तपस्विभ्योधिको योगी ज्ञानिभ्योपि मतोधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

तपस्विभ्योधिको योगी भवति । शमदमादिसाधननिरतास्तपस्विशब्देनोच्यन्ते । तेभ्यो योगी श्रेष्ठो भवति । ज्ञानिभ्योपि सर्वशास्त्रनिपुणेभ्योपि कर्मयोगी श्रेष्ठः । कर्मिभ्यः श्रौतयागाद्यनुष्ठानपरायणेभ्योपि कर्मयोग्यधिकः श्रेष्ठः । कर्मयोगी तपस्विभ्योधिको भवति ज्ञानिभ्योधिकतरो भवति कर्मिभ्यश्चाधिकतमो भवति । तस्मादर्जुन, योगी कर्मयोगी भव । न ह्यत्राष्टाङ्गयोगेर्जुनं प्रेरयितुं प्रयत्नवान् भगवान् । केवलं कर्मयोग एव तं नियुयोजयिषुरिति ॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

इतिश्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासु कर्मयोगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे षष्ठोऽध्यायः

सर्वेषामपि योगिनां मध्ये स मे मत युक्ततमोऽतिशयेन युक्तो मतः । युक्तस्तु 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा' (६।८) 'प्रशान्तात्मा विगतभीः' (६।१४) 'यदा विनियतं चित्तम्'(६।१८)इत्यादिषु भगवद्वचनेष्वनुसन्धेयः । कस्तत्र युक्ततमो मत इति चेच्छृणु । मद्गतेन मयि गतेन स्थितेनान्तरात्मना मनसानन्यभावेनेत्यर्थः । श्रद्धावान् कृष्णो वदति तदेव श्रेयस्करमिति निश्चिन्वानो यो मां वसुदेवापत्यं भजतेऽनुसेवतेऽनुसरतीति वाश्रयतीति वेति । अस्मिन्नध्याये मया यया रीत्या कर्मयोगः प्रतिपादितस्तामेव रीतिं योऽनुसरति स मां भजतीत्युक्तं भवति । भज सेवायाम् । भजनं सेवनम् । भगवदाज्ञापालनमेव भजनम् । पुष्पाद्यर्पणं न हि भवति भगवतः सेवा । न हि निष्कामस्य परिपूर्णस्य परमात्मनः पुष्पादिभिः प्रयोजनम् । न ह्यस्विन्नस्य स्नानेन प्रयोजनम् । नाबुभुक्षोर्भोजनेन प्रयोजनम् न वा द्रव्येण न वा वस्त्रेण न वा भवनेन । अतस्तदाज्ञानुष्ठानमेव परमा भक्तिर्वेदितव्या । यो ममाज्ञां पालयति पालयिष्यति परहितसम्पादनरूपां स मे न केवलं युक्तः, अपितु युक्ततमो मतो भविष्यतीति भगवदाशयः ॥४७॥

पावितया दृशा श्रीमद्गुरोश्चरणरेणुभिः ।
दृष्टं रहस्यमस्माभिरस्मिन् षट्के निरूपितम् ॥१॥
प्रसीदतु हरिस्तेन समवायश्च सद्धियाम् ।
अपरे चेद्विषीदन्तु न क्षोभो न क्षतिर्न भीः ॥२॥

समुत्सार्यैव मनसो भयं निरयकारणम् ।
यः सत्यमनुसन्धत्ते स कृतार्थो भवेद्भुवि ॥

इति श्रीमहाभारते श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीमत्परमहंस-परिव्राजक-पण्डितराज स्वामिश्रीभगवदाचार्यप्रणीते भगवद्भाष्ये षष्ठोऽध्यायः ।

